जय गुरुदेव

"प्राचीन भारतीय राजतंत्र का वैदिक आधार"

महर्षि महेश योगी वैदिक विश्वविद्यालय की

विद्यावारिधि (पी-एच.डी.)

उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध - प्रबन्ध



दिसम्बर १९९९

निर्देशक
डॉ. आर. के. शर्मा
भूतपूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष,
प्राचीन भारतीय इतिहास
संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग,
रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय
जबलपुर (म.प्र.)

अनुसंधात्री
कु. शालिनी दुबे
महर्षि महेश योगी
वैदिक विश्वविद्यालय
परिसर जबलपुर

" जय गुरुदेव "

"प्राचीन भारतीय राजतंत्र का वैदिक आधार"

महर्षि महेश योगी वैदिक विश्वविद्यालय की

विद्यावारिधि (पी-एच.डी.)

उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध - प्रबन्ध





दिसम्बर १९९९

अनुसंधात्री
कु. शालिनी दुबे
महर्षि महेश योगी
वैदिक विश्वविद्यालय
परिसर- जबलपुर

" जय गुरुदेव "

"प्राचीन भारतीय राजतंत्र का वैदिक आधार"

महर्षि महेश योगी वैदिक विश्वविद्यालय की

विद्यावारिधि (पी-एच.डी.)

उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध - प्रबन्ध



दिसम्बर १९९९

निर्देशक
डॉ. आर. के. शर्मा
भूतपूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष,
प्राचीन भारतीय इतिहास,
संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग,
रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय
जबलपुर (म.प्र.)

अनुसंधात्री
कु. शालिनी दुबे
महर्षि महेश योगी
वैदिक विश्वविद्यालय
परिसर - जबलपुर

शोध निर्देशक का प्रमाण पत्र

मैं प्रमाणित करता हूँ कि कु. शालिनी दुबे (शोधछात्रा, महर्षि महेश योगी वैदिक विश्वविद्यालय, परिसर जबलपुर) ने अपने शोध - प्रबंध ''प्राचीन भारतीय राजतंत्र का वैदिक आधार'' को मेरे निर्देशन में लिखा है। इस शोध- प्रबंध में तथ्यों अथवा सिद्धांतो का पर्यालोचन नई दृष्टि से किया गया है। शोधार्थी ने महर्षि महेश योगी वैदिक विश्वविद्यालय द्वारा निर्धारित समय की न्यूनतम अवधि एवं उपस्थिति को पूर्ण किया है।

अतः शोध प्रबंध सहृदय सुधीजनों के समक्ष परीक्षण हेतु प्रस्तुत किया जा रहा है।

R. K. Sharma

स्थानः जबलपुर

दिनाँक : 30/12/1999

(डा.) आर. के. शर्मा
आम्रपाली डयूप्लेक्स
1591- नेपियर टाउन
जबलपुर

शोध निर्देशक का प्रमाण पत्र

मैं प्रमाणित करता हूँ कि कु. शालिनी दुबे (शोधछात्रा, महर्षि महेश योगी वैदिक विश्वविद्यालय, परिसर जबलपुर) ने अपने शोध - प्रबंध ''प्राचीन भारतीय राजतंत्र का वैदिक आधार'' को मेरे निर्देशन में लिखा है। इस शोध- प्रबंध में तथ्यों अथवा सिद्धांतो का पर्यालोचन नई दृष्टि से किया गया है। शोधार्थी ने महर्षि महेश योगी वैदिक विश्वविद्यालय द्वारा निर्धारित समय की न्यूनतम अवधि एवं उपस्थिति को पूर्ण किया है।

अतः शोध प्रबंध सहृदय सुधीजनों के समक्ष परीक्षण हेतु प्रस्तुत किया जा रहा है।

R. K. Sharma

स्थानः जबलपुर

दिनाँक : 30/12/1999

(डा.) आर. के. शर्मा
आम्रपाली डयूप्लेक्स
1591- नेपियर टाउन
जबलपुर

घोषणा पत्र

मेरे द्वारा यह घोषित किया जाता है कि प्रस्तुत शोध प्रबंध ''प्राचीन भारतीय राजतंत्र का वैदिक आधार'' मैनें अपने शोध निर्देशक के सानिध्य एवं मार्गदर्शन में संपूर्ण किया है। यह मेरे निर्देशक के परामर्श से लिखित मेरी मौलिक कृति है। मेरी जानकारी के अनुसार उपर्युक्त शीर्षक पर पूर्व में मेरे द्वारा अथवा अन्य किसी के द्वारा, किसी भी विश्वविद्यालय अथवा शोध संस्थान में किसी उपाधि हेतु यह प्रस्तुत नहीं किया गया है।

प्रस्तुतकर्त्री

स्थान : जबलपुर

दिनाँक : ३०/१२/१९९९

कु. शालिनी दुबे

प्रस्तावना

भारत में राजतंत्र ही व्यवस्थित शासन का प्राचीनतम रुप था, यह बात ऋग्वेद के अध्ययन से स्पष्ट हो जाती है, क्योंकि उसमें राजतंत्र को ही प्रचलित एवं साधारण शासन व्यवस्था माना गया है। उत्तर वैदिक काल में इस व्यवस्था का और विकसित रुप देखा जा सकता है। वैदिकोत्तर काल से प्रारंभ कर पूर्व-मुस्लिम काल (१३ वीं शताब्दी ई.) के मध्य प्राचीन भारत में राजतंत्र के विभिन्न पक्षों का विकास हुआ और बहुआयामी होकर इस व्यवस्था ने विस्तृत रुप धारण कर लिया।इसके विकास के विभिन्न चरण महाकाव्य युग, महाजनपद युग, मौर्य, शुंग, सातवाहन, कुषाण, गुप्त हर्ष तथा पूर्व मध्यकालीन युग में देखा जा सकता है। परंतु इस विकसित राजतंत्र का मूल आधार वैदिक विचारधारा ही थी वैदिक साहित्य में राजतंत्र सबंधित जिन विचारों के सूक्ष्म रुप से दर्शन होते हैं, उन्ही के प्रस्फुटित रुप आगामी युगों में दिखलाई पड़ते है। प्राचीन भारतीय राजतंत्र के मूल प्रेरणा स्रोत किस प्रकार वैदिक विचार धारा ही रही है, और किस प्रकार वैदिक कालीन राजनीतिक विचारधाराओं ने सम्पूर्ण प्राचीन भाारतीय राजतंत्र को प्रभावित किया इसका विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना इस शोध प्रबंध का उद्देश्य है।

अनेक पाश्चात्य लेखकों ने प्राचीन भारतीय राजशास्त्र और राजतंत्र की,कई आधारों पर आलोचना की है और साम्राज्यवादी विचारधाारा से प्रभाावित होकर उन्होंने भारत में केवल निरंकुश राजतंत्र और स्वेच्छाचारी शासन व्यवस्था होने का आरोप लगाया है। उन्होंने भरसक यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि हिन्दुओं ने राजशास्त्र के लिये कोई विशिष्ट योगदान नहीं दिया। इन विद्वानों का सम्पूर्ण अध्ययन एक पक्षीय था अतः उनके आलोचनाओं का उत्तर ~~दिया~~ कई भारतीय तथा विदेशी विद्वानों द्वारा दिया गया।राजशास्त्र से संबंधित सम्पूर्ण वाङ्मय का अध्ययन कर उन्होंने एक संकलित मत प्रस्तुत किया अल्पावधि शोध कार्यो के परिपेक्ष्य में भारतीय राजशास्त्र में राजतंत्र का क्या महत्व है और किस प्रकार इस राजतंत्र का मूल आधार वैदिक कालीन राजनीतिक विचारधाराऐं थी, इसका संतुलित अध्ययन प्रस्तुत करना इस शोध का लक्ष्य है।

इस शोध कार्य को नौं अध्यायों में पूरा किया गया है। प्रथम अध्याय में प्राचीन भारतीय राजतंत्र के स्वरुप, उसकी कठिनाईयाँ और उनके उत्तर दिये गये हैं साथ ही अध्यावधि शोध का सर्वेक्षण है। द्वितीय अध्याय अध्ययन के स्त्रोतों का परीक्षण करता है। जिसमें वैदिक साहित्य, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, पुराण, नीतिशास्त्र, तथा अन्य साहित्य सम्मिलत किये गये हैं। पुरातात्विक साक्ष्य, जिसके अन्तर्गत शिलालेख ताम्रपत्र और मुद्राशास्त्र आते हैं, अध्ययन का दूसरा स्त्रोत है। राजतंत्र की उत्पत्ति महत्व और श्रेणियाँ तीसरे अध्याय का विषय हैं। राजतंत्र की उत्पत्ति विषयक विभिन्न, सिद्धांतो की विवेचना इस अध्याय का महत्वपूर्ण अंग है। विभिन्न प्रकार के राजतंत्रो का परीक्षण भी इसी अध्याय के अन्तर्गत किया गया है। चौथे अध्याय का लक्ष्य राजा की शिक्षा, गुण, योग्यता, निवास, रक्षा आदि की विवेचना करना है। पांचवा अध्याय युवराज अथवा उत्तराधिकारी की नियुक्ति से सबंधित समस्याओं को समर्पित है। राज्याभिषेक और विभिन्न यज्ञों का सम्पादन छठवें अध्याय में वर्णित है। सातवां अध्याय राजा की शक्तियां और उसके कर्तव्यों का विवरण प्रस्तुत करता है। राजा की प्रभुता के विभिन्न सिद्धांत, और उसकी शक्तियों पर सिद्धांत, राजा में प्रभुता का समावेश और उसकी शक्तियों पर रोक का विस्तृत विवरण आठवें अध्याय में किया गया है। ~~अंतिम अध्याय में किया गया है।~~ अंतिम अध्याय में सभी अध्यायों के निष्कर्ष का समावेश है।

यह शोध प्रबंध सर्वथा मौलिक है, क्योंकि इस विषय पर प्रकाश डालने वाला यह सर्वप्रथम प्रयास है।

कृतज्ञता ज्ञापन -

सर्वप्रथम मैं परमपूज्य 'गुरुदेव महर्षि जी' का करबद्ध अभिनंदन करती हूँ। जिनके आर्शीवाद से मुझे यह कार्य करने की प्रेरणा मिली।

तत्पश्चात् मैं उन सभी विद्वानों के प्रति आभार व्यक्त करना चाहूँगी जिन्होंने इस शोध प्रबंध को प्रस्तुत करने में मेरी सहायता की।

मैं अपने शोध निर्देशक डॉ. आर. के. शर्मा, पूर्व अध्यक्ष, प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, रानीदुर्गावती विश्वविद्यालय जबलपुर के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ कि उन्होंने मुझे अपने निर्देशन में शोध कार्य करने की अनुमति प्रदान की तथा उनके ही विद्वत निर्देशन से यह शोध कार्य सम्पन्न हुआ। उन्होंनें जिस सहज भाव से दुरुह समस्याओं का समाधान कर मुझे निर्देशन प्रदान किया है। उसके लिये मैं सदैव उनकी ऋणी रहूँगी।

मैं माननीय कुलपति महोदय श्री आद्या प्रसाद मिश्र - कुलपति, महर्षि महेश योगी वैदिक विश्व विद्यालय जबलपुर,डॉ. पी. एल. कादलबाजू- कुलसचिव, महर्षि महेश योगी वैदिक विश्व विद्यालय, डॉ गोपाल कृष्ण दवे - भूतपूर्व कुल सचिव, महर्षि महेश योगी वैदिक विश्व विद्यालय, प्रो. राममूर्ति चतुर्वेदी- वेद विज्ञान संकायाध्यक्ष, महर्षि महेश योगी वैदिक विश्वविद्यालय, डॉ. एस. पी. कोष्टा- महानिदेशक, महर्षि महेश योगी वैदिक विश्वविद्यालय तथा श्री अरविंद सिंह राजपूत - सहायक कुल सचिव (विधि) महर्षि महेश योगी वैदिक विश्व विद्यालय, जबलपुर के प्रति मैं हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ। जिन्होंने विभिन्न समस्याओं का समाधान कर समय-समय पर मेरा उत्साहवर्धन किया।

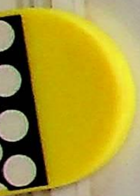
इस विषय पर कार्य करने का मार्गदर्शन मुझे डॉ. के. के. चतुर्वेदी- निदेशक, कालिदास अकादमी उज्जैन, से प्राप्त हुआ। इसके लिये मैं उनकी हृदय से कृतज्ञ हूँ।

मैं डॉ. (श्रीमति) चन्द्रा चतुर्वेदी- शोध समन्वयक, महर्षि महेश योगी वैदिक विश्वविद्यालय जबलपुर की भी आभारी हूँ, जिन्होनें समय समय पर मुझे सहयोग प्रदान किया।

मैं. डॉ राजेन्द्र चंद्र सूठा - शोध समन्वयक, महर्षि महेश योगी वैदिक विश्वविद्यालय जबलपुर की भी आभारी हूँ, जिन्होने समय समय पर मुझे सहयोग प्रदान किया।

मैं श्रीमति अम्बिका चन्द्रा राय- विभागाध्यक्ष, राजनीति शास्त्र, शासकीय मानकुँवर बाई कला एवं वाणिज्य महिला महाविद्यालय जबलपुर की भी बहुत आभारी हूँ जिन्होंने निरंतर इस कार्य के लिये मुझे

विषय सूची



अध्याय - १

प्राचीन भारतीय राजतंत्र का स्वरूप,

उसके अध्ययन की कठिनाईयाँ,

आलोचनाएँ और उनका उत्तर

अल्पावधि शोध का सर्वेक्षण

राजतंत्र का स्वरूप -

प्राचीन भारत में राजतंत्र ही सबसे अधिक प्रचलित था। प्राचीन हिन्दू लोग राज्य को ही जनहित संवर्धक संस्था के रूप में देखते थे। राज्य के बिना जीवित संरक्षण और पुरूषार्थ साधन नहीं हो सकता था ऐसी उनकी धारणा थी। धर्मशास्त्रों के नियमों का पालन जैसे प्रजा द्वारा, वैसे ही राजा द्वारा भी होना आवश्यक है। यदि कोई राजा उनको तोड़ दे तो प्रजा राजनिष्ठा का कर्तव्य पालन करने में बाध्य न रहेगी, इतना ही नहीं यदि आवश्यक हो तो प्रजा आततायी राजा का वध भी कर सकती है। आदर्श राज्य में राजा और प्रजा दोनों ही धर्म नियमों का पालन करते हैं। जिससे उन दोनों का भी पारलौकिक कल्याण साध्य होता है।

शासन संस्था का विकास क्रमश: कैसे हुआ इसका विवेचन प्राचीन हिन्दू ग्रंथों में नहीं मिलता है परंतु वैदिक प्रमाणों के परामर्श से यह प्रतीत होता है कि उस जमाने में जनराज्यों की प्राय: रूढ़ि थी। यदु, तुर्वशु, भरत आदि जिन जनों का उल्लेख अनेक बार वेदों में मिलता है उनका कोई निश्चित प्रदेश नहीं था। वे लोग भ्रमणशील थे अत: उनके राज्य भी उनके साथ बदला करते थे। पर उत्तर वैदिक काल में ये देश विभिन्न भागों में बस चुके थे और उनके राजा जन के ही नहीं ; राष्ट्र याने प्रदेश के भी स्वामी कहे जाने लगे थे। उत्तर वैदिक काल में सम्राट का राज्य क्षेत्र ससागर पृथ्वी कहा गया है। जिससे प्रादेशिक राज्यों के पूर्ण विकास का प्रमाण मिल जाता है।

प्रादेशिक राज्य के कौन-कौन अंग होते है, और उनका संबंध किस प्रकार रहता है, वैदिक काल वाङ् मय में इस विषय का उल्लेख नहीं मिलता है, किन्तु जब ई. पू. चौथी सदी में राजनीतिक विचारों का विकास होने लगा तब इस विषय में चर्चा मिलती है। कौटिल्य और मनु दोनों का मत है कि राज्य एक सजीव एकात्मक शासन संस्था है, मनमानी चाल चलने वाले, अपना ही भला देखने वाले और विभिन्न कणों का ढीला-ढाला जोड़ या संगठन नहीं है। इनके मतानुसार स्वामी, अमात्य, भूप्रदेश, कर या साधन सामग्री, दुर्ग, सेना, और मित्र राज्य के सात अंग हैं। जिनको सप्त प्रकृतियां कहते हैं। कामंदक शुक्र आदि परवर्ती लेखक सप्तांग परिभाषा को स्वयं सिद्ध मानते हैं और शिलालेखादि में वर्णित राज्य भी इन्हीं सत-प्रकृतियों से युक्त पाये जाते हैं।

आधुनिक मतानुसार भूप्रदेश, जनता और केन्द्रीय सरकार राज्य के आवश्यक अंग हैं। केन्द्रीय सरकार में प्रभुता और वैधानिक अवश्य होना चाहिये। इन घटकों की यदि हम सप्तांगो से तुलना करें, तो यह दिखाई देगा कि स्वामी और अमात्य केन्द्रीय शासन के स्थान में हैं उनमें राज्य का, प्रभुत्व

केन्द्रित रहता था और वे राज्य को एक सूत्र में गूथते थे। राष्ट्र, सेना, दुर्ग और कोष राज्य के शासन सामग्री थे। ''जन राज्यों'' का जमाना कब का बीत चुका था, इसीलिये राष्ट्र या भूप्रदेश भी राज्य का आवश्यक अंग माना जाने लगा। दुर्ग और सेना भी राज्य की सुरक्षा के लिये अत्यंत आवश्यक थे। अत: ये भी उसके स्वाभाविक अंग हो गये। देश की रक्षा और राज्य की अनिवार्य तथा ऐच्छिक कार्यवाही के लिये बलि या सम्पति की अत्यंत आवश्यकता है इसीलिये कोष भी राज्य के लिये आवश्यक माना गया। राज्यांगो में मित्रों की गणना कुछ विलक्षण सी लगती है। परंतु आज के इतिहास ने यह सिद्ध कर दिया है कि उपयुक्त मित्रों की सहायता पर ही राज्य का अस्तित्व निर्भर है। इस महादेश में प्राचीन काल में बहुत से छोटे-छोटे राज्य थे उनमें से हरेक की सुरक्षा तभी संभव थी जब देश में शक्ति समता रही हो, अर्थात इन राज्यों में परस्पर ऐसा संबंध हो कि किसी राज्य का अपनी अपेक्षा किसी दुर्बल राज्य पर आक्रमण करने का साहस न हो। इसीलिये प्राचीन विचारकों ने मित्र अर्थात् परस्पर संबंध को इतना अधिक महत्व दिया। जनता की गणना सप्त प्रकृतियों में नहीं दिखाई देती। इसका कारण संभवत: यह हो सकता है कि जनता और राज्य का स्वयं सिद्ध और अविच्छेद संबंध था।

प्राचीन भारतीय विचारक इन सप्त प्रकृतियों को राज्य शरीर के अंग मानते थे इनमें से कुछ अंग दूसरों की अपेक्षा अधिक महत्व के हो सकते हैं जैसे दुर्ग और मित्र के मुकाबले स्वामी और अमात्य हैं। परंतु अपने में कम महत्व का भी होते हुये भी अन्य अंग राज्य-शरीर के लिये उतने ही आवश्यक थे। इसके साथ ही हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि राज्य-शरीर और प्राकृतिक शरीर की समता पूरी-पूरी नहीं हो सकती। शरीर के विभन्न पिण्ड और अवयव अलग से नहीं जीवित रह सकते, पर राज्य के कुछ अंग - जैसे दुर्ग और कोष, अलग भी रह सकते हैं और उनकी सहायता से नये राज्य की रचना भी की जा सकती है।

प्राचीन भारत के अधिकांश राज्य एक दूसरे से जाति भाषा या धर्म से भिन्न न थे। सभी राज्यों में हिन्दू, बौद्ध,जैन आदि शांति और मेल जोल से रहते थे। संस्कृत सार्वदेशिक भाषा थी और प्राकृतों में इतना अंतर न हो पाया था कि वे एक दूसरे से एकदम अलग और दुर्बोध हो जातीं। भारत में आकर सभी विदेशी बहुत जल्दी भारतीय़ बन जाते थे ; और हिन्दू समाज में घुल-मिल जाते थे। इस प्रकार प्राचीन भारत के विभिन्न राज्यों में धर्म, जाति या भाषा का कोई भेद-भाव न था। व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा शासन सुविधा या भौगोलिक परिस्थिति से ही अनेक अलग-अलग राज्य स्थापित होते थे। अत: भारतीय विचारकों ने राज्य की प्रजा में धर्म,भाषा और जाति की एकता पर जोर देने की आवश्यकता न समझी।

अध्ययन की कठिनाईयाँ, आलोचनाएँ और उनका उत्तर -

प्राचीन भारतीय राजतंत्र के अध्ययन में सबसे बड़ी कठिनाई ऐतिहासिक अभिलेखों और निश्चित-समय-क्रम संबंधी सामग्री का अभाव है। इसी कठिनाई के कारण हमारे अध्ययन में यथार्थता व निश्चितता नहीं आ सकी है। इसके लिये कई कारण उत्तरदायी हैं - पहला , प्राचीन भारतीयों में इतिहास लिखने की कला के अभाव के साथ-साथ भारत के प्राचीन इतिहास का काल अन्य देशों की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत है। दूसरा यह कि प्राचीन भारत का इतिहास पौराणिक तथा अन्य कथाओं से मिश्रित है । पुराणों, रामायण, महाभारत आदि ग्रंथों में ऐसी कथाओं का अंश इतिहास से अधिक दिखाई पड़ता है ; अत: उनके आधार पर प्राचीन भारत के विशुद्ध इतिहास का निर्माण करना बड़ा कठिन है। तीसरा सलेटोरे ने लिखा है कि कौटिल्य से पूर्व और मनु के बाद राजनीतिक विचारकों के नामों, उनके काल तथा उनके द्वारा स्थापित विचारधाराओं के आपसी संबंधों के अध्ययन से और पेचीदा हो जाता है । विभिन्न विचारधाराओं के बीच संबंध निश्चित करने के लिये निश्चित प्रमाण नहीं है। बाद के विचारकों के सिद्धांत और विचार पहले के विचारकों के सिद्धांतों तथा विचारों से मिलते भी हैं और उनके बीच भिन्नता भी है।

एक ही नाम के विचारकों का नाम अनेक बार आने से महान राजनीतिक विचारकों का समय क्रम निश्चित करना कठिन है। उदाहरण के लिये वेदों में मनु का नाम आता है और मनु स्मृति के रचियता भी मनु है। इसी प्रकार शुक्राचार्य का नाम महाभारत में आता है और शुक्रनीति की रचना करने वाले शुक्र ही थे। इसके अतिरिक्त अपने अध्ययन शास्त्र में प्रयुक्त अनेक शब्दों से विभिन्न विचारकों ने भिन्न-भिन्न अर्थ लिये हैं। इस प्रकार धर्म, दण्ड, नीति आदि शब्दों का आधारभूत ठीक-ठीक अर्थ निश्चित करना कठिन है। चौथा हिन्दू राज्य शास्त्र के अध्ययन में पाश्चात्य आलोचकों तथा टीकाकारों का पक्षपातपूर्ण व एकांगी दृष्टिकोण भी बहुत बड़ी बाधा रहा है। पाश्चात्य विचारकों का मानना है कि भारतीयों ने दार्शनिकों को जन्म दिया किन्तु भारतीय विचारकों ने राजनीतिक अथवा भौतिक चिंतन का अभाव था; तथा भारतीयों ने राष्ट्रीय भावना को कभी भी नहीं जाना।

भारत के अतीत और इतिहास के बारे में उपर्युक्त मत साम्राज्यवादी विचारधारा से अधिक प्रभावित था। उन्नीसवीं तथा वर्तमान राष्ट्रवादी भारतीयों ने इसे एक प्रकार की चुनौती के रूप में लिया। इसके अलावा भी अनेक विचारकों ने साम्राज्यवादी विचारधारा को मिथ्या सिद्ध करने के प्रयत्न किये। १८८७ में आर. सी. दत्त ने एक लेख में यह दिखाने का प्रयत्न किया कि प्राचीन काल में भारतीय राजा सभी के प्रति न्याय कारी थे। १९०७ में पूर्वात्य चरित्र के बारे में लार्ड कर्जन द्वारा स्वेच्छाचारिता का आरोप लगाये जाने के उत्तर में ए. सी. दास ने इस बात को बलपूर्वक कहा यह सोचना भूल है कि हिन्दुओं को स्वेच्छाचारी शासन की आदत है और यह कि देश में कभी भी लोकप्रिय तत्व का अस्तित्व न था। उन्होंने

यह भी कहा कि प्राचीन भारत में निरंकुश नही वरन् सीमित राजतंत्र का बोलबाला था। के. बी. जायसवाल, बी. के. सरकार, आर.सी. मजूमदार, डी. आर. भंडारकर आदि विद्वानों द्वारा अपने अनुसंधान द्वारा यह सिद्ध किया कि प्राचीन भारत में गणतंत्र सभा व समिति और जनपद जैसी लोकप्रिय संस्थाओं का अस्तित्व था।

चार्ल्स ड्रेकमियर के मतानुसार हिन्दू राजनीतिक विचारों के अधिकांश निर्वाचन की एक दुर्भाग्यपूर्ण विशेषता यह कि पाश्चात्य इतिहास में प्रशिक्षित भारतीय विद्वानों ने भारतीय तथा पाश्चात्य धारणाओं में साम्य देखने का प्रयत्न किया है। बहुधा कुछ समानता है भी किन्तु पाश्चात्य धारणा से भारतीय परिस्थिति को विशेष रूप दिया जा रहा है। उदाहरण के लिये राजाओं के दैवी अधिकार का विचार लिया जा सकता है ऐसे ही कुछ नवीन भारतीय विद्वान भारत के राजनीति इतिहास में प्रजातंत्रात्मक परंपरा पाने की इच्छा से प्रेरित हुये हैं।

आलोचनाएँ -

अनेक पाश्चात्य लेखकों ने प्राचीन भारतीय राज-शास्त्र की कई आधारों पर आलोचना की है , जिनका उद्देश्य उसके स्वतंत्र अस्तित्व का खण्डन करना है। सर्वप्रथम आलोचना इस आधार पर की जाती है कि हिन्दुओं ने राजनीति को धर्मशास्त्र व आध्यात्मवाद से स्वतंत्र नहीं किया। डनिंग का कथन है कि : पूर्वात्य (भारतीय) आर्यो ने अपनी राजनीति को धार्मिक और आध्यात्मवादी पर्यावरण से जिसमें कि यह आज भी गड़ी हुई है कभी भी स्वतंत्र नहीं किया। इसी कारण उसने "प्राचीन व मध्ययुगीन राजनीतिक सिद्धांतों के इतिहास" नामक ग्रंथ में अपने को यूरोप की आर्य जातियों के राजनीतिक दर्शन तक सीमित रखा है। जर्मन विद्वान मैक्समूलर ने कहा है - "भारतीय को राष्ट्रीयता की भावना का पता न था -----एक मात्र क्षेत्र, जिसमें कि भारतीय मस्तिष्क ने कार्य करने, रचना करने और पूजा करने की स्वतंत्रता पाई, धर्म और दर्शन का क्षेत्र था"। प्रो. ब्लूमफील्ड ने लिखा है, "भारतीय इतिहास के आरंभ से धार्मिक संस्थाओं ने इसके निवासियों के चरित्र और विकास को उस सीमा तक नियंत्रित किया जिस तक कि अन्य किसी देश में नहीं हुआ ---- ऐसी योजना में राज्य के प्रति अभिरुचि के लिये कोई प्रावधान नहीं"। डॉ. घोषाल ने भी लिखा है कि कुछ समय पूर्व तक भारतीयों की मानसिक प्रकृति पर यह आरोप लगाया जाता था कि धर्म ने भारतीय मन पर ऐसा अनन्य अधिकार किया हुआ था कि वह राज्य के विचार की धारणा से वंचित रहा। बाशम ने लिखा है : प्लेटो और अरस्तु के समय से यूरोपीय चिंतन का ध्यान ऐसे प्रश्नों पर गया जैसे राज्य की उत्पत्ति, शासन का आदर्श रूप, और कानून का आधार। राजनीति को दर्शन की एक शाखा के रूप में देखा गया है। भारत ने भी ऐसे प्रश्नों के बारे में विचार किया, परंतु वहां पाश्चात्य अर्थ दर्शन में कोई विचारधारा न जमी।

प्राचीन भारत के राजशास्त्र पर दूसरा आरोप यह लगाया गया है कि भारत में पहले केवल स्वेच्छाचारी शासन ही था। सर हेनरी मेन का ऐसा ही मत है। ग्रीन के अनुसार - ''पूर्व के बड़े साम्राज्य, मुख्यत: कर एकत्रित करने वाली संस्थायें थी। कुछ प्रयोजनों के लिये और समय समय पर वे अपनी प्रजाओं पर सबसे अधिक हिंसात्मक ढंग व बल का प्रयोग करते थे। परंतु उन्होंने सामयिक आदेशों से भिन्न कानून लागू नहीं किये न ही वे प्रथागत कानूनों को न्यायिक ढंग से लागू व प्रशासित करते हैं। एक अन्य आरोप यह लगाया जाता है कि पूर्वात्य जातियाँ जगत की दैवी सृष्टि और व्यवस्था में इतना धर्मगत (पक्का) विश्वास रखतीं थीं कि वे अपनी सामाजिक व राजनीतिक संस्थाओं के अस्तित्व व आधार के लिये उत्तरदायी बुद्धिगत कारणों का पता लगाने की ओर आकृष्ट भी न हो सकीं। साधारणतया यह मत अभिव्यक्त किया गया है कि प्राचीन भारतीयों के राजनीतिक सिद्धांत केवल मात्र उनके धर्म की ही एक शाखा थी और उससे पृथक रूप से कोई स्वतंत्र आधार न था। कुछ समय पूर्व तक यह अधिकार पूर्ण मत बना रहा कि धर्म ने भारतीय मस्तिष्क पर ऐसा अनन्य प्रभाव रखा कि उसमें राज्य के विचार के लिये कोई स्थान न रहा।

परंतु इस प्रकार के मत के लिये बहुत सीमा तक उत्तरदायी कारण यह था कि राजनीतिक विचारों की खोज करने में पुरानी पीढ़ी के विद्वानों ने अपना ध्यान धार्मिक ग्रंथों पर केन्द्रित किया। महाकाव्यों, पुराणों, कौटिल्य के अर्थशास्त्र इसके अलावा अन्य ग्रंथों में राजनीति से संबंधित विभागों को धार्मिक दृष्टि से लिखा नहीं माना जा सकता। इसके अलावा उपर्युक्त मतों के विरूद्ध आपत्ति यह है कि वे एकांगी है और उनके अनुसार भारत का निर्वाचन गलत है। वास्तव में भारतीय सभ्यता की तीन विशेषताएँ हैं -आध्यात्मिकता, बौद्धिकता और जीवन शक्ति। अरविन्द घोष के अनुसार आध्यात्मिकता भी पृथ्वी पर शून्यता में नहीं फलती फूलती। इन आरोपों से स्पष्ट यह प्रतीत होता है कि पाश्चात्य आलोचक ऐसा मानते है कि भारतीय मस्तिष्क की गतिविधि धार्मिक व दार्शनिक विचारों के विकास में समाप्त हो गयी, जिसके परिणामस्वरूप भारत में राष्ट्रीयता की भावना का कोई विकास न हो सका और राज्य के बारे में भी कोई धारणा न बन सकी। दूसरे शब्दों में हिन्दुओं ने राजशास्त्र के लिये कोई योगदान नहीं दिया और इसीलिये भारत के इतिहास का विश्व के राजनीतिक इतिहास में कोई स्थान नहीं है।

आलोचनाओं का उत्तर -

इस संबंध में पाश्चात्य नवीन लेखकों ने अपने मत व्यक्त किये है सर्वप्रथम हम इनके विचारों का अध्ययन करेंगे। राजनीतिक विचारों के क्षेत्र में प्राचीन भारत के योगदान के विषय में मैक्सी ने लिखा है - पाश्चात्य टीकाकारों ने अन्य पूर्वात्य जातियों की तुलना में हिन्दू राजनीतिक विचारों के प्रति अधिक तुच्छ व्यवहार किया है। हिन्दुओं की राजनीतिक संस्थाओं तथा विचारों के बारे में इसे अधिकांश

जानकारी ऐसे स्रोतों से प्राप्त हुई है जो कठिनता से ही भारतीय जीवन और चरित्र के बारे में निष्पक्ष मत बना सकते हैं। भारत के लोगों को ऐसा दिखाया गया है कि वे काल्पनिक और जड़ बना देने वाले धर्म में इस सीमा तक व्यक्त थे कि वे राजनीतिक दायित्यों के लिये स्वाभावतः ही अयोग्य थे। परंतु भारत और भारत के राजनीतिक इतिहास को ठीक से समझने के लिये पर्यवेक्षकों को अपनी दृष्टि को तीन प्रकार से परिवर्तित करना चाहिये। प्रथम, भारत कभी भी एक देश नहीं रहा और उसने धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक अथवा राजनीतिक एकता को कभी नहीं जाना। यूरोप की भांति उसका विशाल क्षेत्र महाद्वीप जैसा है, जिसमें अनेक मूल जातियों, धर्मों और राजनीतिक समूहों के लोग रहते हैं। दूसरे भारत का भी प्रायः उसी प्रकार का इतिहास रहा है जैसा कि यूरोप का। यूरोप के इतिहास में भी अनेक शासक वंशों के संघर्ष, रक्तमय युद्ध और विवाद मिलते हैं। तीसरे, यूरोप की तुलना में भारत का पिछड़ापन निकट अतीत में ही हुआ, जिसका आरंभ नवीं शताब्दी के मध्य से माना जा सकता है।

हमें यह ध्यान रखना आवश्यक है कि भारत का राजनीतिक इतिहास यूरोप के इतिहास से अधिक प्राचीन है और राजनीतिक विचारों से निष्फल नहीं है। अपनी राजनीतिक स्वतंत्रता की अनेक शताब्दियों में भारतीय उपमहाद्वीप में प्रायः सभी प्रकार के छोटे और विशाल राज्यों के उदय और पतन को देखा है। यहाँ ग्रामीण गणतंत्र से लेकर चन्द्रगुप्त व अशोक के मौर्य साम्राज्य थे। ये साम्राज्य ब्रिटेन के वर्तमान भारतीय साम्राज्य से अधिक विस्तृत थे और अपने काल में विश्व के महान राज्य थे। उनके इजिप्ट और ग्रीस से कूटनीतिक संबंध थे। यह विश्वास नहीं होता कि इतने दीर्घकाल में अपनाई गई परिवर्तनशील और विभिन्न प्रकार की राजनीतिक प्रक्रियाओं ने राजनीतिक विचारों को जन्म न दिया हो। दुर्भाग्यवश मैक्समूलर के समय से यह गलत धारणा बन गई है कि हिन्दुओं के साहित्य में मुख्यतः अस्पष्ट आदर्शवाद, अव्यावहारिक आध्यात्मवाद और परलोक संबंधी युक्तिहीन बातों का ही विवेचन है। इसके अतिरिक्त एक दो प्राचीन हिन्दू लेखकों के इधर-उधर से लिये उद्धरणों को भूल से हिन्दुओं के संपूर्ण विचारों का प्रतीक मान लिया गया है। संस्कृत साहित्य में सभी प्रकार के विचार मिलते हैं और राजनीतिक ग्रंथों का भी बड़ा स्थान है। गेटेल के अनुसार हिन्दू राज्य धर्मतंत्रात्मक न थे ; राज्य धार्मिक संगठन से स्वतंत्र था और पुजारी प्रशासन कार्यो में हस्त्क्षेप न करते थे। ऐसी दशाओं में राजनीतिक विचारों का काफी विकास हो सका। राजनीतिक दर्शन को ज्ञान की एक पृथक शाखा माना गया, उसका विस्तृत साहित्य है और उसके रचियता राजशास्त्र को सबसे महत्वपूर्ण शास्त्र मानते हैं।

प्राचीन भारत के सांस्कृतिक विकास में राजनीति का महत्वपूर्ण स्थान था। प्राचीन भारतीयों को राजनीति के अनेक सिद्धांतों का ज्ञान था। वेदों में वर्णित राजा उसके वरण अथवा निर्वाचन, सभा समिति जैसी लोकप्रिय संस्थाओं, राजा का पदच्युत किया जाना तथा पुनः सिंहासन पर आरूढ किया जाना आदि बातों से वैदिक कालीन राजनीतिक जागृति का स्पष्ट दिग्दर्शन होता है। राजनीति के सिद्धांतों

को समझने का प्रयत्न किया गया था तथा राजशास्त्र को वैज्ञानिक आधार पर विकसित भी किया गया था, जैसा कि इसके प्राचीन नामों - दण्डनीति व राजधर्म आदि से पता लगता है। प्राचीन हिन्दुओं ने विज्ञानों और कलाओं का भिन्न-भिन्न प्रकार से वर्गीकरण किया। एक वर्गीकरण के अनुसार प्रावधिक विज्ञान विधाएँ ३२ और कलायें ६४ थीं। ३२ विज्ञानों में अर्थशास्त्र एक था; उसका अभिप्राय आधुनिक अर्थशास्त्र और राजशास्त्र दोनों से था। परंतु कौटिल्य के काल से पूर्व ही राजशास्त्र को अर्थशास्त्र से प्रथक कर दिया गया था। उस समय चार प्रमुख विज्ञान - आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति थे। बृहस्पति के अनुयायियों के अनुसार तो वार्ता और दण्डनीति ही दो महत्वपूर्ण विज्ञान थे। शुक्राचार्य के अनुयायियों ने तो यह भी घोषित किया कि राजनीति ही केवल एक विज्ञान था और अन्य सभी विज्ञानों की उत्पत्ति व अन्त उसी में थे। इस प्रकार यह बात नि:संदेह है कि कौटिल्य से पूर्वकालीन परंपरा के अनुसार राजशास्त्र का पद स्वतंत्र विज्ञान के रूप में त्रयी (वेद विद्या) और आन्वीक्षिकी के सम था।

महाभारत और कौटिल्य के अर्थशास्त्र में प्राचीन भारत में राजशास्त्र में निष्णात अनेक विद्वानों के नामों का उल्लेख मिलता है - विशालाक्ष, इन्द्र बृहस्पति, शुक्र, मनु, भारद्वाज, पाराशर, वातव्याधि, कात्यायनआदि। इसके अतिरिक्त धर्मसूत्रों, स्मृतियों आदि में भी राजधर्म प्रकरण में राजनीति के तत्वों का विवेचन किया गया है। रामायण व महाभारत में अनेक राजनीतिक विचारों व संस्थाओं का वर्णन है, जिनसे विकसित सिद्धांतों का संकेत मिलता है। कौटिल्य ने 'अर्थशास्त्र' में राजनीति का विवेचन लौकिक दृष्टि से और स्वतंत्र विज्ञान के रूप में किया है। उसने तो यहाँ तक कहा है कि संसार की उन्नति का मार्ग दण्डनीति पर निर्भर करता है। इस बात को शुक्र ने और भी बलपूर्वक कहा है। शुक्र का कथन है कि राजा ही काल का कारण और निर्माता है। उसके अनुसार दैवी साक्ष्य की तुलना में मानव साक्ष्य को अधिमान्यता दी जानी चाहिये, यह स्पष्ट करता है कि राजनीति का विवेचन लौकिक दृष्टि से किया गया।

कानून की संकल्पना उन कसौटियों में से एक है जो राजनीति के धर्मनिरपेक्ष व लौकिक स्वरूप को बताती हैं। अनेक विदेशी लेखकों का मत है कि राजनीति के हिन्दू लेखक विध्यात्मक कानून से परिचित न थे। विध्यात्मक कानून वह होता है जिसे प्रभुत्वपूर्ण राजनीतिक अधिकारी निर्मित व लागू करता है। शुक्र के अनुसार अग्रलिखित कानूनों को सदैव राजा को ही प्रख्यापित करना चाहिये- नाप तौल व सिक्कों के बारे में किसी भी प्रकार के गलत व्यवहार की आज्ञा नहीं होनी चाहिये; घूस स्वीकार नहीं करनी चाहिये; चोरो को संरक्षण तथा तलाबों, कुओं, उद्यानों में बाधा नहीं डालनी चाहिये। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में कानून के चार प्रकार बताये हैं - धर्म व्यवहार, चरित्र या प्रथा और राजशासन। इसके अतिरिक्त राजत्व की उत्पत्ति से संबंधित कुछ सिद्धांतों (जैसे विकासवादी) के राजनीतिक चिंतन के लौकिक पक्ष पर बल दिया है। वैदिक राजा मानव थे और इसीलिये उन्हें पदच्युत और निष्कासित किया जा

सकता था। वैदिक काल में राजाओं का किसी भी रूप में वरण किया जाता था। महाभारत और रामायण में विभिन्न राजाओं का उल्लेख है। किन्तु दोनों ही महाकाव्यों में अच्छे व अत्याचारी राजाओं के बीच स्पष्ट अंतर किया गया है। अत: इस प्रश्न पर चाहे हम विद्याओं के वर्गीकरण, पौरुष का सिद्धांत या कानून की संकल्पना, या राजत्व के सिद्धांत की दृष्टि से विचार करें, यह स्पष्ट है कि हिन्दू राजनीतिक चिंतन धर्मशास्त्रीय नहीं है, वरन् धर्मनिर्पेक्ष व लौकिक है। हमारे विचार में यह मध्ययुगीन पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन से भिन्न है, जो प्रधानत: धर्मशास्त्रीय है।

यह सच है कि संस्कृत साहित्य में राजनीतिक सिद्धांत और व्यवहार पर लेख हैं तथा राजनीति व लोकप्रशासन पर विशिष्ट ग्रंथ भी हैं, जो पाश्चात्य देशों के राजनीतिक साहित्य से सभी बातों की तुलना कर सकते हैं। कठिनाई यह है कि उनमें से बहुतों का अंग्रेजी अनुवाद नहीं हुआ है, इसी कारण पाश्चात्य जगत उनसे अनभिज्ञ है। बी. के. सरकार ने 'भारतीय राजनीतिक दर्शन' नामक निबंध में यह दिखाया है कि संस्कृत साहित्य की प्रत्येक शाखा में राजनीतिक सिद्धांतों और व्यवहार पर लेख हैं और राजनीति व लोक प्रशासन पर कई विख्यात विशिष्ट ग्रंथ भी हैं, जो यूरोपीय देशों के साहित्यों में प्राप्त ग्रंथों से सभी बातों की तुलना कर सकते हैं ; परंतु उनसे अधिकतर का अंग्रेजी अनुवाद नहीं हुआ है और पाश्चात्य जगत उनसे अपरिचित है।

दण्डनीति का जन्म धर्मशास्त्रों से नहीं हुआ वरन् उसका विकास स्वतंत्र रूप से हुआ। प्रो. रंगास्वामी अयंगर के अनुसार नीतिशास्त्रों का धर्मशास्त्रों से स्वतंत्र साहित्य है, जिसकी उत्पत्ति व दृष्टिकोण धर्मशास्त्रों से भिन्न है। चार्ल्स ड्रेकमियर के अनुसार धर्म की प्रधानता के रहते हुये भी प्राचीन भारत ने राजनीतिक साहित्य के अच्छे बड़े आकार को जन्म दिया। परंतु यह प्राय: सभी ब्राह्मणों की देन है। प्रो. अल्तेकर ने ठीक ही लिखा है - सातवीं व छठी शताब्दी ई. पूर्व में राजशास्त्र पर अनेक ग्रंथ जरूर अस्तित्व में थे, यद्यपि पीछे सब नष्ट हो गये। इन ग्रंथों का काल प्रसिद्ध ग्रीक तत्ववेत्ता अरस्तू के पूर्व था।

वास्तव में जैसा कि महाभारत व शुक्रनीति आदि ग्रंथो से पता लगता है, प्राचीन भारत में दण्डनीति की सृष्टि स्वयं ब्रह्मा द्वारा ही मानी जाती थी। महाभारत के विषय में वर्णन है कि ब्रह्मदेव ने त्रिवर्ग - धर्म, अर्थ और काम- विषय पर एक वृहद् शास्त्र की रचना की जिसमें एक लाख श्लोक थे। चूंकि उनमें दण्डनीति वाला भाग अत्यधिक बड़ा था, उसे प्रथम विशालाक्ष (शिव) ने संक्षिप्त किया तत्पश्चात क्रमश: इन्द्र, बृहस्पति व शुक्र ने संक्षिप्त किया। भण्डारकर के मतानुसार यह मत मान्य है कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र से पूर्व ही (प्राचीन भारत में) दण्डनीति अथवा अर्थशास्त्र पर विशाल साहित्य का अस्तित्व था। प्रथम, राजनीति में भी चार विचारधाराओं का अस्तित्व था, जो मनु, पाराशर, बृहस्पति और शुक्राचार्य के मानने वालों के समूहों में विभाजित थी। दूसरे, शासन कला पर कम से कम सात बड़े ग्रंथ थे, जिसकी रचना भारद्वाज, विशालाक्ष पाराशर, नारद, भीष्म वातव्याधि और बहुदन्ति या महेन्द्र

द्वारा मानी जाती थी। केवल कौटिल्य ने ही इनका हिन्दू राजनीति के लेखकों के रूप में उल्लेख नहीं किया है; शांति पर्व के अध्याय ५५ और ५८ में भी उन सबका उल्लेख मिलता है।

अंत में, हम यही कहेगें कि प्राचीन भारत में राजतंत्र स्वेच्छाधारी नहीं बल्कि सीमित राजतंत्र था; राजाओं के वरण की भी प्रथा थी और वे मंत्रियों तथा परामर्शदाताओं की सहायता से शासन करते थे। इसके अतिरिक्त वैदिक काल मे सभा व समिति जैसी लोकप्रिय संस्थायें थी तथा उत्तरवैदिक काल में गणतंत्र भी थे। अत: हिन्दू राजा स्वेच्छाचारी नहीं थे, बल्कि वे धर्म के अधीन थे।

❑❑❑

अध्याय - 2

अध्ययन के स्रोत



प्राचीन भारतीय राजतंत्र के अध्ययन के प्रमुख स्रोतों को दो वर्गो में बांटा जा सकता है:-

(क) साहित्यिक स्रोत

(ख) पुरातात्विक स्रोत

इन दोनों स्रोतों का संक्षिप्त विवरण निम्नानुसार है:-

(क) साहित्यिक स्रोत - साहित्यिक स्रोत के अन्तर्गत वैदिक साहित्य, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, पुराण, नीतिशास्त्र तथा अन्य साहित्य आते है

वैदिक साहित्य -

वैदिक साहित्य में सर्व प्रमुख स्थान वेदों का है, वैदिक साहित्य (विशेष रूप से वेद)हिन्दू समाज की अमूल्य सांस्कृतिक निधि हैं। वेदों को प्राचीन भारत की सभी विद्याओं और कलाओं का मूल माना जाता है। हिन्दू धर्म में दर्शन, उपासना, सदाचार आदि भी वेदों पर अवलम्बित हैं। वैदिक वाङ्मय से तत्कालीन इतिहास, भूगोल, सामाजिक, संगठन व वैदिक राष्ट्र की तत्कालीन शासन पद्धति का पर्याप्त परिचय मिलता है। वेद ही आर्य सभ्यता संस्कृति के मूल आधार हैं। वैदिक साहित्य का सर्वप्रथम ग्रंथ तथा विश्व की प्राचीनतम पुस्तक ''ऋग्वेद'' है, जिसके विषय में प्रसिद्ध जर्मन विद्वान मैक्समूलर ने कहा है कि 'जब तक भूतल पर नदी और पर्वत रहेंगे, तब तक लोगों में ऋग्वेद की महिमा का प्रचार रहेगा'।

'वेद' शब्द संस्कृत भाषा का है, जो 'विद्' धातु से बना है जिसका अर्थ है ज्ञान। परंतु वेद का प्रयोग सभी प्रकार के ज्ञान के लिये नहीं किया जाता; बल्कि इसका प्रयोग केवल उसी ज्ञान के लिये होता है जिसकी उत्पत्ति हिन्दुओं के धार्मिक विश्वास के अनुसार समाधि तथा तपस्या में लीन प्राचीन वेद कालीन ऋषियों के शुद्ध अंत:करण में ईश्वरीय प्रेरणा के द्वारा हुई थी। संस्कृत की 'विद' धातु में अंग्रेजी के "To know" (जानना) और लैटिन भाषा के 'Video' - to see (देखना) दोनों ही धातुओं के अर्थ सन्निहत हैं। लैटिन भाषा के विडियो शब्द से ही अंग्रेजी के शब्द विजन अथवा विजनरी आदि शब्द निकले है, विजनरी का अर्थ है द्दष्टा। वेद शब्द के यथार्थ अंग्रेजी शब्द विजन है, जिसका अर्थ दर्शन है। जिन पुरूषों को यह महान दर्शन हुआ, उन्हें द्दष्टा कहते हैं। ऋषियों ने मंत्रों को देखा, इसलिये उनका नाम ऋषि पड़ा। वेदों की उत्पत्ति के विषय में हिन्दुओं का धार्मिक विश्वास है कि वेद मंत्रों की रचना ईश्वर द्वारा हुई है। ऐसा माना जाता है कि ब्रह्मा ने यज्ञ की सिद्धि के लिये ऋक्, यजु: और साम इन तीन लक्षण वाले सनातन वेदों को अग्नि, वायु ओर सूर्य के लिये प्रकट किया।

वेदों के निर्माण के विषय में बहुत अंतर है मैक्समूलर के अनुसार ऋग्वेद का रचना काल

१२०० ईसा पूर्व माना जाता है। परंतु लोकमान्य तिलक ने इसकी खोज की जिसके पूर्व ब्राम्हण ग्रंथों की रचना ४५०० ई. पूर्व हुई। इससे सिद्ध होता है कि वेद लगभग ५००० पूर्व पुरानें ग्रंथ हैं। प्राचीन विचारकों के अनुसार वेदों को नित्य और अपौरुषेय माना गया है। इस प्रकार उनके निर्माण काल का प्रश्न ही नहीं उठता।

वैदिक साहित्य अथवा काल को दो भागों में विभाजित किया जाता है। सर्वप्रथम 'ऋग्वेद' की उत्पत्ति हुई, उसके बाद अन्य तीन वेदों की रचना हुई। वेदों के बाद ब्राम्हण ग्रंथों, उपनिषदों तथा सूत्र ग्रंथ की रचना हुई। वैदिक काल के प्रारंभिक कालखण्ड को ऋग्वैदिक काल कहते हैं और बाद के कालखण्ड को उत्तरवैदिक काल। दोनों कालखण्डों में समय के अंतर के साथ-साथ आर्यों के सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक संगठन में भी परिवर्तन हुये। वैदिक साहित्य तो बहुत विस्तृत है, परंतु संक्षिप्त में हम उसमें चारों वेदों, उनकी संहिताओं, ब्राम्हण ग्रंथों, आरण्यकों, उपनिषदों वेदांगों और विभिन्न सूत्रों को सम्मिलन कर सकते हैं। इनका संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित है -

ऋग्वेद :-

ऋग्वेद में विभिन्न देवताओं की स्तुति के लिये ऋचाएँ है ; ऋचा (अथवा ऋक्) का अर्थ छन्दों और चरणों से युक्त मंत्रों से है। हमें ज्ञात है कि वेद का अर्थ ज्ञान है। अत: ऋचाओं का ज्ञान ऋग्वेद कहलाता है। गुप्त कथन को मंत्र कहते हैं। इसी कारण किसी देवता की स्तुति में प्रयुक्त होने वाले अर्थ का स्मरण कराने वाले वाक्य को भी मंत्र कहा जाता है। संहिता मंत्रों के संग्रह का नाम है।

यजुर्वेद :-

यजुर्वेद में यज्ञों और कर्मकाण्डों की प्रधानता है। यजु: शब्द का अर्थ है पूजा तथा यज्ञ। ऋग्वेद का होता (मंत्र पुकारने वाला) स्तुति के मंत्रों को पुकार कर विशिष्ट देवता का आह्वान करता है और यजुर्वेद का 'होता' यज्ञ का विधिवत सम्पादन करता है। आर्यों का विश्वास था कि यज्ञों के द्वारा देवता प्रसन्न होते थे, उनके ही परिणाम स्वरूप वृष्टि होती थी, अन्न और फल आदि होते थ, तथा जनता सुख शान्ति का जीवन व्यतीत करती थी। यजुर्वेद के दो भाग हैं - कृष्ण यजुर्वेद और शुक्ल यजुर्वेद।

सामवेद :-

साम शब्द का अर्थ है प्रिय या प्रीतिकर वचन। कहीं गान को भी साम कहा गया है। देवों को प्रसन्न करने के लिये सामगान करने वालों को 'उदगाता' और उसके कार्य को 'औदगात्र' कहते हैं। अनेक विचारकों का मानना है कि सामगान सोम बनाने के समय और चंद्रलोक में निवास करने वाले पूर्वजों की पूजा के समय विशेषतया गाया जाता था।

अथर्ववेद :-

अथर्वा ऋषि के द्वारा परिदृष्ट और आविष्कृत होने के कारण इस वेद का नाम अथर्ववेद पड़ा। वेद विद्या को त्रयी कहते हैं अथवा वेद का एक नाम त्रयी है। त्रयी से ऋक्, यजु: और साम का ही बोध होता है। अतएव कुछ विद्वान अथर्ववेद को वेद नहीं मानते, यथार्थ में वेद चार हैं और अथर्ववेद उनमें चौथा है। अथर्ववेद में तीन बातों की प्रधानता है - मंत्रों, औषधियों, विभिन्न प्रकार के टोटकों और यंत्रों के प्रयोग से इस लोक में सारे विश्व के दुख -दारिद्रय, विघ्न-बाधा और रोग शोक का निवारण करके कल्याण की प्राप्ति; यज्ञों स्वर्गलोक के सुख ; और ब्रह्म विद्या के बल से मोक्ष की उपलब्धि।

ब्राम्हण ग्रंथ :-

इन ग्रंथों का नाम प्रधानतय: (ब्रह्मा) यज्ञ का प्रतिपादन करने के कारण ब्राह्मण - ग्रंथ पड़ा। ब्राह्मण ग्रंथों की संख्या अट्ठारह बताई गई है। इनमें यज्ञ की बड़ी महिमा बताई गई है और कहा गया है कि यज्ञ सभी कर्मों में श्रेष्ठ कर्म है। यज्ञ के द्वारा मनुष्य सारे पापों से छूट जाता है ; अश्वमेघ यज्ञ करने वाला सारे पापों और ब्रह्म हत्या को विनष्ट कर डालता है। समय के साथ - साथ यज्ञों और कर्मकाण्डों की प्रतिष्ठा बढ़ती गई ये कर्मकाण्ड जटिल हो गये। इनके विधान तथा क्रियाओं को समझाने के लिए नये साहित्य का प्रार्दुभाव हुआ जो ब्रह्म साहित्य के नाम से विख्यात है। ब्रह्म का अर्थ है यज्ञ। अत: यज्ञ के विषयों का प्रतिपादन करने वाले ग्रंथ ब्राह्मण कहलाये अधिकांश ब्राह्मण ग्रंथ गद्य में लिखे गये हैं, परंतु कहीं कहीं पद्य भी प्राप्त होता है। ऐतरेय ब्राह्मण के ४० अध्याय है। इसका शेष भाग सोम यज्ञ से संबंध रखता है और शेष भाग में राज्याभिषेक, महोत्सवों में राजपुरोहितों के अधिकारों का वर्णन है। शतपथ ब्राह्मण १०० अध्यायों में विभक्त है इसी कारण इसे शतपथ ब्राह्मण कहा गया।

आरण्यक ग्रंथ :-

आरण्यक और उपनिषद ग्रंथ ब्राह्मण ग्रंथों के ही अंतर्गत आते हैं। ''आरण्यक'' शब्द का अर्थ ब्राम्हणों से संबंधित उन धार्मिक तथा दार्शनिक ग्रंथों से है, जिनकी या तो आरण्यों (वन) में रचना हुई हो या जिनका अध्ययन वन में होता रहा हो, जैसे ऐतरेयारण्यक, वृहदारण्यक और तैत्तिरीयारण्यक। प्रत्येक वेद अथवा वेदों की प्रत्येक शाखा में अनेक आरण्यक है। इन ग्रंथों का अध्ययन वानप्रस्थी लोग किया करते थे। गृहस्थों के यज्ञों का विवरण ब्राह्मण ग्रंथो में है और वानप्रस्थ आश्रम में जीवन बिताने वालों के यज्ञ, महाव्रत, हौत्र आदि का विवरण आरण्यकों में है। इसमें अध्यात्मिक रूप का विवेचन है ।

उपनिषद् ग्रंथ :-

उप का अर्थ ही समीप और निषद् का अर्थ है बैठना। कुछ विद्वानों के अनुसार जिस रहस्य विद्या का ज्ञान के गुरु समीप बैठकर प्राप्त किया जाता था उसे 'उपनिषद्' कहते थे। सभी वेदों आरण्यकों आदि की भांति उपनिषद् हैं। इस समय केवल दस उपनिषद प्रमाणिक है ; जिनमें से मुख्य के नाम निम्न प्रकार है -

ईशोपनिषद्, कठोपनिषद्, केनोपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद्, और मुण्डकोपनिषद् आदि। उपनिषद् इस बात का उपदेश देते है कि किस फल की प्राप्ति के लिए कौन सा वेदोक्त कर्म करना चाहिये। कर्म करने के लिए जन्म लेना और मरना आवश्यक है, परन्तु जीव का चरम ध्येय जीवन मरण से छुटकारा पाना अथवा मोक्ष की प्राप्ति है। उपनिषद् बताते है कि जीव किस प्रकार से मोक्ष पा सकता है, जीवात्मा को कर्म निरक्षेप होकर ब्रह्म अध्ययन से ही शास्वत शांति मिल सकती है। जो वेदों का अंत अर्थात वेदांत है वही उपनिषद् है। वेदांत और उपनिषद् दोनों का एक ही विषय है और वह विषय है ब्रह्मज्ञान।

वेदांग और उपवेद :-

शरीर के विभिन्न अंगों की भांति वेदों के भी कुछ अंग हैं, जिनके बिना कोई भी वैदिक कृत्य पूर्ण नहीं हो सकता। इन अंगों के जाने बिना वैदिक कार्यों का संपादन ठीक प्रकार से नहीं हो सकता। वेदों के छ: वेदांग हैं - शिक्षा, कल्प (कल्प सूत्र), व्याकरण, निरूक्त, छन्द, ज्योतिष। यास्क द्वारा रचित निरूक्त में वैदिक शब्दों की निरूक्ति बताई गई है। वैदिक साहित्य में विभिन्न प्रकार के छन्दों का प्रयोग हुआ है, अत: उस काल में कोई छन्द शास्त्र भी रहा होगा। इसके अतिरिक्त उपवेद भी है। जिनका स्तर वेदों से नीचा हो वह उपवेद है। प्रत्येक वेद का एक उपवेद है अर्थात उपवेद भी चार हैं - ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद (चिकित्सा विज्ञान), यजुर्वेद का धनुर्वेद (सैन्य शास्त्र), सामवेद का गंधर्ववेद (संगीत शास्त्र) और अथर्ववेद का अर्थशास्त्र या स्थापत्यवेद है।

सूत्र ग्रंथ :-

इसका शाब्दिक अर्थ है : एक छोटा नियम या एक वाक्य जो किसी नियम को याद रखने के काम आता हो या किसी रचना के जिसमें ऐसे नियम दिये गये हों। जब कर्मकाण्ड विषयक साहित्य इतना विशाल और विस्तीर्ण हो गया कि उसका स्मरण रखना मानव के लिए कठिन हो गया तो वैदिक ऋषियों ने उसे सूत्रों में ढाल दिया। सूत्र वे छोटे-छोटे वाक्य होते हैं , जिनमें शब्द तो थोड़े होते हैं पर वे अर्थ से परिपूर्ण रहते हैं। कर्मकाण्ड विषयक सूत्र तीन प्रकार के हैं - स्रोत सूत्र, गृह सूत्र और धर्मसूत्र। ये सम्मिलित रूप में कल्प सूत्र कहलाते हैं। कल्प छ: वेदांगों में से एक है। स्रोत सूत्र में श्रुतिनिहित यज्ञादि

कर्म का वर्णन है; गृहकार्य के संपादन, गृहस्थों के पाक यज्ञ आदि का वर्णन गृह सूत्रों में है और परमार्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक आचार के आधार धर्मसूत्र हैं। उपलब्ध धर्मसूत्रों मे सबसे प्राचीन गौतम धर्मसूत्र माना जाता है; उसके बाद आपस्तम्भ, बौधायन और वशिष्ट धर्मसूत्र आते हैं। इन विभिन्न सूत्रों से सम्बंधित शिक्षक, जिनके नाम पर ग्रंथों के नाम पड़े हैं, देश के भिन्न -भिन्न भागों में रहते थे। ऐसा माना जाता है कि वशिष्ठ उत्तरी भारत में रहते थे और बौधायन दक्षिण में रहते थे और सम्भवतया आपस्तम्भ भी दक्षिण में ही रहते थे।

धर्मशास्त्र :-

धर्मशास्त्रों में प्रमुख स्थान स्मृतियों का है, जिनका हिन्दुओं के सामाजिक और वैयक्तिक जीवन में बड़ा महत्व है। प्राचीन भारतीय सभ्यता कि ऐतिहासिक विकास में मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति का बड़ा महत्वपूर्ण भाग रहा है। ये धर्मशास्त्र उससे भी पूर्व लिखे गये धर्मसूत्रों से भिन्न है जबकि धर्मसूत्र प्राचीन वैदिक विचारधाराओं से संबंधित है। मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति प्रचीन वैदिक परंपरा के सुविख्यात संतों व ऋषियों द्वारा लिखी गयीं और वे एक प्रकार से संपूर्ण धर्मसंहिताऐं हैं, जिनमें आर्य जाति के सभी वर्गों एवं समूहों के लिये धार्मिक नियम दिये हैं। मनु और याज्ञवल्क्य के राजनीतिक विचारों पर प्राचीन ब्राह्मण ग्रंथों, स्मृतियों और अर्थशास्त्रों का प्रभाव प्रधान है।

हिन्दुओं का कानूनी साहित्य तीन वर्गों में विभाजित है : धर्मसूत्र, धर्मशास्त्र और टीकाएँ। इन तीन वर्गों में धर्मशास्त्रों का महत्व अधिक है और धर्मशास्त्रों में सर्वप्रमुख स्थान मनुस्मृति अथवा मानव धर्मशास्त्र का है। इसे हिन्दू कानून की संपूर्ण कट्टर पद्धति की आधारशिला माना जाता है और हिन्दुओं के साधारण एवं कानूनी साहित्य ने इसे सर्वसम्मति से सर्वोच्च ग्रंथ समझा है। याज्ञवल्क्य स्मृति में दिये गये कानून बहुसंख्यक हिन्दुओं के लिए आज भी मान्य हैं। मनु स्मृति केवल धर्मशास्त्र ही नहीं वरन् एक ऐसा ग्रंथ है जिसमें मनुष्य के संपूर्ण सामाजिक जीवन की व्यवस्था दी गई है। इसमें मनुष्य के सामाजिक जीवन के उन सिद्धांतों का वर्णन किया गया है, जिन्हें सभी कालों और देशों में लागू किया जा सकता है अर्थात जिसका महत्व सर्वव्यापी है। इन धर्मशास्त्रों का महत्व इस कारण से है कि ये हिन्दू शासन पद्धति के सिद्धांतो के सबसे महत्वपूर्ण स्रोत हैं। उनका जीवन सम्बंध जीवन के संपूर्ण क्षेत्र से है और उनमें प्रत्येक विषय के बारे में नियम दिये गये हैं। इनमें क्षत्रियों के कर्तव्यों के वर्णन में प्रशासन के विषय में भी विवेचन किया गया है। जब ये सभी वर्णों और आश्रमों के कर्तव्यों का विवेचन करते हैं तो वे शासन के सभी सिद्धांतों की ओर संकेत करते हैं। हिन्दुओं के कानूनी ग्रंथों में सबसे प्रसिद्ध मनु का धर्मशास्त्र है। जो आज भी करोड़ों हिन्दुओं के विचारों और जीवन को प्रभावित करता है।

पाश्चात्य जगत के लिये मनु स्मृति ऐसे ग्रंथों में सबसे अधिक जाना हुआ ग्रंथ है। यह हिन्दु कानून पर सबसे प्राचीन ग्रंथ है। वशिष्ठ और गौतम के ग्रंथों में मनु के विलुप्त ग्रंथ से उद्धरण दिये गये हैं, यह बात मनुस्मृति की प्राचीनता का अनुसमर्थन करती है। परम्परा के अनुसार हिन्दू तो मनु को प्रथम विधिवेत्ता मानते है; और अन्य विधि संग्रहों के बीच मतभेद की दशा में मानव धर्म संहिता को प्राथमिकता दी जाती है। मनु कौन थे ? पौराणिक दृष्टि से, मनु मानव जाति के जनक तथा प्रथम विधिदाता थे। उनका वर्णन प्राचीन भारतीय राजाओं में प्रथम और महानतम राजा के रूप में किया जाता है।

मनुस्मृति की रचना का निश्चित समय (काल) बताना कठिन है। परंतु इसमें ऐसे श्लोक और विचार है जो अति प्राचीन प्रतीत होते हैं। और महाभारत में भी कई स्थानों पर मनु आता है। प्राचीन हिन्दु परम्परा के अनुसार मनु मनुष्यों का प्रथम राजा था। यद्यपि मनु के वचन या श्लोक अतिप्राचीन थे, परंतु समय बीतने पर उनमें वृद्धि होती रही और अंत में वे वर्तमान 'मनुस्मृति' या मानव धर्मशास्त्र के रुप में संग्रहीत कर लिये गये जो बहुत बाद की रचना है। मनु स्मृति बौद्ध युग के बाद की रचना है। मैक्समूलर का मत है कि मनु स्मृति चौथी शताब्दी के बाद लिखी गई। डॉ जाली ने इसे याज्ञवल्क्य स्मृति से पूर्व लिखा ग्रंथ माना है और याज्ञवल्क्य स्मृति की रचना ईसा की प्रथम या दूसरी शताब्दी के पूर्व नहीं मानी जा सकती। इसी संदर्भ में डॉ जयसवाल का मत मान्य प्रतीत होता है। मनु स्मृति की रचना ईसा से दो शताब्दी पूर्व तथा दो शताब्दी बाद के मध्य काल में हुई।

याज्ञवल्क्य स्मृति की रचना का काल १५० और २०० ई. के मध्य माना जाता है। इसके प्रारंभ में मनु , अत्रि, विष्णु, हारीत इत्यादि स्मृतियों के नाम दिये गये है। इससे स्पष्ट है कि इन सब स्मृतियों को देखकर सबका सार लेकर लेखक ने अपनी स्मृति बनाई है। डॉ. बेनी प्रसाद के अनुसार यह एक मौलिक ग्रंथ की अपेक्षा संग्रह अधिक है। यह ग्रंथ ऐसे समय लिखा गया जबकि मलेच्छो का शासन था, किंतु इसमें उनके प्रति किसी प्रकार की शत्रुता का संकेत नहीं मिलता। यह विशुद्धत: वैज्ञानिक ग्रंथ है, लेखक के वैज्ञानिक और पक्षपातरहित दृष्टिकोण के कारण इस ग्रंथ को संपूर्ण भारत में मान्यता प्राप्त हुई।

वेद को श्रुति और स्मृतियों को धर्मशास्त्र कहा गया है। धर्मशास्त्रों में उन अनेक कर्मों का विधान दिया गया है जिनसे मनुष्य को स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त होता है। जिस कर्म के करने से शारीरिक और मानसिक भावों की उन्नति और सत्वगुण की वृद्धि होती हो वही धर्म है। इसके विरूद्ध जिस कर्म के करने से तमोगुण क्रोध, मोह आदि के भावों में वृद्धि होती हो, वही अधर्म है। जो धारण के लिए है वही धर्म है। इसको धारण किये बिना लौकिक और पारलौकिक सत्य और सुख मनुष्य को कभी प्राप्त नहीं हो सकते।

जहां अनन्य स्मृतियों में से किसी में अर्थ का प्रतिपादन किया गया है तो किसी में काम या

धर्म का ; किन्तु एकमात्र मनुस्मृति में ही काम, अर्थ, मोक्ष तथा धर्मरुप चारों पुरूषार्थों का विशद रूप से प्रतिपादन किया गया है। इसके अतिरिक्त इस ग्रंथ में वर्णधर्म, आश्रमधर्म, वर्णाश्रमधर्म, गुणधर्म, तथा सामान्य धर्म अदि के विभिन्न रूपों का भी विशद रूप से प्रतिपादन किया गया है। मनुस्मृति में सामान्य धर्म की व्याख्या इस प्रकार की गई है - धर्मात्मा एवं राग-द्वेष से रहित विद्वानों द्वारा सर्वदा सेवित और हृदय से अच्छी तरह जाना गया जो धर्म है उसे सुनो। सब वेद, वेदों को जानने वाले स्मृतियां और ब्राह्मणत्व आदि तेरह प्रकार के शील या राग-द्वेष-शून्यता, महात्माओं का आचरण और अपने मन की प्रसन्नता, ये सब धर्म के मूल हैं। वेदों और स्मृतियों में कहे गये धर्म का अनुष्ठान करता हुआ मनुष्य इस संसार में यश पाता है और धर्मानुष्ठान से जन्य स्वकर्मादि उत्तम सुख को पाता है। अतएव वेद स्मृति में प्रतिपादित धर्म का पालन करना चाहिये। याज्ञवल्क्य के मतानुसार अट्ठारह पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र और व्याकरण आदि छः अंगो सहित चार वेद ये चौदह विद्या के अर्थात पुरूषार्थ, ज्ञान और धर्म के कारण हैं। मनु, अत्रि, विष्णु, हारीत, आपस्तम्भ, पाराशर और वसिष्ठ आदि धर्मशास्त्र के मुख्य जानने वाले हैं। श्रुति अर्थात वेद, स्मृति, धर्मशास्त्र, धर्मशील लोग जो काम करते आये हों, अपनी आत्मा को जो प्रिय हैं और श्रुति संकल्प से उत्पन्न जो कामना है, ये सब धर्म के मूल हैं। यज्ञ, सदाचार, इन्द्रियों का दमन, जीव का वध न करना दान और वेद आदि पढ़ना आदि से बड़ा धर्म योग द्वारा आत्मा का दर्शन करना है। मनुस्मृति में बारह अध्याय हैं यथा - संसार की उत्पत्ति, जातकर्मादि संस्कार विधि, ब्रह्मचर्य ; पंचमहायज्ञ, नित्य श्राद्ध विधि, स्नातक के नियम, भक्ष्य तथा अभक्ष्य पदार्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रम, व्यवहार के मुकदमों का निर्णय, करग्रहण तथा राजधर्म, साक्षियों से प्रश्न विधि, स्त्री तथा पुरूष के धर्म, आपत्तिकाल के कर्तव्य धर्म, पाप की निवृत्ति के लिये प्रायश्चित आदि तथा मोक्षप्रद आत्मज्ञान। याज्ञवल्क्य स्मृति अनेक प्रकरणों में विभाजित हैं, जिनमें से मुख्य के शीर्षक इस प्रकार हैं। ब्रम्हचर्य, विवाह, गृहस्थधर्म, स्नातक धर्म दानधर्म, राजधर्म, दाय-विभाग इत्यादि।

अर्थशास्त्र :-

कौटिल्य को शासन-कला तथा कूटनीति का सबसे महान प्रतिपादक माना जाता है। कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' राजशास्त्र का सबसे महत्वपूर्ण ग्रंथ है , जिसका एक विषय राजनीति है। सलेटोरे के अनुसार, 'प्राचीन भारत की राजनीतिक विचारधाराओं में सबसे अधिक ध्यान देने योग्य कौटिल्य की विचारधारा है' । उसका महत्व चार कारणों से है - पहला - कौटिल्य का अर्थशास्त्र पूर्णगामी सभी अर्थशास्त्रों का संग्रह अथवा सार है। कौटिल्य का उद्देश्य पूर्णतया व्यवहारिक था और अर्थशास्त्र की रचना इहलोक तथा परलोक की प्राप्ति के मार्गदर्शन हेतु की गई है दूसरा - कौटिल्य वास्तव में यथार्थवादी था और उसने ऐसी समस्याओं के विषय में लिखा है जिनका मनुष्य को इहलोक में सामना करना पड़ता

है। तीसरा - राज्य के विषय में लिखने वाले सभी महान लेखकों व शिक्षकों में कदाचित वह अकेला है जिसने राजनीति के विषय में स्वतंत्र रूप से अर्थात उसे धर्म से पृथक करके लिखा है। चौथा - कौटिल्य ने देश को एक सुदृढ़ व केन्द्रीयकृत शासन प्रदान किया जैसा कि उससे पूर्व कभी भारतीयों ने न जाना था। रामास्वामी का कथन है - कि अर्थशास्त्र से पूर्व की रचनाओं में इधर उधर बिखरी हुई राजनीतिक बुद्धिमत्ता और शासन कला के सिद्धांतों एवं कला का संग्रह है; कौटिल्य ने शासन कला के एक पृथक और विशिष्ट विज्ञान की रचना करने के प्रयत्न में उनका नये रूप में निर्वचन किया है।

बान्धोपाध्याय के अनुसार, महाकाव्यों तथा पुराणों के वीर पुरूषों के बाद भारतीयों का अन्य किसी नाम से इतना परिचय नहीं है जितना कि चाणक्य के नाम से। संपूर्ण भारत में अध्ययन आरंभ करने वालों में अभी तक उनके नाम से सम्बंधित नीतियाँ सिखाई जाती हैं। चाणक्य को कौटिल्य और विष्णुकगुप्त भी कहा जाता है। अर्थशास्त्र के रचियता ने अपना नाम कौटिल्य बताया है, जिसका अर्थ कुटिलता है (कुटिलता के उपासक को कौटिल्य कहा जाता है), परंतु गणपति शास्त्री ने उनका नाम कौटल्य बताया है, जिसका अर्थ है कुटल गोत्र का वंशज। इस विषय में देवदत्त शास्त्री का मत इस प्रकार है : कूट अथवा अन्न से भरे हुये बर्तन को कूटल (अवधी में कोठिला) कहते हैं; जो ब्राह्मण वर्ष भर के लिए अनाज को बर्तन में भरकर संचित करते हैं उन्हें कूटल कहा जाता था। सम्भवत: चाणक्य के पूर्वज इसी वृत्ति से अजीविका चलाते रहे होगें। इसीलिये उनके कुल में उत्पन्न होने के कारण वह कौटिल्य कहलाये। साथ ही 'चणक' गोत्र में उत्पन्न होने के कारण विष्णुगुप्त चाणक्य कहलाये। भारतीय कौटिल्य को पारंगत राजनीतिज्ञ तथा मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त के प्रख्यात मंत्री के रूप में जानते हैं। उनके नाम माहात्म्य कथाएँ पुराणों से लेकर काव्य नाटक और कोष-ग्रंथों में सर्वत्र परिव्याप्त हैं। कौटिल्य द्वारा नंद-वंश के विनाश और मौर्य-वंश की प्रतिष्ठा से संबंधित कथा विष्णु पुराण में मिलती है।

अर्थशास्त्र के रचियता और रचना काल के विषय में दो मत रहे हैं। विंटरनित्स, डॉ. जॉली और कीथ आदि का मत है कि यह ग्रंथ ईसवी सन् की प्रारंभिक शताब्दियों में लिखा गया। विंटरनित्स का कहना है कि यदि यह ग्रंथ कौटिल्य की कृति है तो इसमें ग्रीक इतिहासकारों द्वारा वर्णित मौर्य साम्राज्य एवं शासन व्यवस्था का वर्णन क्यों नहीं मिलता। डॉ. जॉली का कथन है कि धर्मो और कानून के संबंध में कौटिलीय अर्थशास्त्र और याज्ञवल्क्य स्मृति के रचनाकाल (ईसवी तीसरी शताब्दी) में हुई होगी। उसने अपने मत के समर्थन में अन्य तर्क भी दिये हैं। डॉ. जायसवाल ने कलकत्ता विश्वविद्यालय में दिये टैगोर व्याख्यानों में इन सभी तर्कों का खण्डन किया है। डॉ. जायसवाल, डॉ. शामशास्त्री, गणपति शास्त्री, फ्लीट और स्मिथ ने यह माना है कि अर्थशास्त्र मौर्य सम्राट चंद्रगुप्त के प्रख्यात मंत्री कौटिल्य की कृति है। इस विषय में शामशास्त्री ने लिखा है :- भारतीय शिलालेखों में की गई खोजों से पता चलता है कि चंद्रगुप्त

को ३२१ ई. पू. राजा बनाया गया था और अशोकवर्धन २९६ ई. पूर्व राजसिंहासन पर बैठा था। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि कौटिल्य ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ ३२१ और ३०० ई. पू. के बीच लिखे।

अर्थशास्त्र के रचियता का नाम विष्णुगुप्त था, इस तथ्य को स्वयं लेखक ने अपने ग्रंथ की समाप्ति पर स्वीकार करते हुये लिखा है जिसने शस्त्र, शास्त्र और नन्द राजा के अधीन भूमि का उद्धार अपने क्रोध से किया, उसी विष्णुगुप्त ने इसी अर्थशास्त्र की रचना की है। अर्थशास्त्र की समाप्ति में 'स्वयमेव' विष्णुगुप्त और आरंभ में कौटिल्य ने लिखा गया है। इससे स्पष्ट है कि विष्णुगुप्त का दूसरा नाम कौटिल्य था, जिसने 'नरेन्द्र' हेतु अर्थात चंद्रगुप्त के लिये शासन विधान के रूप में अर्थशास्त्र की रचना की। अर्थशास्त्र के अंतिम श्लोकों से भी यह ज्ञात होता है कि कौटिल्य ने अपने क्रोध द्वारा नंदराज के अधीन राज्य का उद्धार किया। इस अकाट्यप्रमाण के अतिरिक्त कामन्दक अपने ग्रंथ नीतिसार में इस विषय की पुष्टि करते हुये लिखते हैं - नीतिसार का आधार उसी विद्वान का ग्रंथ है, जिसके वज्र ने पर्वत की भांति अविचल और अडिग नंदवंश को उखाड़ फेंका था, जिसने चंद्रगुप्त को पृथ्वी का स्वामित्व दिया और जिसने अर्थशास्त्र रूपी समुद्र का मन्थन कर नीतिशास्त्र रूपी नवनीत (अमृत) निकाला, उसी विद्वान तथा ब्रह्म जैसे विष्णुगुप्त को नमस्कार।

कौटिल्य ने अपने ग्रंथ में अर्थ एवं अर्थशास्त्र की संक्षिप्त परिभाषा दी है। उसके अनुसार मनुष्य की वृत्ति (जीविका) अर्थ है और जिस भूमि पर मनुष्य रहते है वह भी अर्थ है। अस्तु, वह शास्त्र अर्थशास्त्र है जिसमें मनुष्यों वाली भूमि के लाभ और उसके पालन करने के उपायों का वर्णन किया गया हो। कौटिल्य ने अर्थ और अर्थशास्त्र को व्यापक अर्थ में समझा है इस दृष्टि से अर्थशास्त्र का विस्तार मनुष्य जीवन के उन कार्यों तथा क्षेत्रों तक ही सीमित नहीं रहता जिसमें वह धन उत्पादन, उसके वितरण और उपभोग से संबंधित कार्यों के सम्पादन हेतु उद्योग करता है। अर्थशास्त्र मनुवती भूमि की प्राप्ति के उपाय बताता है और उन उपायों द्वारा प्राप्त की गई भूमि में सुव्यवस्था स्थापित करने तथा मनुष्यों के भरण पोषण के उपायों को भी बताता है। इस प्रकार अर्थशास्त्र में शासन व्यवस्था का पूर्ण विवेचन आ जाता है। शुक्रनीति में भी अर्थशास्त्र की परिभाषा दी गई है जो इस प्रकार है - जिसमें श्रुति और स्मृति के अनुकूल राजनीति का वर्णन हो तथा धर्म एवं युक्तिपूर्वक अर्थ के उपार्जन के नियमों का वर्णन किया गया हो वह अर्थशास्त्र कहलाता है।

भारत में अर्थशास्त्र संबंधी विचार अतिप्राचीन काल से मिलते हैं। मनुष्य जीवन के चार लक्ष्य - धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष बताये गये हैं; इनमें से प्रथम तीन को कौटिल्य ने त्रिवर्ग कहा है। उन्हीं तीनो लक्ष्यों -अर्थों को स्पष्ट करने और उन्हें प्राप्त करने के उपायों आदि के विवेचन हेतु ऋषि मुनियों ने प्राचीन काल में धर्मशास्त्रों, अर्थशास्त्रों और कामशास्त्रों की रचना की थी। इस विषय में बंधोपाध्याय ने

लिखा है : यदि हम पुराणों में समाविष्ट कट्टर परम्परा में विश्वास करें तो ये अर्थशास्त्र अथर्ववेद का एक अंग थे, जिसे उपवेद समझा गया। अध्ययन की इस शाखा का उदय भौतिक संसार में सफलता प्राप्त करने के उपायों का पता लगाने की आवश्यकता से हुआ। इन ग्रंथों के लेखकों ने कृषि, पशुपालन, जहां तक व्यक्ति का संबंध है विश्व में समृद्धि प्राप्त करने, राजाओं की सफलता और राज्यों की उन्नति आदि विषयों का विवेचन किया। देवदत्त शास्त्री ने लिखा है : धार्मिक वाङ्मय की भांति अर्थ के वाङ्मय का भी अत्यंत विस्तृत और स्वतंत्र क्षेत्र है। धर्मसूत्रों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय धर्म या विधान ही है, किंतु अर्थशास्त्र में सभी आर्थिक सिद्धांतो और नियमों का विवेचन है. का मुख्य विषय राजनीति ही है। मानव मात्र के समस्त लौकिक कल्याणों का स्वरूप अर्थशास्त्र के अंतर्गत निहित है।

कृष्णराव के अनुसार अर्थशास्त्र का सर्वाधिक महत्व इस बात में है कि इसने भारतीय स्वभाव और चरित्र की पारलौकिकता की ओर अधिक झुके होने की प्रवृत्ति के दोष को सुधारने का कार्य किया। जबकि वैदिक साहित्य, महाभारत, और मनु के राजनीतिक विचारों का विवेचन मानव जीवन ओर कर्तव्यों के सामान्य विवेचन के संबंध में किया गया है, कौटिल्य के अर्थशास्त्र में उनका एक स्वतंत्र विषय के रूप में विवेचन किया गया है। महाभारत में अनेक अर्थशास्त्रों का उल्लेख है, परंतु कौटिल्य का अर्थशास्त्र अपने विषय का सबसे पुराना ग्रंथ उपलब्ध है। इसमें राजशास्त्र का समाजशास्त्र की जन्म शाखाओं से स्पष्ट अंतर किया गया है। परंतु यह बात मानी गई है कि इसका अन्य शास्त्रों से संबंध है। धर्म और नीतिशास्त्र से इसने वह मूलभूत सिद्धांत लिया कि इस संसार तथा अगले संसार में मनुष्यों के सुख को प्रोत्साहित करना चाहिये। उसी स्रोत से इसने सामाजिक संगठन के कुछ सिद्धांत - जनता का चार वर्गों में विभाजन और व्यक्ति का चार आश्रमों में विभाजन किये हैं। धर्म और नीतिशास्त्र में राजशास्त्र के संगठन की योजना के आदर्श को लिया है। इसमें अर्थशास्त्र इस प्रकार गुंथा हुआ है कि इसे अलग नहीं किया जा सकता। तथ्य तो यह है कि वार्ता (अर्थशास्त्र) और दण्डनीति (राजशास्त्र) एक दूसरे में विलीन हो गये है। और अर्थशास्त्र सांसारिक समृद्धि या जन-कल्याण के रूप में सामने आये हैं।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में पंद्रह अधिकरण है यथा - विनयाधिकारिक, अध्यक्षप्रचार, धर्मस्थीय, कण्टकशोधन, योगवृत, मण्डलयोनि, षाड्गुण्य, व्यसनाधिकारिक, अभियास्तकर्म, सांग्रमिक, संधवृत्त, आबलीयस, दुर्गलम्भोपाय, औपनिषदक्, त्रन्त्रयुक्ति इत्यादि।

आनवीक्षकी, त्रयी और वार्ता, इन सभी विधाओं की सुख समृद्धि दण्ड पर निर्भर है। दण्ड (शासन) को प्रतिपादित करने वाली नीति ही दण्ड नीति है। दण्डनीति ही अप्राप्त वस्तुओं को प्राप्त करने वाली प्राप्त हुये धन की रक्षा कराने में तत्पर और संवर्धित वस्तुओं को समुचित कार्यों में लगाने का निर्देश करती है। इसी पर संसार की लोक यात्रा निर्भर है ; अत: लोक को समुचित मार्ग पर चलाने के लिये राजा

को सदा ही दण्ड देने के लिये प्रस्तुत रहना चाहिये। प्राचीन आचार्यों का मत है कि सभी प्राणियों को सहज ही वश में करने के लिये दण्ड के अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय नहीं हैं। परंतु कौटिल्य का कथन है कि कठोर दण्ड देने वाले राजा से सभी प्राणी उद्विग्न हो जाते थे और नरम दण्ड देने से प्रजा तिरस्कार करने लग जाती है। अत: राजा को समुचित दण्ड देना चाहिये। यदि दण्ड समझ-बूझकर दिया जाये तो वह प्रजा को धर्म, अर्थ और काम में प्रवृत करता है। दण्ड द्वारा सुरक्षित हुये चारों वर्णों और आश्रम के सदस्य अपने-अपने धर्म और कर्म में लगे रहते हैं। और अपने -अपने मार्ग पर चलते हैं। कौटिल्य का मत है कि दण्डनीति का संबंध चार बातों से है अलब्धलाभार्थ, लब्ध परिरक्षण, रक्षितविवर्धिनी और वृद्धेष्य तीर्थेषु प्रतिप्रदानी अर्थात जो प्राप्त नहीं हुआ उसे प्राप्त करना, जो प्राप्त हो गया है उसका परिरक्षण करना, जिसका परिरक्षण किया है उसकी वृद्धि करना और जिसकी इस प्रकार से वृद्धि की गई है उसे योग्यता के अनुसार वितरित करना। इस प्रकार दण्डनीति का संबंध, त्रिवर्ग के दूसरे तत्व 'अर्थ' से है , जिसका प्रयोग सभी वर्गो के व्यक्ति सम्पत्ति पाने के लिये करते हैं और जिसके द्वारा धर्म की पूर्ति होती है।

मेबेट के मतानुसार अर्थशास्त्र यथार्थ प्रशासन के अनुभव पर आधारित नहीं है। यह एक विशेष प्रकार के नियमों का संग्रह है और इसी कारण इसे एक अनोखा शास्त्र कहा गया है। इसमें विहित किये गये नियम व्यवहारिक होने की अपेक्षा आदर्श अधिक है। परंतु यह इस बात के लिये विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि इसमें राजनीतिक गतिविधियों के सम्पूर्ण क्षेत्र का विस्तारपूर्ण विवेचन किया गया है। विदेश संबंधों का सभी पहलुओं से विश्लेषण और वर्गीकरण किया गया है। इसके एक बड़े भाग में सामरिक महत्व की बातों का विवेचन किया गया है। प्रत्येक बात के बारे में तकनीकी सूचना भरी पड़ी है। न्याय के प्रशासन, जिसमें न्यायाधीशों की नियुक्ति, मुकदमों के सुनने की प्रक्रिया और दण्ड व्यवस्था सम्मिलत है ; विस्तार के साथ परीक्षा की गई है। भावी राजा के प्रशिक्षण और प्रशासन पर अनेक अध्यायों में विस्तृत विवरण प्राप्त होता है।

पुराण :-

'पुराण' का शाब्दिक अर्थ 'प्राचीन' है। अत: पुराण साहित्य में वह समस्त प्राचीन साहित्य सम्मिलित हैं। जिसमें भारत के धर्म, इतिहास, आख्यान, विज्ञान आदि का वर्णन हो। पुराणों का रचना-काल स्मृतियों से भी अधिक विस्तृत रहा। अथर्ववद में ही इतिहास पुराणों का उल्लेख आया है, जिसे कुछ विद्वानों ने बाद में पाँचवां वेद भी कहा है।

जिस प्रकार वैदिक संहिताओं में भारत के प्राचीन ऋषियों की सूक्तियां संगृहीत हैं, वैसे ही पुराणों में प्राचीन आर्य, राजवंशों व राजाओं के चरित, इतिवृत्त व आख्यान संगृहीत हैं। वेदों के समान ये

पुराण ग्रंथ भी अत्यंत प्राचीन हैं। पुराण वर्तमान समय में जिस रूप में मिलते हैं, वे चाहे बहुत पुराने न हों, पर उनमें संकलित अनुश्रुति अवश्य ही बहुत प्राचीन है। पुराणों का लक्षण इस प्रकार किया गया है -

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्च लक्षणम्॥

सृष्टि की उत्पत्ति किस प्रकार हुई, सृष्टि का प्रलय किस प्रकार होता है ; काल के विविध मन्वन्तर (विभाग) कौन से हैं, इन विविध मन्वन्तरों में किन वंशों ने शासन किया और इन वंशो व राजाओं के क्या चरित थे - इन पाँच बातों का वर्णन पुराणों में किया जाता है। मत्स्य, वायु, विष्णु, ब्राह्मण भागवत आदि पुराण ग्रंथों में प्राचीन आर्यो के वंशों एवं उनके चरितों का जो वर्णन संगृहीत है, इतिहास के लिये उसका बहुत अधिक उपयोग है। यह सत्य है कि पुराणों की यह अनुश्रुति प्राय: अस्पष्ट है। पर इसका ठीक तरह से अनुशीलन और विवेचन करके हम भारत के प्राचीन राज्यों उन पर शासन करने वाले राजवंशों और राजाओं के संबंध मे अच्छी जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। वेदों में जो राजाओं का कहीं कहीं प्रासंगिक उल्लेख आ जाता है, और जो अनेक गाथाएँ सूत्र रुप में मिल जाती हैं उनको भलीभांति समझना तभी संभव है जबकि पुराणों में उपलब्ध अनुश्रुति को दृष्टि में रखा जाय। इसीलिये महाभारत में कहा गया है -

इतिहास पुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंद्धेत।
विभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥

इतिहास और पुराण द्वारा वेदों के अर्थ को स्पष्ट करना चाहिये, अल्पश्रुत (अनुश्रुति से अपरिचित) व्यक्ति से वेद डरता है, कि यह मुझ पर प्रहार करेगा (मेरे अभिप्राय को ठीक नहीं समझेगा)। सुदास और उसके विरोधी राजाओं के युद्ध का जो उल्लेख सूत्ररूप से वेद में है, उसका ठीक अभिप्राय पौराणिक अनुश्रुति में विद्यमान सुदास व उसके विरोधी राजाओं की कथा से ही समझा जा सकता है। इसी प्रकार इन्द्र और मित्र, देव और असुर आदि के संग्राम की बात भी पुराणों द्वारा ही स्पष्ट होती है। इसमें संदेह नहीं कि पुराण भारतीय इतिहास के परिचय के लिये बहुत उपयोगी हैं। यह ठीक है, कि पुराणों में तिथिक्रम का सही उल्लेख नहीं मिलता। उसमें राजवंशों और राजाओं की जो तालिकाएँ दी गई हैं, उनमें किसी निश्चित संवत् का प्रयोग नहीं किया गया। प्राचीन भारतीय काल का विभाग चतुर्युग द्वारा किया करते थे। कृत, त्रेता, द्वापर और कलि - इन चार युगों में उन्होंने भारत के इतिहास को विभक्त किया था। पौराणिक अनुश्रुति से यह बात स्पष्ट हो जाती है, कि कौन सा राजा कलियुग के शुरू में हुआ, कौन से राजा द्वापर, त्रेता व कृतयुग के शुरू में हुये और कब कलियुग का अंत हुआ। प्राचीन आर्य राजाओं के पौर्वापर्व समय को निश्चित करने के लिये यह बात कम महत्व की नहीं है।

पुराणों के अतिरिक्त, वाल्मीकि रामायण और महाभारत संस्कृत साहित्य के दो ऐसे ग्रंथ हैं, जो प्राचीन भारतीय इतिहास के अनुशीलन के लिये बहुत उपयोगी है। रामायण में सूर्यवंश (ऐक्ष्वाकव) के राजा दाशरथि राम का वृतान्त बड़े विस्तार से दिया गया है। महाभारत में पौरववंश की दो शाखाओं (कौरव और पाण्डव) के पारस्परिक संघर्ष का इतिवृत्ति संकलित है। पर महाभारत के प्राचीन राजवंशों के साथ संबंध रखने वाले अन्य भी बहुत से आख्यान संगृहीत हैं, और इस विशाल ग्रंथ के अनुशीलन से प्राचीन भारतीय इतिहास पर बहुत विशद रूप से प्रकाश पड़ता है। नि:संदेह, महाभारत की रचना विशाल विश्वकोष के रूप में हुई है, जो न केवल प्राचीन आख्यानों, गाथाओं और इतिवृत्ति पर प्रकाश डालता है, अपितु साथ ही प्राचीन भारतीय राजनीति, आध्यात्मचिंतन और ज्ञान का प्रतिपादन करता है। रामायण और महाभारत का वर्तमान रूप चाहे वैदिक संहिता के समान अत्यंत प्राचीन न हो, पर यह निर्विवाद है कि इसमें प्राचीन भारतीय अनुश्रुति बड़े सुन्दर रूप में सुरक्षित है। इन्हीं ग्रंथों को प्राचीन समय में 'इतिहास' कहा जाता था। अत: ये भारत के प्राचीन आर्यों के इतिहास हैं। वैदिक और पौराणिक अनुश्रुति के समान महाभारत का संकलयिता भी मुनि वेदव्यास को ही माना जाता है।

पुराण की संख्या अट्ठारह है, परंतु इनमें से पांच का ऐतिहासिक महत्व है। ये हैं - मत्स्य, भागवत, विष्णु, वायु और ब्राह्मण पुराण। अन्य पुराणों के नाम इस प्रकार हैं - ब्रह्म, पद्म, शिव, नारदीय, मार्कण्डेय, अग्नि, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त, लिंग, वराह, स्कन्द, कर्म तथा गरूड़ पुराण। पुराणों में प्राचीन भारत के इतिहास, धर्म, आख्यान, विज्ञान, राजनीतिक स्थिति आदि का विस्तृत रूप से वर्णन है। कलियुग के बाद के वंशों का वृतांत पुराणों में भविष्यवाणी के रूप में दिया गया है। इसका कारण यह है कि अत्यंत प्राचीन काल से चली आ रही अनुश्रुति का संग्रह महाभारत युद्ध के पश्चात वेदव्यास ने किया था। अत: व्यास के समय तक इतिवृत्त का उल्लेख भूतकाल में किया गया है। बाद में पीछे के वृतांत भी पुराणों में जुड़ते गये। महाभारत युद्ध के बाद का इतिवृत्त भी पुराणों का भाग बनता गया। पर अनुश्रुति के अनुसार पुराणों का संगृहीता (व्यास) तो कृष्ण द्वैपायन मुनि वेदव्यास ही था, अत: पिछले इतिहास का संकलयिता भी उसे ही होना चाहिये था। इसलिये उसी के द्वारा भविष्य की सब घटनाओं का वर्णन भी भविष्यवाणी के रूप में करवाया गया। पर फिर भी कहीं कहीं उनमें भूतकाल का प्रयोग ही हो गया है। साधारणतया पुराणों के निर्माण का काल चौथी सदी ईसवी पूर्व से आठवी सदी ईसवी पूर्व तक समझा जाता है। पर इसका अभिप्राय इतना ही है कि इस काल में पुराण अपने वर्तमान रूप में आये।

नीतिशास्त्र :-

इस श्रेणी में प्रमुख स्थान कामन्दकीय नीतिसार और शुक्रनीति का है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के बाद राज्य और शासन पर लिखे गये ग्रंथों में कामन्दकीय नीतिसार और शुक्रनीति का महत्व अन्य सभी

ग्रंथों से बढ़कर है। डॉ. घोषाल के मतानुसार कामन्दकीय नीतिसार राज्य पर प्रथम ग्रंथ है जो काव्य में लिखा गया। लेखक यह दावा कर सकता है कि उसकी रचना संक्षिप्त है किन्तु अर्थ में परिपूर्ण है। इसका बाद में काफी प्रभाव रहा यह इस बात से प्रमाणित होता है कि इस पर कई टीकाएँ लिखी गयीं और राज्य पर लिखे गये अनेक ग्रंथों में इसके श्लोकों और उद्धरणों को दिया गया है। यद्यपि नीतिसार की गणना नीति पर लिखे गये ग्रंथों में होती है। किंतु अल्तेकर के मतानुसार व्यवहारत: यह कौटिल्य के अर्थशास्त्र का सारांश मात्र है। लेखक ने अपनी रचना की प्रस्तावना में स्वयं विष्णुगुप्त के वैदिक ज्ञान और दोहरे सफल प्रयास नंद राजा के विनाश के बाद चंद्रगुप्त मौर्य को सिंहासन पर बैठाने और अर्थशास्त्र के सागर से नीतिशास्त्र के अमृत को निकालने की ऊंची प्रसंशा की है तथा उसने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि उसकी रचना कौटिल्य जैसे महान विद्वान के ग्रंथ पर आधारित है। लेखक ने अपने ग्रंथ में अर्थशास्त्र के अन्य आचार्यों के मतों का भी प्रगणन किया है, किन्तु उसने कौटिल्य के मत को देते हुये अपना गुरू बताया है। लेखक ने अपनी रचनाओं की सीमाओं के भीतर कौटिल्य के विचारों व मतों को माना है और उसके तर्कों को स्वच्छंदतापूर्वक काव्यरूप में अपनाया है। नीतिसार उन्नीस सर्गों में विभाजित है और प्रत्येक सर्ग में पंद्रह से लेकर सत्तर तक श्लोक सम्मिलत हैं।

शुक्रनीति में २२०० श्लोक हैं, जैसा कि नीतिसार में स्वयं चौथे अध्याय के अंत से पूर्व कहा है। शुक्र के अनुसार इस नीतिसार का जो राजा दिन रात चिंतन करेगा वही राजभार को उठाने में समर्थ होगा। शुक्रनीति के समान दूसरी कोई नीति नहीं है ; व्यवहारी लोगों के लिए शुक्र की ही नीति है और सब कुनीति। शुक्रनीति विशेष रूप से इसी कारण ध्यान देने योग्य है कि इसमें हिन्दू राजनीतिक विचारों का अंतिम सारांश मिलता है और कुछ अल्प महत्व की नई विशेषताऐं भी इसमें मिलती है। कदाचित लेखक ने यह जानते हुये कि उसका भारतीय राजनीति के क्षेत्र में आगमन काफी बाद में हुआ, अपनी रचना को अति प्राचीन कालीन ग्रंथकारों की रचनाओं से जोड़ने का प्रयत्न किया।

नीतिसार के क्षेत्र के विषय शुक्र का मत अपने पूर्वगामी कामन्दक से भिन्न है। कामन्दक ने अपना ग्रंथ शासन कला के राजाओं की शिक्षा हेतु लिखा; परंतु शुक्र ने घोषित किया है कि उसका ग्रंथ राजाओं और दूसरों के हितार्थ लिखा गया है। उनके दृष्टिकोण में अंतर का प्रभाव दोनों ग्रंथों की विषय सूचियों में दिखाई पड़ता है। कामन्दकीय नीतिसार में इन विषयों का विवेचन किया गया है - राजा की शिक्षा और विनय, मंत्रियों से परामर्श करने की विधि, राज्य के विभिन्न अंगो के लक्षण, राजा की सुरक्षा के उपाय, राजपद्धति, अन्तर्राज्यों के संबंध में नीति, राजनीति संबंधी उपाय और युद्धकला। शुक्रनीति के चार अध्यायों में से पहले और दूसरे अध्याय में राजा, उसके महत्व और कर्तव्य, सामाजिक व्यवस्था, मंत्री और युवराज संबंधी विषयों का विवेचन किया गया है। तीसरे अध्याय में साधारण नीतिशास्त्र का

विवेचन है, जिसका संबंध राजा और अन्य सभी से है और चौथे अध्याय में जो सबसे अधिक लंबा है और जिसे मिश्र अथवा विविध विषय प्रकारण नाम दिया गया है, मित्रों, उदासीनों, शत्रुओं, अन्य स्रोत, राज्यक्षेत्र, विज्ञान व कलायें, मनुष्यों के कर्तव्य, वृक्ष लगाना, कुऐं खुदवाना, न्याय व्यवस्था, सेना आदि अनेक विषयों विवेचन है। अत: शुक्रनीति में शासन कला से कहीं अधिक सामग्री है ; इसमें सदाचरण और संपूर्ण नैतिकता का विवेचन किया है, शासन कला तो उसका एक अंग मात्र है, यद्यपि वह सबसे महत्वपूर्ण है। लेखक ने स्वयं लिखा है - अब प्रत्येक मनुष्य के हित संबंध की नीति का वर्णन किया जाता है। सारे प्राणियों की प्रवृत्तियाँ सुख के लिये देखी जाती हैं।

शुक्रनीति के महत्व में प्रो. अल्तेकर का कथन है : शुक्रनीति भी प्राचीन भारतीय राजतंत्र के अध्ययन के लिये बड़े काम की है। अन्य ग्रंथों के समान इसमें भी राज्य अथवा शासनतंत्र का सैद्धांतिक विवेचन नहीं किया गया है परंतु इसमें शासन व्यवस्था का जैसा सांगोमांग विवरण है वैसा अर्थशास्त्र के बाद किसी अन्य ग्रंथ में नहीं है। न्याय की व्यवस्था का भी इसमें पूरा विवरण है। प्रसंगवश समाजशास्त्र और समाजनीति के कुछ प्रश्नों पर भी विशद विचार किया गया है।

कामन्दक ने चार विधाएँ बताई है' - आन्वीक्षिकी(तर्क) त्रयी, वार्ता और दण्डनीति, जो मनुष्यों के योग क्षेम के लिये आवश्यक हैं। शुक्र ने ये चारों विद्याओं के महत्व को स्वीकार करते हुये कहा है कि राजाओं को इन चारों विद्याओं का सदा अभ्यास करना चाहिये। राजा को यत्न से नीतिशास्त्र का अभ्यास करना चाहिये, क्योंकि उसके ज्ञान से राजा व मंत्री आदि शत्रुओं को जीतते हैं और जगत के प्रिय होते हैं। इस शास्त्र के ज्ञान से राजा नीतिवान व कुशल हो जाता है। जैसे देहधारियों के लिये भोजन के बिना जीवन असंभव है, वैसे ही नीति के बिना संपूर्ण लोक का व्यवहार स्थित नहीं हो सकता। प्रजा का पालन और दुष्टों का नाश ये दोनों राजाओं के परम धर्म हैं। इन दोनों का पालन नीति के बिना नहीं हो सकता। जो राजा नीति का परित्याग करके स्वतंत्र वर्ताव करता है, वह दुख का भागी होता है, अपने कल्याण के अर्थ राजा को नीति धारण करनी चाहिये। जिस राजा के पास नीति और सेना की शक्ति विद्यमान है उसके पास लक्ष्मी सर्वतो मुखी होकर चली आती है। राजा को अपने हित के उद्देश्य से ऐसी नीति का अवलम्बन करना चाहिये जिससे सारा राष्ट्र बिना प्रेरणा के ही राजा के हित में तत्पर हो जावे। डॉ. बेनी प्रसाद के शब्दों में : शुक्र ने राजनीति (नीतिशास्त्र) की धारणा शासन कला के रूप में की है, जिसका निश्चित उद्देश्य सामान्य सुख को प्रोत्साहन देना है।

अन्य साहित्य :-

अन्य स्रोत के अंतर्गत संस्कृत के अन्य ग्रंथ, विदेशी लेखकों के ग्रंथ तथा इतिहास पर लिखे

गये अनेक ग्रंथों को सम्मिलत किया जा सकता है। संस्कृत की रचनाओं में पाणिनी का व्याकरण (अष्टाध्यायी), विशाखदत्त का मुद्राराक्षस (नाटक) कालीदास का रघुवंश (काव्य), बाण की कादम्बरी (गद्य), सूद्रक का मृच्छकटिक (नाटक), प्रबोध का चन्द्रोदय (नाटक) सुबन्धु का वासवदत्ता, पंचतंत्र सोमदेव के कथासरित् सागर, दण्डी का दशकुमार चरितं और बाण का हर्ष चरित उल्लेखनीय है। इनमें कहीं कहीं राजनीतिक विचारों व संस्थाओं का प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से वर्णन किया गया है। इनमें से पाणिनी का व्याकरण और कालिदास का रघुवंश विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। पाणिनी के व्याकरण में ही गण व संघ शब्दों के अर्थ और उनसे बनने वाले शब्द मिलते हैं। 'रघुवंश' में रघुवंश के १७ राजाओं के चरित्र और राजधर्म का बड़ा ही सुन्दर चित्रण मिलता है। कालिदास का मानवधर्म (मनु के धार्मिक नियमों) में ही विश्वास था ; अत: उसने इस बात पर बल दिया कि राजा को उन्हें अवश्य लागू करना चाहिये। राजा दिलीप की तुलना ऐसे कुशल रथ चालक से की गई है जो उसके पहियों को मनु द्वारा विहित मार्ग से तनिक भी इधर उधर नहीं जाने देता। धर्म ही उसकी राजनीति (अर्थ) और काम को निर्धारित करता है। कालिदास के अनुसार राज्यधर्म में निहित सामाजिक व्यवस्था में देखरेख का साधन है। राजा का कर्तव्य मनु द्वारा निहित वर्णों और आश्रमों को बनाये रखना है। दिलीप के रूप में धर्म ने अपने कार्य कराने का उपयुक्त माध्यम पाया है।

बौद्ध और जैन साहित्य का भी भारतीय इतिहास के साधन के रूप में विशेष महत्व है। बौद्ध ग्रंथ में सबसे प्राचीन ग्रंथ त्रिपिटक है। इनके नाम हैं - सुत्तपिटक, विनयपिटक और अभिधम्भपिटक। गौतम बुद्ध के निर्वाण प्राप्त करने के बाद इनकी रचना हुई। सुत्तपिटक में बुद्ध के धार्मिक विचारों और वचनों का संग्रह है। विनयपिटक में बुद्ध के धार्मिक विचारों तथा वचनों का संग्रह है। विनयपिटक में बौद्ध संघ के नियमों का उल्लेख है और अभिधम्भपिटक में बौद्ध दर्शन का विवेचन है। त्रिपिटक में ईसा से पूर्व की शताब्दियों में भारत के सामाजिक व धार्मिक जीवन पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। जातकों में बुद्ध के पूर्व जन्म की काल्पनिक कथायें हैं। लंका में इतिवृत्त दीपवंश और महावंश भारत के प्राचीन इतिहास पर प्रकाश डालते हैं। दिव्यावदान में अनेक राजाओं की कथायें हैं। बौद्ध धार्मिक साहित्य से प्राचीन भारत की सामाजिक, सांस्कृतिक जानकारी ~~की जाकारी~~ तो मिलती ही है,छठी शदी ई. पूर्व की राजनीतिक दशा का पर्याप्त वर्णन उपलब्ध होता है। जैन साहित्य को भी बारह अंगो में विभाजित किया गया है। यथा - आचारांग सूत्र, भगवतीसूत्र, नायाधम्मकहा, उवासगदसाओ, अंतगडदसाओ, अणुतरोववाइद्धसाओ, विवागसुयमसुत, भगवती सूत्र, भद्रबाहुचरित्र, बृहत्कल्पसूत्र भाष्य, आवश्यक चूर्णि, कालिकापुराण, कथाकोष महत्वपूर्ण जैन ग्रंथ हैं। परंतु सबसे महत्वपूर्ण हेमचंद्रकृत परिषिष्टपर्व है जिसकी रचना ईसा की बारहवीं शताब्दी में हुई।

समय समय पर अनेक विदेशी विद्वानों ने भारत की यात्रा की व अपने संस्मरण लिखे। भारत संबंधी अपने संस्मरण विभिन्न देशों से आये विद्वानों ने लिखे। ग्रीक लेखकों के ग्रंथों में सबसे अधिक महत्व मेगस्थनीज की इण्डिका है उसमें मौर्यकालीन भारत की राजनीतिक दशाओं का वर्णन है और वह कौटिल्य के अर्थशास्त्र से बहुत साम्य रखता है। इसके अतिरिक्त यूनानी लेखकों (जो भारतीय इतिहास पर प्रकाश डाले हैं) में हेरोडोटस प्राचीनतम लेखक हैं। हेरोडोटस ने पाँचवी शताब्दी ई. पूर्व में भारतीय सीमा प्रांत व हखमी साम्राज्य के मध्य राजनैतिक संपर्क पर प्रकाश डाला है। टेशियस ने भी अपनी रचना में भारत के विषय में लिखा है। इसके अतिरिक्त सिकन्दर के साथ आये हुये अनेक लेखकों ने भारत के विषय में अपने विचार लिखे हैं। इनमें प्रमुख निषार्कस, ओनेसिक्रिटस, व एरिस्टोब्लूलस हैं। यद्यपि इनकी रचनाएँ अब उपलब्ध नहीं हैं, किन्तु उनको अन्य यूनानी लेखकों द्वारा उद्धरित किया गया है। जिससे सिकन्दर के भारत पर आक्रमण के विषय में ज्ञान प्राप्त होता है।

यूनानी ग्रंथों के समान ही चीनी यात्रियों के वृतांत भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। इसमें उन अनेक मध्य ऐशियाई जातियों के परिभ्रमण का उल्लेख है जिन्होनें भारत को प्रभावित किया। सुमचीन चीन का प्रथम इतिहासकार था, जिसके ग्रंथ से भारत पर प्रकाश पड़ता है। सुमाचीन ई. पू. प्रथम शताब्दी में हुआ था इसके अतिरिक्त फाह्यान, ह्वेनसांग व इत्सिग भी चीनी इतिहास में तो अमर हैं ही, भारत के दृष्टिकोण से भी बहुत महत्व रखते हैं। तिब्बती लामा तारानाथ रचित 'कंग्युर' व तंग्युर का भी विशिष्ट ऐतिहासिक महत्व है। मुसलमान यात्रियों अल्बरूनी विशेष रूप से उल्लेखनीय है क्योंकि वह संस्कृत भाषा जानता था। उसने तहलीक - ए - हिन्द की रचना की जिससे तत्कालीन भारत के विषय में विस्तृत जानकारी मिलती है। अलबरूनी के अतिरिक्त अल-बिलादुरी, सुलेमान व अल्मसूदी अन्य प्रमुख मुसलमान यात्री हैं, जिनके वृतांतो से पता चलता है कि किस प्रकार मुसलमानों ने भारत पर अधिकार किया। अत: स्पष्ट है कि उपरोक्त विदेशी यात्रियों के वृतांत भारत की भौगोलिक, राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों पर प्रकाश डालते हैं।

हिन्दू काल के इतिहास पर लिखे गये अन्य ग्रंथों में 'केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया', राधाकुमुद मुखर्जी का 'चन्द्रगुप्त मौर्य एण्ड हिज टाइम्स्र' सी. वी. वैद्य का 'एविक एण्डिया', आर. सी. मजूमदार का 'कार्पोरेट लाईफ इन एन्शेन्ट इण्डिया', चंद्रबरदाई का पृथ्वीराज रासो आदि है। इन्हीं के साथ हम ऐसे ग्रंथों - जैसे डॉ. के. पी. जायसवाल का हिन्दू पॉलिटी, डॉ. एच. एन. सिन्हा का सावरेन्टी इन एन्शेन्ट इण्डिया, डॉ. बेनी प्रसाद का 'दी स्टेट इन एन्शेन्ट इण्डिया', प्रो. अल्तेकर का 'प्राचीन भारतीय शासन पद्धति' को भी रख सकते हैं। क्योंकि हमारी दृष्टि में तो वे इस विषय के अध्ययन के लिये महत्वपूर्ण स्रोत ग्रंथ हैं।

(ख) पुरातात्विक स्रोत -

प्राचीन भारत के राजतंत्र के अध्ययन के लिये पुरातात्विक सामग्री का विशेष महत्व है। उसके तीन प्रमुख कारण हैं। पहला यह है कि भारतीय ग्रंथों का रचनाकाल ठीक से ज्ञात नहीं है, इसलिये उनसे किसी काल विशेष की सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति का ज्ञान नहीं होता। दूसरा साहित्यिक साधनों में लेखक का दृष्टिकोण भी बहुधा सही चित्र प्रस्तुत करने में बाधक हो जाता है। तीसरा ग्रंथों की प्रतिलिपि करने वालों ने अपनी इच्छानुसार अनेक प्रकरणों को छोड़ दिया और नये प्रकरण जोड़ दिये। पुरातात्विक सामग्री में इस प्रकार की हेर फेर की बहुत कम संभावना रहती थी इसलिये पुरातात्विक स्रोत अधिक विश्वसनीय है। पुरातात्विक स्रोतों को प्रमुख तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है - अभिलेख, ताम्रपत्र तथा मुद्राशास्त्र।

शिलालेख :-

भारत के विशाल प्रांगण में विभिन्न समयों में शिलाओं, स्तंभों, स्मारकों की भित्तियों पर उकीर्ण कराये गये लेखों में प्राचीन भारतीय राजतंत्र से संबंधित अनेक उल्लेख उपलब्ध हैं। ब्राम्ही और खरोष्ठी लिपियों में लिखे गये अनेक प्राचीन लेख राजनैतिक ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण हैं, उनसे राजा के कर्तव्य, सेना कर्मचारीगण इत्यादि पर प्रकारश पड़ता है।

सबसे प्राचीन शिलालेख मौर्य सम्राट अशोक के शासन काल में मिलते हैं। अशोक के शिलालेख ब्रम्ही लिपि में हैं। यह लिपि बायें से दायें लिखी जाती थी। उनके कुछ शिलालेख खरोष्ठी लिपि में भी हैं। जो दायें से बायें लिखी जाती थी, लेकिन पश्चिमोत्तर भारत में विभिन्न प्रदेशों में ब्रम्ही लिपि का ही प्रचार रहा। पाकिस्तान और अफगानिस्तान के अशोक के शिलालेखों में यूनानी और आरामाइक लिपियों का भी प्रयोग हुआ है। अशोक के चौदह शिलालेख सात स्तंभ लेख, अनेक लघु स्तंभ लेख इस क्षेत्र में ज्ञान के अतुल आगार हैं। उनके अभिलेखों से मौर्य साम्राज्य के प्रांतो में विभाजन राजकुमारों की प्रांतपति के रूप में नियुक्ति, मंत्री, प्रादेशिक, राजुक, धर्ममहामात्र, प्रतिवेदक इत्यादि कर्मचारियों के कर्तव्य, कर्मचारियों के दौरे, दण्ड व्यवस्था आदि पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। साथ ही परिषद् का भी उल्लेख मिलता है। जिसमें बौद्धों के धार्मिक सिद्धांत को निश्चित किया गया था। इन लेखों में राजा के कर्तव्य, राजा का प्रजा को सतांनवत् मानना और उनके सुख सुविधाओं और नैतिक उत्थान के प्रति सदैव सजग रहना आदि कि विषय में जानकारी मिलती है। अशोक अपने लेखों में कहता है कि सारी प्रजा मेरी संतान के समान है और जैसे कोई संतान की भलाई चाहता है वैसे ही में प्रजा की भलाई चाहता हूँ। छठी

शिलालेख में अशोक ने लिखवाया था नास्ति हि कम्मतरं सत्वलोक हितत्वा अर्थात् सारे लोगों के हित में तत्पर रहने से महान अन्य कोई कार्य नहीं है।

इस अंश के साथ ही उत्कीर्ण कराया था कि मैं कितना ही परिश्रम क्यों न करू मुझे संतोष नहीं होता। मैं सारा परिश्रम इसलिये करता हूँ जिससे जीवन मात्र के प्रति मेरा जो ऋण है उससे ऊऋण हो जाऊँ। मौर्य संम्राट अशोक ने न केवल अपने राज्य में वरन् उसने अपने सीमावर्ती राज्यों में भी वहां के निवासियों के कल्याण की कामना से औषधियों के वृक्ष लगवाये थे। ऐसे अनेक तथ्य उस प्राचीन भारतीय राजा की मनोवृत्ति के महत्वपूर्ण पक्ष को प्रकाशित करते हैं।

भारतीय अतीत में जिन महत्वपूर्ण राजवंशों का अस्तित्व विद्यमान था उसमें से मौर्यो के उपरांत शुंग वंश, सातवाहन वंश शक, कुषाण, पहलव, गुप्त, मौखरि, वर्द्धन पाल, उत्तरभारत के अनेक राजपूत राजवंश तथा दक्षिण भारत के अनेक चालुक्य, पल्लव राष्ट्रकूट, पाण्डय तथा चोल उल्लेखनीय है। प्राय: इन सभी राजवंशों के अनेक अभिलेखों में राजतंत्र संबंधी सम्पदा सुरक्षित है।

ताम्रपत्र -

अशोक के बाद के अभिलेखों को हम दो वर्गों में बांट सकते हैं - सरकारी अभिलेख और निजी अभिलेख। सरकारी अभिलेख तो राजकवियों की लिखी हुई प्रशस्तियां है या भूमि अनुदान पत्र। प्रशस्तियों का प्रसिद्ध उदाहरण समुद्रगुप्त का प्रयाग अभिलेख है जो अशोक स्तंभ पर उत्कीर्ण है। इस प्रशस्ति में समुद्रगुप्त की नीतियों और विजयों का पूरा विवेचन मिलता है। इसी प्रकार राजा भोज की ग्वालियर प्रशस्ति में इस शासक की उपलब्धियों का विवेचन है।

ताम्रपत्र पर भी अंकित लेखों का बहुत महत्व है। भूमि-अनुदान पत्र अधिकतर तांबे की चादरों पर उत्कीर्ण हैं। इन अनुदान पत्रों में भूमिखण्डों की सीमाओं के उल्लेख के साथ - साथ उस अवसर का वर्णन है जब वह भूमि खण्ड दान में दिया गया। इन दान पत्रों में शासको की उपलब्धियों का भी वर्णन मिलता है। अल्तेकर के अनुसार, ताम्रपत्रों पर लेख राजकवियों या अधिकारियों द्वारा लिखे जाते थे। इसीलिये उनमें कभी कभी काफी अतिशयोक्ति देखी जाती है। अत: उनके वर्णन को इतिहासकार को पूर्णतया सत्य नहीं मान लेना चाहिये। बड़ी संख्या में पूर्ण मध्यकालीन भूमिअनुदान-पत्र मिलने से यह निष्कर्ष निकाला गया कि भारत में पूर्व मध्यकाल (लगभग ६००- १२०० ई.) में सामंतीय अर्थव्यवस्था स्थापित हो गई थी।

मुद्राशास्त्र :-

प्राचीन भारत में मुद्राशास्त्र (सिक्कों) से भी तत्कालीन समय के आर्थिक ,धार्मिक एवं राजनैतिक विषयों की भी जानकारी मिलती है । भारत के प्राचीनतम उपलब्ध सिक्के आहत मुद्राओं (पंचमार्क सिक्कों) के नाम से जाने जाते हैं । विविध आकारों के विविध मानकों (ठप्पों) से युक्त इन सिक्कों से प्राचीन भारतीय राजव्यस्था पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ता । मौर्योत्तर काल के अनेक गण राज्यों जैसे यौजेय, मालव, कुविन्द, अर्जुनायन तथा अनेक जनपदों जैसे अयोध्या, पांजाल आदि के सिक्कों से उन गणों एवं जनपदों पर संक्षिप्त प्रकाश पड़ता है । कुबिन्दों के सिक्कों से जानकारी मिलती है कि इस जनजाति ने सिद्धांत अपना राज्य शिव को समर्पित किया था । योधेयों के सिक्के बताते है कि उनका राज्य कार्तिकिय को समर्पित था । सातवाहन सिक्कों पर अंकित मसतूल वाले जहाजों पर अंकन पश्चिमी भारत के साथ व्यापारिक संबंधों की पुष्टि करता है । भारत के दक्षिणी पश्चिमी तटवर्ती क्षेत्रों से भारी संख्या में प्राप्त रोम साम्राज्य के सिक्के भी भारत रोम व्यापारिक संबंधों की पुष्टि करते हैं । कुछ संयुक्त रूप मे चलाये गये सिक्के यथा - भारतीय यूनानी सिक्के संयुक्त रूप से शासन किये जाने के साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं । सोने, चांदी, तांबें और शीशे आदि धातुओं से बने हुये प्राचीन भारतीय सिक्के विविध राजवंशों के राजाओं की उपाधियों, धार्मिक मनोवृत्तियों, एवं उनके राजचिन्ह तथा तिथि युक्त कुछ सिक्के प्रकाशन के निश्चित समय पर भी प्रकाश डालते है । कुषाण राजाओं के विविध प्रकार के सिक्कों पर अनेक भारतीय और यूनानी देवी-देवताओं का अंकन मिलता है । इससे उन सम्राटों की धर्मसहिष्णुता की पुष्टि होती है । उज्जैयनी के शक क्षत्रयों के सिक्कों पर राजा के पिता का नाम और अधिकांश पर निधि भी मिलती है ।

गुप्तकाल को भारतीय अतीत के स्वर्णिमकाल की संज्ञा दी जाती है । इस काल में चंद्रगुप्त प्रथम का राजा-रानी प्रकार का सिक्का लिच्छवियों के साथ उनके वैवाहिक संबंध तथा लिच्छवियों की प्रभावशीलता का परिचायक है । पश्चिमी मालवा के अंतर्गत गुजरात में शको के राज्य में चांदी के सिक्के चलते थे । द्वितीय चंद्रगुप्त की शकों के विरूद्ध विजय उसके पुनर्टंङ्कित उन्हीं चांदी के सिक्कों से पुष्टि होती है । प्रथम कुमारगुप्त तथा स्कंदगुप्त के सोने व चांदी के सिक्के उन राजाओं की कार्तिकिय के प्रति आस्था का भी परिचय देते हैं । दक्षिण भारत के विविध राजवंशों के विविध राजजिन्ह थे । जिनका अंकन व तत्संबंधी लेख उनके सिक्कों पर मिलता है । चोल राजाओ के सिक्कों पर बाघ का चिन्ह पाण्डयवंशी सिक्कों पर मछली का चिन्ह, चेखंशी सिक्कों पर धनुष का अंकन मिलता है । कदम्बवंशी राजाओं के सिक्के पद्मटंक सिक्कों के नाम से संबोधित किये जाते हैं । इनमें चांदी के एक सिक्के पर सिंह की एक आकृति बनी मिलती है । दक्षिण भारत से प्राप्त ये सभी सिक्के राज्य शासन के इतिहास को सुगठित

स्वरूप प्रदान करने में सहायक हैं ।

इस प्रकार प्राचीन भारतीय राजतंत्र के विषय में ज्ञान के लिये साहित्य के एवं पुरातात्विक दोनों प्रकार के साक्ष्यों का विशिष्ट स्थान है । वस्तुत: समय-समय पर विदेशी आक्रान्ताओं द्वारा भारतीय साहित्य एवं कला को पहुंचाई जाने वाली क्षति के कारण बहुत सामग्री नष्ट हो गई । संभवत: यही कारण है कि अनेक साधनों का सहारा लेकर ही प्राचीन भारतीय राजव्यवस्था की क्रमबद्ध रूपरेखा प्रस्तुत की जा सकती है ।



अध्याय - 3

राजतंत्र की उत्पत्ति, महत्व, श्रेणियां

इस अध्याय के अंतर्गत प्राचीन भारत के राजनीतिक विचारों और संस्थाओं को भलीभांति समझने के लिये राजतंत्र का अर्थ, महत्व, उत्पत्ति विषयक सिद्धांत - जिसमें दैविक उत्पत्ति, निर्वाचन पद्धति, शक्ति सिद्धांत, और संविदा सिद्धांत को रखा गया है तथा विभिन्न प्रकार के राजतंत्रो के अन्तर्गत सामन्त, माण्डलिक, राजन् महाराजा, स्वराट्, विराट्, सार्वभौम इन विषयों का अध्ययन किया गया हैं।

अर्थ-

राजा को संस्कृत में 'राजन्' कहते हैं। जिसकी जिसकी उत्पत्ति संस्कृत की धातु 'राज्' से हुई है जिसका अर्थ तेज से चमकना, दीप्त होना, प्रकाशमान होना इत्यादि। इस प्रकार राजा वह है जिस पर तेज चमकता है, जो सहज सौन्दर्य से युक्त है, दिव्य गुणों से परिपूर्ण एवं जो अर्जित यश से दूसरों को अपनी ओर आकर्षित करने में समर्थ होता है। दूसरे अर्थ में 'राजन्' शब्द और उसके मूल रूप राट् का शब्दार्थ शासक है इसका संबंध लैटिन भाषा के तमग के साथ है परन्तु हिन्दू राजनीति के विशारदों ने इसकी एक दार्शनिक व्युत्पत्ति बताई है। उनका कहना है कि राजा का कर्तव्य अच्छे शासन के द्वारा अपनी प्रजा का रंजन करना, प्रजा का पालन करना, अथवा उसे प्रसन्न रखना है। समस्त संस्कृत साहित्य में यह दार्शनिक व्युत्पत्ति एक मिश्रित सिद्धांत के रूप में मानी गई है। प्राचीन समय में राजा लोग इस शब्द का अर्थ व्यवस्था संबंधी मानते थे और उसी के अनुसार कार्य करते थे। कलिंग के सम्राट खारवेल ने जो एक जैन शासक था; अपने शिलालेख (सन् १६५ ई. पूर्व) में कहा है कि मैं अपनी प्रजा का रंजन करता हूँ जिसकी संख्या ३५ लाख है।[१] बौद्ध धर्मग्रंथों में भी इस सिद्धांत की यही व्याख्या पाई जाती है। जैसे - दम्मेन परे रंजेतीति खो वासेट्ठ राजा [२]

'अर्थववेद के अनुसार - भूतो भूतेषु पय आ दधाति सा भूतानामधिपतिर्वभूव'

जो विशेष प्रभावशाली होता है और जो सब जानता के लिये सुखोपभोग प्राप्त कर देने का कार्य करता है वही लोगों का अधिपति होता है।[३]

'पुमान् पुसोऽधि तिष्ठ(चर्मेहि) तत्र ह्वयस्व यतमा प्रिया ते।'[४]

अर्थात मनुष्यों में जो सबसे अधिक बलवान होगा, वही सबका अधिष्ठाता होने योग्य है, वैसा मनुष्य अधिष्ठाता बने, वह मुख्य आसन पर बैठे। वह अपने हितकारी अनुयायियों को बुलावे, सबको

---

१. वर्मा रामचंद्र - 'हिन्दू राजतंत्र' दूसरा भाग, पृष्ट ९-२

२. अग्गन्न सुत्तंत - 'दीग्घ निकाय' २१, खंड ३, पृष्ठ ९३

३. अथर्ववेद - ४.८.१

४. अथर्ववेद - १२.३.१

एकत्र मिलावे। इसी प्रकार अथर्ववेद में ही एक स्थान पर उल्लेख है -

इन्द्रस्तुराषाणिमत्रो वृत्रं यो जघान यतीर्न।
विभेद वलं भुगुर्न ससहे शत्रून्मदे सोमस्य ॥[५]

हे राजन्! तू पुरूषार्थी उद्यमी पुरुष के समान प्रयत्नशील और शीघ्र वेग के साथ शत्रु पर हमला करने वाला शूरवीर अपने शत्रु का नाश शीघ्र करता है। जिस प्रकार भूनने वाला मनुष्य धान्यों को भूनता है उसी प्रकार यह शूरवीर शत्रु भी सेना को भून देता है और सोमरस का पान करता हुआ हर्षित और उत्साहित होकर शत्रु की पराजय करता है। अर्थात हे राजन्! तू प्रजाओं का मित्र बनकर राज्य कर कभी शत्रु बनकर राज्य न करे।

आ त्वा विशन्तु सुतास इंद्र पृणस्व कुक्षी विड्ढि शक्र धियेह्या नः।
सुधी ह्वं गिरो में जुषस्वेन्द्र स्वयुग्भिभस्वे महे रणाय ॥

हे शक्तिमान शूरवीर राजन्! सब मधुर रस तुम्हें प्राप्त हों और उससे तू अपना पेट भर दे। उस समय तू अपने मन से सब जनता की भलाई का विचार कर और उनकी पुकार श्रवण कर तथा बड़े जीवन कलह में विजय प्राप्त रने के लिये अपनी योजक शक्तियों के साथ आनंद से तैयार रह। अर्थात् हे राजन्! तू प्रजा की पुकार सुन, वाणी को स्वीकार कर, अर्थात प्रजा की आवाज श्रवण कर और प्रजा की इच्छा का आदर कर इसी प्रकार -

अयः अन्जः समुद्रं अपजग्युः। [७]

हे राजन्! समुद्र तक बहने वाली नहर चला, और उससे कृषि की सहायता कर। अर्थववेद के इस मंत्र के अनुसार राजा के प्रजा के प्रति कल्याणकारी कार्यों तथा प्रजा रंजन के विषय में जानकारी प्राप्त होती है -

सोऽरज्यत ततो राजन्योऽऽजायत ॥१॥
सः विशः सबन्धूनन्नमन्नाद्यमभ्युदतिष्ठत् ॥२॥
विशां च वै स सबन्धूनां चान्नस्य च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥३॥[८]
चान्नाद्यस्य

अर्थात राजा प्रजा का रंजन करने लगा और वह राजा कहलाने लगा अर्थात क्षत्रिय भी ब्रह्मचर्य का पालन करता है और उत्तम क्षत्रिय होता है इसको राजन्य इसीलिये कहते है कि वह लोगों का रंजन करता है। जनों को प्रसन्न रखता है वह जनता को सुरक्षित रखता है सब प्रजाजनों की रक्षा करने से

५. अथर्ववेद - २.५.३
६. अथर्ववेद - २.५.४
७. अथर्ववेद - २.५.६
८. अथर्ववेद - १५.८.

उसको सब प्रकार के खान पान आदि भोग प्राप्त होते हैं, और सब लोग उसके अनुयायी होते हैं।

राजतंत्र का महत्त्व

प्राचीन समय में भारत में राजतंत्र को ही व्यवस्थित शासन व्यवस्था का रूप माना गया था। ऋग्वेद के अध्ययन से इस बात की पुष्टि हो जाती है; क्योकि ऋग्वेद में राजतंत्र को ही प्रचलित साधारण शासन व्यवस्था माना गया है। प्राचीन समय में शासन का और कोई रूप नही था ; गणतंत्र का विकास तो वैदिक काल के अंतिम चरण में हुआ। राजतंत्र ही वैदिक काल की प्रमुख व्यवस्था थी और राजा का पद सबसे अधिक सम्मानित और सर्वोच्च था। राजा को इन्द्र का सखा माना जाता था। महाभारत में भीष्म कहते है - कि जिसकी राजा, भोज, विराट्, सम्राट् क्षत्रिय, भूपति, नृपति, आदि शब्दों से स्तुति की जाती है उसकी पूजा कौन न करेगा। एक स्थान पर यह कथन है कि इस सृष्टि में जितने भी प्राणी है सब धर्म में स्थित रहते हैं और धर्म राजा में निवास करता है; इस प्रकार उत्तम रीति से धर्म का पालन करने वाले राजा ही पृथ्वी के स्वामी होते हैं।९ शुक्रनीति के अनुसार - राजा इस जगत की वृद्धि का हेतु है और वृद्धों का मान्य है, वह नेत्रों को इस प्रकार आनंद प्रदान करता है जैसे चंद्रमा समुद्र को। उत्तम नीतिमान राजा के अभाव मे प्रजा, उसी प्रकार नष्ट हो जाती है जिस प्रकार कर्णधार के बिना समुद्र पर तैरती नौका नष्ट हो जाती है। अथर्ववेद के अनुसार[११] तेजस्वी राजा के सभी शत्रु परास्त हो गये और प्रजा आनंद से रहने लगी। राजा का यह प्रताप देखकर सब उसका सम्मान करने लगे। इससे यह स्पष्ट होता है कि प्रजा के अभ्युदय के लिये योग्य राजा का होना कितना अनिवार्य है। राजा ही शत्रु के घातक आक्रमण से प्रजा की रक्षा करता है और प्रजा का संरक्षण करता है। राजा को वैदिक काल से ही धर्म का रक्षक, पोषक और समर्पक समझा जाता रहा है। वैदिक काल के राजा का आदर्श ऋत् और धर्म की रक्षा करने वाले धृवव्रत वरूण देव थे। धर्म से बढ़कर और कोई वस्तु न थी, अत: धर्म का पालन राजा का नित्य और आवश्यक कर्तव्य समझा जाता था। महाभारत में भीष्म कहते हैं कि अव्यवस्था से त्रस्त होकर देवता प्रजापति विष्णु से प्रार्थना करने लगे कि हे प्रभु ! आप ऐसे पुरूष को आज्ञा दीजिये जो संपूर्ण मृत्युलोक वासी प्राणियों पर प्रभुता कर सके इस प्रकार पुन: प्रभु ने भूलोक में धर्म स्थापित कर प्रजा के मन का रंजन किया, उसी समय से पृथ्वी पर राजा शब्द प्रचलित हुआ।[१२] वाल्मीकि ने राज्य अथवा राजा के महत्व को स्वीकार किया है और अराजक अथवा राज्यहीन समाज के दोषों का वर्णन भी किया है। अराजक दशा का वर्णन तो वाल्मीकि ने बड़े विस्तार से किया है परंतु यहां उसका सारांश देना उचित है। राम, लक्ष्मण और सीता के वन के गमन

९. महाभारत शांतिपर्व, ६८.५४.९०.५

१०. शुक्रनीति सार, १.६४-६५

११. अथर्ववेद, ६.१२८

१२. महाभारत शांतिपर्व, ५९.७७, पृष्ट १२५

पश्चात राजा दशरथ शोक में स्वर्गवासी हो गये। रात भर अयोध्या में क्रन्दन चलता रहा। सूर्योदय होने पर राजा के कर्मचारी ब्राह्मण लोगों ने इकट्ठे होकर सभा की ओर अंतिम निश्चय कि लिये राजपुरोहित वशिष्ठ को संबोधित करते हुये कहा - पुत्रशोक से राजा का देहान्त हो गया है, राम और लक्ष्मण वन चले गये हैं, भरत और शत्रुघ्न नाना के घर गये हुये हैं। यहां इक्ष्वाकु वंश का आज कोई राजा बनना चाहिये; नहीं तो बिना राजा के हमारा राष्ट्र छिन्न भिन्न हो जायेगा; क्योकि अराजकता (राजाहीन) पूर्ण राज्य में वृष्टि नहीं होती; राज्य में खेत अच्छी तरह नहीं बोये जाते; पिता के वश में पुत्र और पति के वश में पत्नी नहीं रहती और ऐसे राज्य में धन भी नहीं रहता ; मनुष्य सभाएँ नहीं जुटवाते, ब्राह्मण यज्ञ नहीं कर सकते, नट नर्तक प्रसन्न नहीं रहते, और न ही राष्ट्र की उन्नति करने वाले उत्सव या सम्मेलन बढ़े चढ़े होते हैं। अराजक राज्य में मुकदमों के सही निर्णय नहीं होते, कृषि और गौ-पालन से जीविका चलाने वाले लोग सुरक्षित होकर रात के समय घरों के द्वार खोलकर नहीं सो सकते; दूर देशों में जाने वाले वैश्य लोग बहुत सा बिक्री का सामान लेकर कुशलतापूर्वक रास्ता नहीं चल सकते; और अराजक राज्य में योग-क्षेम नहीं रहते। अराजक राष्ट्र की वैसी ही दशा होती है जैसी कि जल रहित नदियों की, बिना घास के वन की और गोपाल रहित गौओ की। रथ की पहचान है ध्वजा, अग्नि की पहचान धुँआ है, हम लोगों का जो ध्वज राजा है, वह यहां से देवलोक को चला गया है। राजा सत्य और धर्म है, राजा कुलवानों का कुल है, राजा माता और पिता है तथा मनुष्यों का हितकारी है संसार में अच्छे और बुरे का विभाग करने वाला राजा न हो तो संसार में अंधकार फैल जाये और कुछ दिखाई न पड़े। इस विवरण में वाल्मीकि ने राजाहीन राज्य का चित्रण किया है जिससे राजा और राजतंत्र की महत्ता स्पष्ट है।[१३] शुक्रनीति के अनुसार - [१४] आचरण का प्रेरक राजा है। राजनीतिक विचारक मित्र मिश्र ने राजा की आवश्यकता और उसके महत्व का वर्णन मनु, नारद, पाराशर की स्मृतियों तथा महाभारत के मत उद्‌धृत करते हुये किया है। उसके मतानुसार लोक की स्थिति, उसकी अभिवृद्धि और रक्षा का मूल राजा ही होता है। राजा रहित लोक में प्रजा परस्पर पीड़ित होकर भयभीत रहती है। इसीलिये लोकरक्षा के लिये राजा को उत्पन्न किया। राज्य में राजा प्रशासन का अध्यक्ष होता है, प्रजा के सतत पालन पोषण, रक्षण एवं अभ्युदय में संलग्न होने से उसका महत्व सर्वोपरि है यदि राजा रक्षा नहीं करता तो चारों ओर अनीति फैल जाती है, वर्णसंकर जाति की वृद्धि होती है, और राज्य में दुर्भिक्ष पड़ता है। राजा को मनुष्य समझकर कभी भी उसका अपमान करना उचित नहीं है, क्योंकि वह महान देवता नररूप धारण कर पृथ्वी पर निवास करता है। राजा पापों को भस्म करने के कारण पावक, तीक्ष्ण दण्ड से अपराधियों का निग्रह और धर्मात्माओं पर कृपा प्रकाशित करने से यम, दूतों द्वारा सबके कार्यों का पता

---

१३. अयोध्याकाण्ड, सर्ग, ४३

१४. शुक्रनीति सार, १.२२

लगाने और प्रजाजन के मंगलजनक कार्यों को करने के कारण 'भास्कर' तथा धन से उपकारियों को तृप्त और अपकारियों को नष्ट करने से वैश्रवण नाम से विख्यात होता है। राजा ही प्रजा के मानसिक उत्कर्ष सद्गति प्रतिष्ठा और परम सुख के लाभ का कारण है, क्योंकि वह विभिन्न देवताओं के सदृश कार्य करके सदैव प्रजाहित चिंतन में रत रहता है।[१५] महाभारत कालीन शासन पद्धति राजतंत्रात्मक थी और राजा उसका केन्द्रीय बिन्दु था, इसीलिये महाभारत में शासन और राजा शब्दों का प्रयोग एक दूसरे के लिये हुआ है शासन की शक्तियों के प्रयोग पर ही राज्य (समाज) का सामन्जस्य निर्भर करता है। राजा के कर्तव्य अन्य सभी कर्तव्यों के आगे आते हैं, उन्हीं के द्वारा शेष की रक्षा होती है। जिस प्रकार हाथी के पाँव में सब पशुओं का पाँव आता है उसी प्रकार क्षत्रिय के कर्तव्यों में अन्य सभी वर्णो के कर्तव्य आ जाते हैं। शान्तिपर्व [१६] में यह आता है कि शासन (राजा) को मद्यपान, वेश्याओं, जुआरियों, कुटनी, कुलीशव और इस भांति के जो अन्य मनुष्य राज्य में निवास करें, उन पर नियंत्रण रखना चाहिये, क्योंकि ऐसा न होने पर उत्तम प्रजा क्लेश पाती है। राजतंत्र की महत्ता को प्रदर्शित करते हुये अथर्ववेद [१७] में कहा गया है - प्रजा द्वारा सामान्य राजा प्रजा का अधिपति (विशां विशपतिः), कोष का एकमात्र स्वामी (धन चपतिर्धनानाम्) जन का एक मात्र अधिपति (एकवृषं जनानाम्) समस्त प्राणियों का प्रभु (वृष: विश्वस्य भूतस्य), मनुष्यों में सर्वोच्च (कुकुदमनुष्याणां) और देवताओं के समकक्ष (देवानां अर्धभाक्) होता था। रामायण महाभारत में एक स्थान पर वर्णन है कि दण्ड के विलुप्त हो जाने पर सभी प्राणियों मे गड़बड़ फैल गई। सभी प्राणी एक दूसरे को हानि पहुंचाने लगे। सम्पति के सभी विचारों का अंत हो गया। बलवान व्यक्ति कमजोर व्यक्ति की हत्या करने लगे। याचना करने पर विष्णु ने ऐसे दण्ड की रचना की, जिसका समर्थन धर्म पर आधारित हुआ। और उससे विद्या की देवी सरस्वती ने दण्डनीति की रचना की और संसार में पुन: व्यवस्था कायम हुई। यदि राजा रक्षा करता है तो धर्म का साम्राज्य होता है और वार्ता (कृषक, वाणिज्य, पशुपालन) पर आधारित यह जगत धर्म को धारण कर उचित रीति से व्यवहार करता है। [१८] महाभारत में भीष्म का कथन है कि राजा के बिना देश (राज्य) नहीं होता। अर्थात राजा और राज्य की सत्ता एक दूसरे पर निर्भर होती है। कौटिल्य के अनुसार राज्य की सातों प्रकृतियों में राजा मुख्य है। विभिन्न प्रकृतियों पर आई हुई विपत्तियों के प्रतिकार तथा उनकी उन्नति का कारण राजा ही है, राजा के आचरण के अनुरूप ही उसके आमात्य और प्रजा का आचरण होता है। शुक्रनीति के अनुसार राजा राज्य का सिर है, आमात्य नेत्र है, सुहृद कान है, कोष मुख, बल मन और दुर्ग हाथ पैर हैं। शुक्र ने राजा को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया है; परंतु राष्ट्र को पैर कहकर नीचा स्थान नहीं दिया है। बल्कि उसे सभी अंगों का मूलाधार बताया है। राजा

१५. शान्तिपर्व ६८.४०
१६. शान्तिपर्व, ८८.१३-१४
१७. अथर्ववेद, ४.२२
१८. गोखले जी. बी. 'एनशियेन्ट इण्डिया; पृष्ठ १०८

से राष्ट्र नहीं होता राष्ट्र से राजा होता है। इसी विषय पर रंगास्वामी अयंगर ने लिखा है [१९] - शासन की आवश्यकता की धारणा में राजा के पद तथा शक्तियों को प्रदान किये गये अति उच्च स्थान का स्पष्टीकरण मिलता है और साथ ही अराजक दशा के प्रति सामान्य भय का भी। इस संबंध में शुक्रनीतिसार में कथन है; जैसे इंद्र की पत्नी कभी विधवा नहीं हो सकती (क्योकि इंद्र का पद कभी रिक्त नहीं रहता और उसका संबंध पद से है) वैसे ही दुराचारी लोग भी (जो शासन को भी न चाहते हो) राजा अर्थात शासक के बिना एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकते। शुक्राचार्य तथा सोमदेव ने राज्य को नमस्कार किया है। शुक्र ने कहा है -

नमोस्तु राज्यवृक्षाय षाड्गुण्याय प्रशारिवने।
सामादिचारूपुष्याय त्रिवर्गफल दायिने॥

ऐसे ही सोमदेव अपने ही ग्रंथ में लिखा है अथ धामार्थफलाय राज्याय नमः अर्थात प्रारंभ सें राज्य को नमस्कार, जो धर्म और अर्थ का वृक्ष है। इन सभी कथनों से राज्य की आवश्यकता तथा महत्व स्पष्ट है।

उत्पत्ति विषयक विभिन्न सिद्धांत

निर्वाचन-

प्राचीन भारतीय साहित्य में राज्य की उत्पत्ति के बारे में विभिन्न प्रकार के विचार प्राप्त होते हैं। इतिहास के अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि प्राचीन भारत में नृपतंत्र का बोलबाला था यह शासन की लोकप्रिय व्यवस्था थी। अतः राज्य की उत्पत्ति के विषय में जब हम विभिन्न सिद्धांतों का उल्लेख करते हैं तो हमारा आशय नृपतंत्र की उत्पत्ति के सिद्धांतों से है। वैदिक काल में राजा की नियुक्ति परंपरागत प्रथा (निर्वाचन) के अनुसार होती थी। जब आर्यों ने पहले पहल भारत में प्रवेश किया तो वे सभ्यता के क्षेत्र में उन्नति कर चुके थे राजनीतिक दृष्टि से वे जनों में संगठित थे जन को हम कबीला या ट्राईब समझ सकते हैं, जन का संगठन एक बड़े परिवार के समान था, जिसमें यह विचार विद्यमान था कि उसके सब पुरूष एक आदि पुरूष की संतान है, और एक ही परिवार के अंग हैं। जिस प्रकार एक परिवार में सबसे वृद्ध व्यक्ति शासन करता है, उसी प्रकार जन रूपी बड़े परिवार में भी एक पिता या मुखिया का शासन होता था इस मुखिया को राजा कहते थे। और इसकी नियुक्ति परंपरागत प्रथा के अनुसार होती थी। प्रत्येक जन की सम्पूर्ण विशः (जनता) इस राजा का वरण करती थी। इस प्रकार आर्यों का समाज प्रारंभ में पितृ प्रधान परिवारों में संगठित था। परिवारों से कुल, कुलों से विशः, और विशों से जन बने। उनके अध्यक्ष क्रमशः

---

१९. आयंगर के. बी. आर., राजधर्म

कुलपति, विशपति, या जनपति कहलाये। इस प्रकार एकीकरण की प्रक्रिया के फलस्वरूप राज्य की उत्पत्ति हुई। बान्धोपाध्याय भी कहते है कि[२०] राजस्व का उदय परिवार के मुखियाओं अथवा प्रतिनिधियों की बढ़ी हुई सत्ता से हुआ। मजूमदार के मतानुसार [२१] - अथर्ववेद में एक स्थान में उल्लेख है कि राजा और उसका वरण करने वालों के बीच सामन्जस्य रहना चाहिये; जो इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि उस काल में राजाओं का वरण (निर्वाचन) का प्रचलन था।

निर्वाचित होने पश्चात यह समझा जाता था कि राजा यह जिम्मा लेता है कि वह अपनी प्रजा की सब बाह्य और आभ्यान्तर शत्रुओं से रक्षा करेगा और उसका न्याय पूर्वक पालन करेगा। इसी कार्य के लिये राजा को प्रजा बलि (कर) प्रदान करती थी। राज्याभिषेक के अवसर पर राजा धर्मपूर्वक प्रजा पालन की प्रतिज्ञा करता था। यदि वह प्रतिज्ञा तोड़े तो प्रजा को यह अधिकार था कि वह उसे पदच्युत कर सके। ऐतरेय ब्राह्मण में इस संबंध में वैदिक सिद्धांत कहा गया है देवों में आरंभ में कोई राजा नहीं था। जब असुरों से युद्ध करते समय देवों ने यह देखा कि हम लोग बार-बार पराजित हो रहे हैं तब वे इस परिणाम पर पहुंचे कि असुरों की सफलता का कारण यह है कि उनमें नेतृत्व करने वाला एक राजा है। अत: देवों ने निश्चय किया कि हम लोगों को भी एक राजा निर्वाचित करना चाहिये। तब देव गण अपना एक राजा निर्वाचित करने के लिये सम्मत हुये। ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है "देवों और असुरों मे युद्ध हो रहा था। -------- असुरों ने देवों को परास्त किया ----- देवों ने कहा कि असुरों द्वारा हमारे पराजित होने का कारण यही है कि हम लोगों का कोई राजा नहीं है। हम लोगों को एक राजा निर्वाचित करना चाहिये। सब लोग सम्मत हो गये"।[२२] इस प्रकार ब्राह्मण ग्रंथ में एक स्थान पर कहा है :- कि इंद्र सभी देवों में सबसे अधिक बलवान, वीर, और गुणवान है, जो कोई भी कार्य श्रेष्ठ ढंग से करता है, अत: उसे राजपद देना चहिये। राजनीतिक लेखकों ने इस संबंध में अपना एक और मत प्रस्तुत किया है वे कहते है कि पहला राजा कुछ निश्चित शर्तों या पर्णो पर निर्वाचित हुआ था ; और बाद में राजा लोग यही मूल पण मानने के लिये बाध्य किये जाते थे (पण या पर्णमणि से तात्पर्य जो राज्याभिषेक के अवसर पर राजकृत: राजा को प्रदान करते थे यह पर्णमणि अर्थात पणों द्वारा निर्मित रत्न, यह पलाश वृक्ष की शाखा होती थी चूंकि पलाश को पवित्र मानने की कल्पना वैदिक काल में विद्यमान थी) इस मत के अनुसार राज्य के आभ्यांतर शासन के लिये निर्वाचन की आवश्यकता उस समय हुई थी जब लोगों ने कानून या धर्मशास्त्र का समुचित पालन करना छोड़ दिया था। पण के आधार पर स्थापित एक राजता के इस सिद्धांत का जो निस्संदेह और स्पष्टतया पण के आधार पर स्थापित प्रजा सत्तात्मक प्रणाली वाले सिद्धांत का प्रतिबिम्ब है, उन वैदिक

---

२०. बान्धोपाध्याय एन. सी., डवलपमेंट आफ हिन्दू पॉलिटी एण्ड पॉलिटिकल थियोरीज, खण्ड १, पृष्ट ८५
२१. मजूमदार आर. सी., हिस्ट्री एण्ड कल्चर आफ दी इण्डियन पीपुल, खण्ड १, पृष्ठ ४३२
२२. ऐतरेय ब्राम्हण १.१.१४

मंत्रों और सामों से भी समर्थन होता है जिनका पाठ राजा के निर्वाचन के अवसर पर उस समय होता था, जिस समय निर्वाचन के सिद्धांतों के आधार पर राज्याभिषेक के कृत्य किये जाते थे और जबकि राजा को इस बात की शपथ कराई जाती थी कि वह धर्म या कानून के अनुसार शासन करेगा। आगे चलकर जब राजसिंहासन का अधिकार वंशानुक्रमिक हो गया, तब भी सदा यही कृत्य किये जाते थे। इन धार्मिक कृत्यों के अनुसार सिद्धांतत: राजा सदा एक निर्वाचित अधिकारी हुआ करता था; और वह उन्हीं शर्तों के अनुसार अपने उसी अधिकार का उपभोग करता था, जिन्हें राज्याभिषेक के समय शपथ ग्रहण करते हुये स्वीकृत करता था। इस प्रकार राजनीतिज्ञों का यह पण संबंधी सिद्धांत सदा मान्य रहता था और राजा और प्रजा दोनों ही उसके अनुसार कार्य करते थे।[२३] राजाओं के अधिकार वंश क्रमागत ही थे।

ऋग्वेद और अथर्ववेद में राजा के निर्वाचन का भी उल्लेख है राजा के निर्वाचन का आधार यह है कि अभिषेक के समय उसका अनुमोदन कुछ ऐसे व्यक्तियों से प्राप्त किया जाता था, जिन्हें राजकृत: कहा गया है। अथर्ववेद- में उन व्यक्तियों का उल्लेख है जो मनोनीत राजा के नाम निर्देशन में भाग लेते थे इनका उल्लेख वर्ण के संबंध में किया गया है जिनसे राजा को सफलता मिलती थी। ये पाँच राजकृत कहे गये हैं - १. रथकार (बढ़ई) २. कर्मार (लोहार) ३. सूत (सारथि) ४. ग्रामणी (गांव का प्रधान या सरपंच) और ५. राजान: (राजा के सगे संबंधी लोग)।[२४] राजकृत् का अभिप्राय यह है कि ये लोग राजा के निर्वाचन में भाग लेते थे। शतपथ ब्राह्मण और ऐतरेय ब्राह्मण आदि में इन्हें राजकृत और राजकर्ता कहा गया है।[२५] ये राजा के राजगद्दी पर बैठने की विधिवत् घोषणा करते थे।

राजा के निर्वाचन के विषय पर अथर्ववेद में विचार किया गया है कि राष्ट्र की सुरक्षा और राष्ट्र की सुख समृद्धि तथा शांति के लिये राजा की आवश्यकता है। नक्षत्रों ने चंद्रमा को अपना राजा बनाया है, इसीलिये वे सुखी हैं।[२६] जब असुरों ने देवों पर आक्रमण किया, तब उन्हें अपनी रक्षा की चिंता हुई। उन्होंने सर्वसम्मति से इंद्र को राजा बनाया कि वह शत्रुओं की सेना को जीते और राज्य शासन करे। उन्होंने इंद्र में राजस्व के गुण देखे कि इन्द्र गुणों में श्रेष्ठ है शत्रुहन्ता है उग्र और तेजस्वी है साहसी और कार्यकुशल है।[२७] अथर्ववेद के कई सूक्तों में प्रजा द्वारा राजा के निर्वाचन का उल्लेख है।[२८] अथर्ववेद का कथन है कि ये प्रजायें तुमको राज्यशासन चलाने के लिये राजा बनाती हैं। ये सभी दिशायें भी तुझको राजा स्वीकार करती हैं तू राष्ट्र के सर्वोच्च स्थान पर बैठ और तेजस्विता के काम करते हुये प्रजा को यथायोग्य

---

२३. वर्मा रामचंद्र, उपरोक्त, दूसरा खंड, पृष्ठ ६-७
२४. अथर्ववेद, ३.५.६-७
२५. शतपथ ब्राम्हण, ३.४१७, १३.२.१८, ऐतरेय ब्रा. ८.१७
२६. अथर्ववेद, ६.१२८.१
२७. अथर्ववेद, २०.५४.१
२८. अथर्ववेद, ३.४.१ से ७; ६.६७.१ से ३; ६.८८.१ से ३ तक

धन प्रदान कर। इससे स्पष्ट होता है कि प्रजा राजा का निर्वाचन करती थी।[२९] राजा का निर्वाचन सर्वसम्मति से होता था। देवों ने सर्वसम्मति से इंद्र को राजा बनाया था।[३०] राजा का निर्वाचन समिति करती थी अतएेव कहा गया है कि समिति तुझे स्थायी राजा बनाती है। तू स्थाई और अच्युत होकर शत्रुओं को नष्ट कर। जो शत्रुवत आचरण करते हैं, उन्हें भी नष्ट कर।[३१] अथर्ववेद में भी समीति के द्वारा राजा के निर्वाचन का उल्लेख है। ३२ ग्रिफिथ का कथन है कि प्राचीन समय में राजा के निर्वाचन की प्रथा प्रचलित थी।[३३] राजा होने के लिये आवश्यक था कि वह प्रजा का प्रिय व्यक्ति हो। प्रजा ऐसे व्यक्ति को राजा चुनती थी। अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि राजा प्रजा को प्रसन्न रखने और उसका समर्थन प्राप्त करने के लिये अत्यधिक प्रायत्नशील रहते थे।[३४] वे उनके मन और हृदय को प्रेम से जीतने का प्रयास करते थे।३५ राजा को प्रजा का समर्थन प्राप्त करने की आवश्यकता इसलिये थी कि उनके शत्रु राजा और ईष्यालु संबंधी कहीं राजा को पदच्युत न कर दें। अथर्ववेद में अभीवर्त मणि के द्वारा अपने शत्रुओं को नष्ट करने का विधान है। ३६ इसी प्रकार उपने सबंधियो आदि से रक्षा के लिये देवों से प्रार्थना है। ३७ अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि प्रजा निर्वाचन प्रथा को प्रतिष्ठित करना चाहती थी। और इस प्रथा को ही मान्यता देना चाहती थी।[३८] दूसरी ओर वे व्यक्ति थे जो राजा के पुत्र होने के कारण उस गद्दी पर अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझते थे। और वे निर्वाचन को असंगत या अनुचित समझते थे। इन दोनों प्रथाओं में पर्याप्त संघर्ष की सूचना अथर्ववेद से प्राप्त होती है।[३९] राजा के पुत्रादि निर्वाचित राजा को छल प्रपंच से भगाते थे उसे गद्दी से हटाते थे और कभी कभी देश से निर्वासित कर देते थे। प्रजा निर्वासित राजा को नहीं चाहती थी, अत: वह इसके लिये आंदोलन, संघर्ष आदि करती थी। ऐसे आंदोलनों से प्रजा को सफलता मिलती थी और निर्वासित राजा को पुन: गद्दी पर बैठाया जाता था। ऐसे राजा का अथर्ववेद में वर्णन मिलता है। निर्वासित राजा देश विदेश में इधर उधर भटकता हुआ घूमता है।[४०] प्रजा और उसके मित्र एवं शत्रु पुन: उसको बुलाते हैं। और राजगद्दी पर बैठाते हैं।[४१] राजा के निर्वासन लौटने पर प्रसन्नता मनाई जाती थी। प्रजा राजा के पास जाती थी इस प्रकार प्रजा की पहुंच सीधे राजा तक होती थी।[४२] स्त्रियाँ और बच्चे आदि खुशी मनाते थे तथा राजा को अनेक प्रकार के उपहार दिये जाते थे।[४३] जो निर्वाचन पद्धति का

---

२९. अथर्ववेद, ३.४.२
३०. अथर्ववेद, २०.५४.१
३१. अथर्ववेद, ६.८८.३
३२. अथर्ववेद, ५.१९.१५
३३. ग्रिफिथ, अथर्ववेद, भाग -१; पृष्ट ८४
३४. अथर्ववेद, ६.७३.१ से ३
३५. अथर्ववेद, ६.९४.१ से ३ तक
३६. अथर्ववेद, १.२९.१ से ६
३७. अथर्ववेद,१.३०.१ से ४ ; ७.३४.१
३८. अथर्ववेद, ३.४.१ से ७
३९. अथर्ववेद, ३ सूक्त ३-४
४०. अथर्ववेद, ३.३.४
४१. अथर्ववेद, ३.३.५
४२. अथर्ववेद, ३.४.३
४३. अथर्ववेद, ३.४.३

विरोध करते थे, वे चाहे अपने हो या पराये, उनको तिरस्कृत करके हटाया जाता था।[४४] अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि राजा अपने कर्तव्यों का पालन नहीं करता था। तो उसे गद्दी से उतार दिया जाता था।[४५] यदि वह अपने दोषों को स्वीकार करके प्रायश्चित करता था तो उसको पुन: गद्दी पर बैठाया जाता था इसी प्रकार अथर्ववेद में पदच्युत राजा का पदारूढ़ होने के लिये प्रयत्न करने का उल्लेख है।[४६] तैत्तिरीय संहिता, शतपथ ब्राह्मण आदि में भी अपने खोये हुये राज्य और ऐश्वर्य को पुन: प्राप्ति के लिये प्रयत्न करने का वर्णन है।[४७]

वैदिक काल में राजा का निर्वाचन समिति में एकत्र होने वाले लोग किया करते थे। कहा जाता है कि वहां जो लोग एकत्र होते थे, वे एकमत होकर राजा का निर्वाचन करते थे। समिति उसे नियुक्त करती थी और उससे शासनाधिकार ग्रहण करने की प्रार्थना करती थी। आशा की जाती है राजा अपने पद सेच्युत न होगा और शत्रुओं का दलन करेगा। राजा के निर्वाचन का पूरा गान ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के मंत्रों द्वारा दर्शाया जा रहा है।

आत्वाहार्षमन्तरेधि ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलि: ।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत् ॥ [४८]

हे राजन् ! तुझे हमारे राष्ट्र का स्वामी बनाया है। तू हमारा राजा हो। तू नित्य अविचल और स्थिर होकर रह। सब प्रजा तुझे चाहे। तेरे से राष्ट्र नष्ट न होने पावे।

इहैवैधि माप च्योष्ठा: पर्वत इवाविचाचलि: ।
इन्द्र इवेह ध्रुवस्तिष्ठे ह राष्ट्रमु धारय ॥ [४९]

हे राजन् तू यहीं - इस राष्ट्र में ही - अविचल स्थिर रह। तू राजपद से च्युत मत हो। तू पर्वत के समान निश्चल रह। जैसे स्वर्ग में इंद्र है, वैसे ही तू इस पृथ्वी पर स्थिर रह। और यहां राष्ट्र को धारण कर।

इमनिन्द्रो अदीधरद् ध्रुवं ध्रुवेण हविषा ।
तस्मै सोमो अधि ब्रवत् तस्मा उ ब्राह्मणस्पति : ॥[५०]

इंद्र इस अभिषिक्त राजा को अक्षय्य होमीय द्रव्य पाकर स्थिर करे सोम उसको अपनाही कहे। उसको ब्राह्मणस्पति भी अपना ही समझे।

ध्रुवा द्यौध्रुवा पृथिवी ध्रुवास: पर्वतो इमे ।
ध्रुवं विश्वमिदं जगद् ध्रुवों राजा विशामयम् ॥[५१]

---

४४. अथर्ववेद, ३.३.६
४५. अथर्ववेद, ३.८.२
४६. अथर्ववेद, ८.१०
४७. तैत्तिरीय संहिता २.३.१, शतपथ ब्राम्हण १२.९.३.३
४८. ऋग्वेद १०.१७३.१, अर्थववेद ६.८७.१
४९. ऋग्वेद १०.१७३.२, अथर्ववेद ६.८७.२
५०. ऋग्वेद, १०.१७३.३, अथर्ववेद, ६.८७.३
५१. ऋग्वेद, १०.१७३.४ अथर्ववेद, ६.८८.१

जिस प्रकार धूलोक स्थिर है, पृथ्वी स्थिर है, सब जगत स्थिर है, तथा ये पर्वत स्थिर है उसी प्रकार यह प्रजाओं का रंजन करने वाला स्थिर है।

ध्रुवं ते राजा वरुणो, ध्रुवं देवो बृहस्पतिः ।
ध्रुवं व इन्द्रश्चग्निश्च राष्ट्रं धारयतां ध्रुवम् ॥[५२]

हे राजन् ! तेरे राष्ट्र को तेजस्वी वरुण स्थिर करें। दानादि गुणों से युक्त बृहस्पति अविचल करें। इंद्र और अग्नि भी तेरे राष्ट्र को स्थिर रूप से धारण करें।

ध्रुवोच्युतः प्र मृणीहि शत्रून्छत्रूयतोऽधरान्पादयस्व।
सर्वा दिशः संमनसः सध्रीचीर्ध्रुवाय ते समीतिः कल्पतामिह ॥[५३]

राजा स्थिर और सुदृढ होकर शत्रु का नाश करे, शत्रु के समान आचरण करने वालों को नीचे गिरावे। सब प्रजाजन एक विचार से युक्त होकर अपनी राष्ट्रसभा द्वारा उत्तम राजा को राजगद्दी पर स्थिर रखे।

यहां एक मंत्र और उद्दृत किया जाता है। जान पड़ता है कि इसका व्यवहार किसी ऐसे राजा को पुनः निर्वाचत होने के समय होता था जो पहले एक बार निकाल दिया जाता था।

त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वाभिमाः प्रदिशः पञ्च देवीः।
वर्ष्मन् राष्ट्रस्य कुकुदि श्रयस्व ततो न उग्रो विभजा वसूनि। [५४]

अर्थात - राज्य के लिये प्रजा तुम्हें वरण करती है, विस्तृत विशाल दिशाएँ तुम्हें वरण करती हैं। राष्ट्र के शरीर के इस उच्च स्थान पर आसीन हो और यहां से उग्रतापूर्वक सब लोगों को प्राकृतिक वैभव प्रदान करो। कुकुद का शब्दार्थ है - बैल के कंधे का डिल्ला। यहां इस शब्द से राजसिंहासन की ओर संकेत है जो राष्ट्र के शरीर में सबसे ऊँचा स्थान समझा जाता है। इस मंत्र के पहले चरण से सूचित होता है कि कथन एकराट् राजा के संबंध में है।

वैदिक काल के उपरान्त भी समय समय पर राजाओं का निर्वाचन हुआ करता था। मेगस्थिनीज ने लिखा है - कि स्वयंभू, बुद्ध और क्रतु के उपरान्त राज्यारोहण प्रायः वंशानुक्रमिक हो गया था। परंतु जब किसी राजवंश में कोई उत्तराधिकारी नहीं रह जाता था, तब भारतवासी व्यक्ति का निर्वाचन उसकी योग्यता देखकर किया करते थे।[५५]

जातकों[५६] में भी राजाओं के निर्वाचन की कथाएँ है; बल्कि ऐसी कहानियाँ भी हैं जिनमें

---

५२. ऋग्वेद, १०.१७३.५ अथर्ववेद, ६.८८.२
५३. अथर्ववेद, ६.८८.३
५४. अथर्ववेद, ३.४.२
५६. जातक, पहला खंड, पृष्ठ ३९९१
५५. MC. Crindle, Megasthenses and Asian Page -2001

कहा गया है कि पशु जगत में भी राजा का निर्वाचन हुआ करता था। इन कथाओं से यही सूचित होता है कि राजा के निर्वाचन का सिद्धांत एक राष्ट्रीय सिद्धांत था जो बहुत अधिक प्रचलित था।[५७]

दैवीय उत्पत्ति -

हिन्दू राज्यशास्त्र के अनेक ग्रंथों में राजा की उत्पत्ति को दैवीय बताया है। दैवीय उत्पत्ति के सिद्धांत के अनुसार राजा अथवा राज्य को ईश्वर ने जन्म दिया। आरंभ में राजा न था अराजक (राजाहीन दशा थी), जिसे किसी ने सतयुग बताया है और किसी ने अराजकतापूर्ण या अशांति की दशा बताया है। अराजक दशा से त्रस्त होकर मनुष्य ब्रह्मा के पास पहुंचे, तब ब्रह्मा ने इंद्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरूण, चंद्र और कुबेर के अंश को लेकर राजा की सृष्टि की।

अराजके हि लोकेऽस्मिन् सर्वतो विद्रतो भयात्।
राक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत् प्रभुः ॥ मनु ॥

अर्थात जिस समाज में राजा का अस्तित्व न था। उस प्राकृतिक अवस्था में सर्वत्र भय ही भय व्याप्त था।

इन्द्राऽग्निलमयार्काणामग्नेश वरूणस्य च।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निहर्त्वस्य शास्वतीः ॥
तपस्यादित्यवच्चैव चक्षसि मनांसि च।
न चैनं भुवि शक्नोति कचिदप्यमिवीक्षितुम् ॥[५८]

अर्थात उक्त अनेक देवताओं का अंश लेकर राजा का निर्माण किया गया राजा का प्रभाव इतना प्रबल होता था कि कोई भी व्यक्ति उनकी ओर आंख उठाकर नहीं देख सकता था। प्राचीन भारतीय वैदिक साहित्य में राजत्व की उत्पत्ति की दो धाराएँ प्रचलित थी। एक के अनुसार - मनु को मनुष्यों में शांति स्थापित करने के लिये राजा बनाकर भेजा गया। दूसरी धारा के अनुसार - प्रशु को प्राचीनतम राजा समझा गया। महाभारत[५९] और दीर्घनिकाय[६०] में राज्य की उत्पत्ति पर विचार किया गया है और विभिन्न सम्प्रदाय तथा समय के होने पर भी दोनों ग्रंथों के विचारों में महत्वपूर्ण साम्य है। दोनों का कहना है कि मनुष्य समाज की सृष्टि के बाद बहुत दिनों तक सतयुग, सुख और शांति का सवर्णकाल रहा, लोग स्वभावतः धार्मिक होते थे और सरकार तथा कानून या विधिनियमों के बिना ही शांति और सदाचार पूर्वक

---

५७. महावस्तु (सेनर्टवाला संस्करण,) दूसरा खंड, पृष्ठ ७०
५८. मनुस्मृति ७/४-६
५९. महाभारत शांतिपर्व, अध्याय ५८
६०. दीघनिकाय, भाग ३, पृष्ट ८४.८५

रहते थे। महाभारत के शांतिपर्व में उल्लेख है - कि एक ऐसा युग था जब मानव सर्वथा सदाचारी होता था। जब न राज्य था और न राजा, न दण्ड था न दण्ड देने वाला, धर्मानुसार प्रजा के लोग परस्पर एक दूसरे की रक्षा करते थे :

नैव राज्यं न राजासीन्न दण्डो न च दाण्डिकः।
धर्मेणेव प्रजाः सर्वाः रक्षन्ति च परस्परम्॥

बहुत समय तक बिना राजा और न्यायधीश के ही समाज सतपथ् पर चलता रहा परंतु महाभारत के अनुसार यह स्थिति सदैव नहीं रही किसी प्रकार समाज में अधः पतन आरंभ हो गया। लोग सदाचार से भ्रष्ट होकर स्वार्थ लोभ और वासना के वश में हो गये और जिस स्वर्गीय व्यवस्था में वे रहते थे वह नरक बन गई। मत्स्न्याय, जिसकी लाठी उसकी भैंस का बोल बाला हुआ। बलवान निर्बलों को खाने लगे। देवता भी यह सब देखकर चिंतित हुये और उन्होंने इस दुर्दशा का अंत करने का निश्चय किया लोग भगवान ब्रह्मा की शरण में गये। ब्रह्मा जी निश्चय पर पहुंचे कि मनुष्य जाति की रक्षा तभी हो सकेगी जब एक आचार शास्त्र बनाया जाये और उसे राजा द्वारा कार्यान्वित किया जाये। अतः उन्होंने एक विस्तृत विधान बनाया और मानस पुत्र 'विरजस' की सृष्टि की और उसे राजा बनाया जनता ने भी उसके अनुशासन में रहना स्वीकार किया। इस विवरण से स्पष्ट है कि राजा की उत्पत्ति दैवीय मानी जाती थी। अथर्ववेद के अनुसार - ''राजा'' इन्द्र, सोम, वरूण, मित्र, यम, पितर सविता आदि देवों का अंश है।[६१] मनु का, राजा के दैवीय उत्पत्ति के सिद्धांत में विश्वास है यह हमें ज्ञात है कि ईश्वर ने देवों के अंश से ही राजा की सृष्टि की इसी कारण राजा अपने तेज से सब जीवों को पराजित करता है। यह राजा देखने वालों के नेत्र तथा मन को सूर्य के समान संतृप्त करता है; अतः पृथ्वी पर कोई भी उसे देखने में समर्थ नहीं होता। राजा अग्निरूप, वायु रूप, सूर्य रूप, चंद्र रूप, धर्मराज (यम) रूप, कुबेर रूप और महेन्द्र रूप है। अतएव ऐसा मानकर कि ''राजा मनुष्य ही तो है'' बालक राजा का भी अपमान नहीं करना चाहिये। क्योंकि उसमें दैवीय शक्ति स्थिर रहती है। याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार भी राजा दैवीय अंश है। जैसी कि एक प्राचीन कथा में कहा गया है कि जब देवताओं ओर मनुष्यों को नियंत्रण में न रखा जा सका तब प्रजापति ने पूछा कि आवश्यक कार्य और प्रजा की रक्षा कौन करे ? देवताओं ने उत्तर दिया कि वे विभिन्न देवताओं - सोम, आदित्य, इन्द्र, विष्णु और यम के विशिष्ट गुणों - सौन्दर्य, वीरता अनुशासन त्याग आदि से मनुष्य के रूप में एक राजा की सृष्टि करेंगे। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि याज्ञवल्क्य भी राजा को दैवीय उत्पत्ति का मानते थे और दोनों ही आचार्यों के अनुसार राजा देवांश है। डॉ. जयसवाल का कथन है कि मानव धर्मशास्त्र के अनुसार, विभिन्न देवता राजा के शरीर में आते हैं और वह स्वयं एक महान देवता बन जाता है मनु ने राजा को बनाया है। जिससे घृणा करने वालों को निरंकुश शक्तियों से दण्डित किया जाता है।[६२] मत्स्य पुराण

६१. अथर्ववेद, ८ से १४/१५/१० तक
६२. जयसवाल के. पी. हिन्दू पॉलिटी, पृष्ठ २२५-२६

में इस आशय की प्रतिध्वनि मिलती है कि राजा ईश्वर का अंश रूप है यदि वह कोई बालक भी हो तो उसका असम्मान नहीं करना चाहिये।

दण्ड प्रणयनार्थाय राजा सृष्ट: स्वयम्भुवा।
देवभागानुपादाय सर्वभूतादि गुप्तये ॥[६३]

कौटिल्य के अर्थशास्त्र[६४] में वर्णन है कि राजा इंद्र और यम का स्थानीय होता है। दया और क्रोध उसमें प्रत्यक्ष रूप से विद्यमान रहते हैं जो उसका अपमान करता है वह दैवीय दण्ड का भागी होता है। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में सर्वत्र राजा के दृढ स्थायित्व पर बल दिया है और उसकी स्थिति को सुदृढ करने हेतु उसको देवता समान कहा है। शतपथ ब्राह्मण[६५] में कहा गया है कि राजा प्रजापति का प्रतिनिधि है इसीलिये एक होते हुये भी वह अनेकों पर शासन करता है। महाभारत के अनुसार - [६६] राजा की उत्पत्ति राज्य की उत्पत्ति से जुड़ी है राजा की सृष्टि दैवीय थी। भीष्म कहते है; राजा का पद दैवीय है वह महान् देवता है नर रूप धारण कर पृथ्वी पर विचरता है। इसीलिये राजा को मनुष्य रूप देकर कभी उसका अनादर नहीं करना चाहिये। राजा में कई देव वास करते है - अग्नि, आदित्य, यम, कुबेर आदि। पापियों का नाश करने के लिये राजा अग्निदेव का रूप धारण करता है। जब राजा अधर्म करने वालों को तीक्ष्ण दण्ड देता है और धर्म परायण व्यक्तियों पर अनुग्रह करता है तो वह यम का रूप धारण करता है। और जब वह उपकारियों पर धन वर्षा करता है तो कुबेर का रूप धारण करता है। भीष्म के अनुसार राजा देव है क्योंकि वह धर्म पारायण है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार राज्य (राजा) ईश्वर प्रदत्त सत्ता है जहां राजा को प्रजापति कहा गया है और 'चक्रवर्तिन' शब्द के चक्र का विष्णु चक्र से संबंध बताया गया है।[६७] ऐतरेय ब्राह्मण[६८] में राज्याभिषेक के प्रसंग में अग्नि, गायत्री, स्वस्ति, बृहस्पति आदि देवताओं से राजा के शरीर में प्रवेश करने की प्रार्थना की गई है। इस प्रकार राजा को परमात्मा का अंश माना जाता था। जनता को शासन में रखने के लिये परमात्मा स्वयं नररूप धारण करता था, कालान्तर में ऐसा विचार विकसित हुआ। राज्य के दैवीय उत्पत्ति के संबंध में कुछ उल्लेख मिलते है वस्तुत: राजा और राज्य की उत्पत्ति दोनों अन्योन्याश्रित है यजुर्वेद के मंत्र के अनुसार -

परिवीरसि परित्वा दैवीर्विशो त्ययन्तां परीयं यजमानःरायो मनुष्याणाम्।
दिव: सुनुरस्ये ष ते पृथिव्यांल्लोक आरण्यस्ते पशु: ॥[६९]

---

६३. मत्स्य पुराण, २२६/१
६४. कौटिल्य का अर्थशास्त्र १/९
६५. शतपथ ब्राम्हण, ५.३.१२
६६. घोषल यू. एन., 'ए हिस्ट्री आफ इंडियन पॉलिटिकल आईडियाज, पृष्ठ १९६
६७. शतपथ ब्राम्हण ५.१५.१४
६८. ऐतरेय ब्राम्हण ८.२.९
६९. यजुर्वेद ६.६

हे राजन् ! तेरी नियुक्ति की जा रही है; दिव्य गुणों से परिपूर्ण विश: (प्रजा) तुझे स्वीकार करे। मनुष्यों के उपयुक्त समृद्धियां तुझे प्राप्त हो; तू द्यूलोक की संतान है; इस पृथिवी के समस्त प्राणी व अरण्य तेरे पशु हैं। जैन ग्रंथकार जिनसेन के अनुसार जैन धर्म के प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभनाथ ने समाज में शांति एवं सुव्यवस्था की स्थापना हेतु राजा एवं अधिकारी नियुक्त किये तथा लोगों का विभिन्न वर्गों में उनके कर्मानुसार विभाजन किया। इस तथ्य के मूल में राजा की उत्पत्ति के दैवी सिद्धांत का पुट मिलता प्रतीत होता है।

शक्ति का सिद्धांत-

इस सिद्धांत के नाम से ही स्पष्ट है कि राज्य की उत्पत्ति शक्ति प्रसार की भावना या अधिपत्य के प्रयोग से हुई। इसके अनुसार शक्तिशाली कबीलों, जनों के सरदारों ने दुर्बल कबीले अथवा जनों पर विजय प्राप्त कर राज्य की स्थापना की। विजयी कबीलों का सरदार शासक बना और शेष जन शासित रहे। दूसरे शब्दों में राजा की उत्पत्ति युद्ध से हुई। ऐतरेय ब्राह्मण में वर्णन है कि देवासुर संग्राम में देव पराजित हुये। उन्होंने अपनी पराजय का कारण यह माना कि है कि उनका कोई राजा न था जबकि असुरों का राजा था। अत: उन्होंने भी एक राजाचुनने का संकल्प किया। इस पर टिप्पणी करते हुये डॉ. जयसवाल ने लिखा है कि यदि इसका कोई ऐतिहासिक महत्व है तो यही कि आरंभ में आर्यों ने द्रविणों से राजपद की संस्था को ग्रहण किया।[७०] जिन्हें वे असुर कहते थे और उसकी तुलना में अपने को सुर।

''यह तो एक माना हुआ सत्य है कि प्राचीन आर्य प्रारंभ में जनों में संगठित थे और प्रत्येक जन का सबसे श्रेष्ठ अथवा शक्तिशाली पुरूष नेता होता था। वही अपने जन का युद्ध में भी नेतृत्व करता था अत: प्रारंभिक राज्यों के निर्माण में शक्ति और युद्ध का अवश्य ही महत्वपूर्ण भाग रहा होगा। डॉ. सिन्हा ने राष्ट्र (अथवा प्रथम राज्य) की उत्पत्ति के विषय में लिखा है--- । जब आर्यजन (कबीले) निश्चित भूभाग पर रहने लगे तो उन्हें उस भूमि से अवश्य ही प्रेम उत्पन्न हुआ होगा; उस प्रेम के साथ उनमें आदिवासियों के प्रति घृणा और अपने वर्ण, रंग, तथा विजित प्रदेश के रक्षण के लिये गहरी चिंता उत्पन्न हुई होगी। इस प्रकार आर्यों के मन में उसी भूमि के प्रति जहां के वे निवासी थे एक सुदृढ भावना पैदा हुई होगी, क्योंकि उस भूमि से वे कभी हटना नहीं चाहते थे। इस भावना ने जिसे प्रतिरक्षा व आक्रमण की आवश्यकता से अधिक सुदृढ बनाया होगा, प्रारंभिक राजनीतिक चेतना का रूप धारण किया होगा और इस प्रकार प्रथम राज्य, जिसे वैदिक आर्यों ने राष्ट्र कहा, उत्पन्न हुआ होगा।[७१] पाश्चात्य विद्वान जैक्स ने कहा है कि ऐतिहासिक दृष्टि से यह सिद्ध करने में कोई कठिनाई नहीं कि आधुनिक ढंग के सभी राजनीतिक

---

७०. जयसवाल के. पी., हिन्दू पॉलिटी, पृष्ट २३
७१. सिन्हा एच. एन. दा डवलपमेंट आफ इंडियन पॉलिटी, पृष्ठ २३

समुदायों का अस्तित्व सफल युद्ध क्रिया का परिणाम है। अन्य राजनीतिक विचारक भी यह स्वीकार करते हैं कि राज्य की उत्पत्ति में शक्ति का प्रयोग अथवा युद्ध एक महत्वपूर्ण योग देने वाला कारण रहा है। शतपथ ब्राह्मण[७२] में एक वर्णन इस प्रकार है : जब कभी सूखा पड़ता है अधिक बलवान कमजोर को पकड़ लेता है यह प्राकृतिक अवस्था के सिद्धांत की ओर से संकेत करता है, जिससे अराजकता व गड़बड़ फैली और उसके परिणाम स्वरूप राज्य व राज्यतंत्र की स्थापना हुई। युद्ध मूलक सिद्धांत या शक्ति सिद्धांत के अनुसार युद्ध की भावना से त्रस्त होकर प्राणियों ने राज्य की स्थापना की। इस विचारधारा का मूल रूप ऐतरेय ब्राह्मण[७३] में मिलता है। देवताओं और असुरों में युद्ध हो रहा था। देवता पराजित हो गये। तब देवों ने एकत्र होकर निश्चय किया कि हमारा कोई राजा नहीं है, यही हमारी पराजय का कारण है। इस पर सभी देवताओं ने अपने लिये राजा बनाना स्वीकार किया। इस प्रकार राजा की उत्पत्ति हुई। प्रस्तुत अंश में इस तथ्य पर बल दिया गया है कि युद्ध की आवश्यकता के कारण विवश होकर राज्य संस्था की उत्पत्ति हुई। देवताओं ने राजा के होने की अनिवार्यता को दैत्यों से ग्रहण किया तथा उसका उनमें इस प्रकार प्रारंभ में सूत्रपात हुआ।

देवासुरा वा एषु लोकेषु समयतन्त ....,
ताम्ततोसुरा अजयन् .... ।
देवा अब्र वत्रराजतया नो जयन्ति,
राजं नं करवा महा इति तयेति ॥ (ऐतरेय ब्राम्हाण)

इस प्रकार राजा की क्या आवश्यकता है इस विषय पर अथर्ववेद में विचार किया गया है कि राष्ट्र की सुख समृद्धि तथा शांति के लिये राजा की (राजतंत्र) आवश्यकता है युद्ध से प्रेरित होकर ही सभी देवों ने मिलकर इंद्र को अपना राजा बनाया अथर्ववेद के इस मंत्र से ज्ञात होता है।[७४]

विश्वा: पृतना अभिभूतरं नरं सजूस्ततक्षुरिन्द्रं जजनुश्च राजसे ।
क्रत्वा वरिष्ठं वर आमुरिमुतोग्रमोजिष्ठं तवसं तरस्विनम् ॥

जब देवों पर असुरों ने आक्रमण किया, तब उन्हें अपनी रक्षा की चिंता हुई। उन्होंने सर्वसम्मति से इंद्र को राजा बनाया कि वह शत्रुओं की सेना को जीते और राज्य शासन करे। उन्होंने इंद्र में राजत्व के गुण देखे कि वह गुणों में श्रेष्ठ है, शत्रुहन्ता है, उग्र और तेजस्वी है, साहसी और कार्यकुशल है।

---

७२. शतपथ ब्राम्हण ११.१.६.४
७३. ऐतरेय ब्राम्हण ८.१२-१७
७४. अथर्ववेद, २०.५४.१ ऋग्वेद - ८.९७.१०

संविदा सिद्धांत -

वैदिक काल में विशः या जनता राजा के साथ एक संविदा (इकरार) करती थी। जिसके अनुसार राजा यह जिम्मा लेता था कि वह अपनी प्रजा की सब बाह्य और आभ्यान्तर शत्रुओं से रक्षा करेगा और उसका न्यायपूर्वक पालन करेगा। इसी कार्य के लिए प्रजा राजा को बलि (कर) प्रदान करती थी। महाभारत के अन्तर्गत शांतिपर्व[७५] में यह उल्लेख मिलता है कि युधिष्ठिर के प्रश्न के उत्तर में भीष्म कहते हैं - ''अराजक अवस्था में प्रजा वैसे नष्ट हुई थी जैसे जल में बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है''। इस प्रकार उस समय देश के अंदर एक प्रकार से अराजकता फैली हुई थी, सर्वत्र अन्याय का बोलबाला हो चला था अनेच्छापूर्वक शक्तिपूर्ण साधनों से वाधित होकर लोगों को दास बनना पड़ता था। इस समय सामाजिक अव्यवस्था इतने जोरों से बड़ चली थी कि सर्वत्र लोग व्याकुल होने लगे और वे इस प्रकार इस अव्यवस्था से बचने का उपाय देखने लगे। अन्ततोगत्वा उन सभी ने आपस में मिलकर यह निश्चय किया कि दुराचारी व्यक्तियों को जो कि समाज में अशांति फैलाते है, जैसे - कटुभाषी, उद्दण्ड, परस्त्री-गामी और परधनहारी होगा समाज से बहिष्कृत कर दिया जाये। इसी प्रकार की विचारधारा से प्रेरित होकर देश में व्यवस्था लाने के उद्देश्य से वे सभी लोग ब्रह्मा के पास गये और उनसे जाकर बोले, हे जगतरक्षक! राजा के अभाव में हम लोग विनाश की ओर उन्मुख हो रहे हैं। आप हम लोगों के रक्षार्थ किसी राजा की नियुक्ति कीजिये। वह हम लोगों की रक्षा करेगा और हम लोग उसकी पूजा करेगे। देवताओं की प्रर्थना सुनकर ब्रह्मा ने मनु की ओर संकेत किया, परंतु मनु ने कहा कि मैं पाप से डरता हूँ और राजकार्य बड़ा कठिन है, विशेषकर मनुष्यों में जो नित्य मिथ्याचार करते हैं इस पर प्रजाजनों ने मनु से अनुरोध करते हुये कहा कि आप किसी प्रकार से भयभीत न हों। पापाचरण करने वाला ही उसका फल भोगेगा। राज्य के उपयुक्त संचालन हेतु हम आपको कोष वृद्धि के लिये अपने पशुओं और स्वर्ण का पचासवाँ भाग और धान्य का दसवाँ भाग देगें। राजा से रक्षित होकर प्रजा जो धर्माचारण करेगी, उसका चर्तुमांश फल आपको मिलेगा। इससे स्पष्ट है कि मत्स्य न्याय से दुखी होकर मनुष्यों ने राजा की मांग की और जब मनु ने राजा बनना स्वीकार किया तब प्रजा ने उन्हें विश्वास दिलाया कि वह प्रजा रक्षण के बदले में अपने धान्य का भाग देगी। राजा का कर्तव्य हुआ प्रजा की रक्षा करना और प्रजा का कर्तव्य हुआ उसे कर के रूप में वेतन देना। इस प्रकार जब इस अव्यवस्थित समाज से लोग तंग आ गये तो उन्होंने आपस में मिलकर यह निश्चय किया कि क्यों न शांतिपूर्ण ढंग से रहा जाये और इस पारस्परिक समझौते के कारण समाज में शांति स्थापित हो गई। डॉ. काणे के अनुसार[७६] प्राचीन भारतीय साहित्य में कहीं -कहीं ''रूसो द्वारा उद्घोषित सामाजिक समझौते वाले सिद्धांत की प्रतिध्वनि भी मिल जाती है। वर्तमान काल में सामाजिक समझौते वाला

---

७५. महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ६७

७६. काणे पी. वी. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग २, (१९६५), पृष्ट ५९१

सिद्धांत दो रूपों में उपस्थित किया गया है। पहला वह है, जिसके द्वारा शासन एवं जनता में स्पष्ट अभिमत की कल्पना की गई है और दूसरा वह है, जिसके द्वारा यह व्यक्त होता है कि एक ऐसे राजनैतिक समाज का निर्माण हुआ जो व्यक्तियों का पारस्परिक समझौता था और जिसमें राजा का कोई हाथ नहीं था''। इस संबंध में सर्वप्रथम उल्लेख अथर्ववेद[७७] में मिलता है प्रजापति के नेतृत्व में देवताओं ने सर्वसम्मति से इंद्र को राजा बनाया कि वह शत्रुओं की सेना को जीते और राज्यशासन करे। उन्होंने इंद्र में राजत्व के गुण देखे कि वह गुणों में श्रेष्ठ है, शत्रुहंता है, उग्र और तेजस्वी है, साहसी और कार्यकुशल है। अत: इसे हमें अपना राजा स्वीकार करना चाहिये। ऋग्वेद में भी इसी मंत्र की प्रतिध्वनि मिलती है -

''विश्वा: प्रतना अभिभूतरं नरं सजूस्ततक्षुरिन्द्रं जजनुश्च राजसे।
क्रत्वा वरिष्ठं वर आमुरिमुतोग्रमोजिष्ठं तवसं तरस्विनम्'' ॥

इस प्रकार देवों द्वारा सर्वसम्मति से समझौता करके इंद्र का वरण किया गया और इंद्र की प्रभुसत्ता का उदय हुआ। यह समझौता, पाश्चात्य राजनीति विज्ञान द्वारा प्रतिस्थापित सामाजिक समझौते के सिद्धांत के अनुरूप है। बौद्ध ग्रंथ ''दीर्घनिकाय'' में राज्य की उत्पत्ति के अनुबंधवाद रूप का प्रतिपादन किया गया है। इसके अनुसार अराजकता से त्रस्त लोगों ने एकत्रित होकर निश्चय किया कि ऐसे व्यक्ति को प्रधान रूप में चुना जाये जो सर्वाधिक समर्पित हो, सबसे अधिक आकर्षक एवं सर्वाधिक योग्य हो। तब ऐसे योग्य व्यक्ति ने प्रतिज्ञा की कि वह वहीं पर क्रोध करेगा जहां उसे क्रोध करना चाहिये, उसी की भर्त्सना करेगा जिसकी भर्त्सना होनी चाहिये, उसी को निर्वासित किया जायेगा जिसे निर्वासन का दण्ड मिलना चाहिये। इसके बदले में लोगों ने उसे अपनी संपत्ति का एक भाग देना स्वीकार किया इस प्रकार जिस व्यक्ति का निर्वाचन हुआ उसने तीन उपाधियाँ धारण की - (१) महासम्मत (२) खत्तिय (३) राजा। महासम्मत से तात्पर्य सभी लोगों द्वारा निर्वाचित, खत्तिय का अर्थ कृषि का मुखिया एवं राजा का आशय लोगों को मोहित करने वाला। ऐतरेय ब्राह्मण[७८] में युग प्रजापति के नेतृत्व में देवताओं ने परस्पर कहा कि हमारे मध्य इन कार्यों के संपादन के लिये सर्वाधिकार, स्वस्थ, शक्तिसम्पन्न पूर्ण एवं सर्वोत्तम है अत: उन्होंने उसे राजपद पर प्रतिष्ठत करने एवं उनका महाभिषेक करने का निश्चय किया इस प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण में युग की आवश्यकता को देखकर शारीरिक बल पर तथा दीर्घनिकाय में जनप्रियताा आकर्षण एवं योग्यता पर बल दिया गया है। महावंश में उल्लेख है कि प्रथम राजा महासम्मत कहलाया। पञ्चगरूजातक एवं तेलपत्र जातक में उल्लेख है कि बोधिसत्व को प्रजा ने राजा चुना। बुद्ध का जीवन चरित्र प्रस्तुत करने वाले बौद्ध ग्रंथ 'महावस्तु' में राज्य की उत्पत्ति के अनुबंध सिद्धांत का रूप देखने को मिलता है। यहां सर्वाधिक सुशोभित एवं शक्तिसंपन्न व्यक्ति को निर्वाचित किये जाने और उसके महासम्मत कहलाने का

---

७७. अथर्ववेद, (२०.५४.१) ऋग्वेद ८.९७.१०
७८. ऐतरेय ब्राम्हण, १.१४

उल्लेख है। महावस्तु के अनुसार राजा का कार्य दण्डनीय को दण्डित करना एवं सुपात्रों को पुरस्कार द्वारा सम्मानित करना था। उचित ढ़ंग से प्रजा की रक्षा एवं प्रजापालन करने वाले राजा को धान की उपज का भाग पाने का अधिकार है। बौद्ध ग्रंथ में राजा एवं प्रजा के बीच अनुबंध का भाव स्पष्ट हो जाता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र[७९] में राज्य की उत्पत्ति की चर्चा संक्षिप्त रूप में प्राप्त होती है। केवल आठवें प्रकरण के १२वें अध्याय में दो जासूसों के बीच जो वाद विवाद का वर्णन आता है उससे राज्योत्पत्ति के समाजिक अनुबंध के सिद्धांत की ओर संकेत मिलता है। यह वाद-विवाद निम्न प्रकार है - जैसे बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है, पुरकाल में वैसे ही बलवान लोगों ने निर्बल लोगों का रहना दूभर कर दिया था। इस अध्याय से बचने के लिये प्रजा ने मिलकर विवक्ष्वान के पुत्र मनु को अपना राजा नियुक्त किया; और तभी से खेती की उपज का छठा भाग, व्यापार की आमदनी का दसवां भाग तथा थोड़ा सा स्वर्ण राजा के लिये कर के रूप में निर्धारित कर दिया था। प्रजा के द्वारा निर्धारित भाग को पाकर राजाओं ने प्रजा के योग-क्षेत्र का सारा दायित्य अपने उपर ले लिया। इस प्रकार से निर्धारित दण्ड एवं कर प्रजा के उत्पीड़नों को दूर करने में सहायक होते हैं और प्रजा की भलाई एवं कल्याण के कारण सिद्ध होते हैं। यही कारण है कि जंगलों में एकांत जीवन बिताने वाले ऋषि मुनि भी दाना-दाना करके बीने हुये अन्न का छठा भाग राजा को देते है, यह जान कर कि राजा का इन पर सनातन हक है। जिसके बदले में वह हमारी रक्षा करता है। इंद्र और यम के समान ये राजा लोग भी प्रजाजनों का प्रत्यक्ष निग्रह एवं उन पर अनुग्रह करने वाले होते हैं। इसीलिये जो उनका तिरस्कार करता है, निश्चित ही उस पर दैवीय विपत्तियाँ टूटती हैं। यही कारण है इनको दृष्टि में रखकर राजा का अपमान नहीं करना चाहिये। कौटिल्य द्वारा उपर्युक्त, विवरण राज्य की उत्पत्ति के लिये सामाजिक समझौते की ओर संकेत करता है। सामाजिक समझौते के सिद्धांत के अंतर्गत प्रशासक और प्रजा के बीच समझौता (अनुबंध) आता है। इससे इस तथ्य की झलक मिलती है कि शासन या सरकार जनता की स्वीकृति पर निर्भर है। यजुर्वेद के एक मंत्र के अनुसार[८०] -

''अस्ये वो अस्त्विन्द्रियमस्मे नृम्णमुत क्रतुरस्मे वर्चांᳬसि सन्तुवः।
नमो मात्रे पृथिव्यै नमो मात्रे पृथिव्या इयं ते राड्।
यन्ताऽसि यमनो ध्रुवोऽसि धरूणः। कृष्यै त्वा क्षेमायत्वा रय्यैत्वा पोषाय त्वा॥''

पुरोहित राजा को संबोधित करते हुये कहता है - ''हे प्रस्तावित राजन्! मैं कृषि समृद्धि, धन ऐश्वर्य, सार्वजनिक कल्याण तथा सार्वजनिक पोषण के निमित्त राजपद पर तेरा अभिषेक करता हूँ''। महाभारत के

---

७९. गैरोला वाचस्पति, कौटिल्य का अर्थशास्त्र : पृष्ठ २६-२७
चौरखम्भा, विद्याभवन, वाराणसी (१९६२)
८०. यजुर्वेद ९.२२

विवरण से यह प्रतीत होता है कि समाज के मानने से ही विरजस राजा हुआ और दीर्घनिकाय तो स्पष्ट कहता है कि 'महाजन सम्मत' लोगों की प्रार्थना पर ही लोगों की अव्यवस्था दूर करने तैयार हुये तब लोगों ने उन्हें राजा बनाया। इन विवरणों में समाज की सहमति या इकरारनामे से ही राज्य की स्थापना का भाव निहित है। धर्म सूत्रों[८१] का भी यही मत है -

''*षड्भागभृतो राजा रक्षेत प्रजान्*'' (बौ. ध. सूत्र)

क्योंकि वे लिखते हैं, कि राजा प्रजा का सेवक है उसका कर्तव्य उनका संरक्षण है और उसे प्रजा की आय का १/६ वां भाग अपने वेतन के रूप में मिलना चाहिये। रामायण के 'अयोध्याकाण्ड' में उल्लेख है कि राजा दशरथ ने राम को युवराज पद देने हेतु सामंतों, नागरिकों एवं श्रमिकों आदि की सभा आमंत्रित की थी। उन सभी आगंतुको ने प्रसन्नतापूर्वक सहमति से अपना अभिमत राम के लिये व्यक्त किया था इसी प्रकार पश्चिमी विचारक हॉब्स, लॉग, रूसो ने भी राज्य की उत्पत्ति में 'सामाजिक समझौता' सिद्धांत का समर्थन किया है।

विभिन्न प्रकार के राजतंत्र-

मोटे रूप में राजा तीन प्रकार के थे जिनका अथर्ववेद में भी वर्णन है। यद्यपि उनकी उपाधियों और श्रेणियों में कई अंतर किये गये। एक समूह में वे स्वतंत्र सत्ताधारी शासक थे, जो किसी बड़े राजा के अधीन न थे और जिने अधीन छोटे शासक न थे उन्हें साधारण भाषा में राजा ही कहना उपयुक्त होगा। दूसरे समूह में अनेक प्रकार के शक्तिशाली सम्राट, अधिपति महाराजा, सार्वभौम व चक्रवर्ती राजा थे जो किसी न किसी प्रकार के साम्राज्य के सर्वोच्च शासक होते थे। तीसरे समूह में वे अधीन शासक रखे जा सकते हैं, जिन्हें सामंत माण्डलिक अथवा करद कहा जाता था।

सामन्त-

ऐतरेय ब्राह्मण[८२] में इस शासन व्यवस्था का वर्णन देखने को मिलता है। सामन्त शासन प्रणाली के अंतर्गत 'सामंत' सेनाध्यक्ष को कहा जाता है अत: इस का अभिप्राय हो सकता है सैनिक शासन। इसमें सेना के अध्यक्ष के हाथ में सारी सत्ता होती है। वह सेना के द्वारा जैसी जो कुछ भी व्यवस्था चाहता है, करता है उसका शासन निरंकुश होता है। इसमें प्रजा को बहुत दुख उठाने पड़ते हैं। अथर्ववेद में इस प्रणाली का वर्णन आया है -

यो अद्य सेन्यो वधो जिघांसन् न उदीरते।

---

८१. बौधायन धर्मसूत्र १.१०.६, सम्पादक-ई हुल्श लीपझिंग, १८८४

८२. ऐतरेय ब्राम्हण ८.१५

इन्द्रस्य तत्र बाहू समन्तं परि दद्म: ॥[८३]

जिस समय सेना से हमला होता है और शस्त्र से वीर एक दूसरे को काटते हैं। उस समय प्रभु के हाथ ही रक्षा करते हैं , इस प्रकार इस शासन में सज्जनों, जनसाधारण का संहार होता है। इसमें निरअपराध कितने भी व्यक्ति मारे जाते हैं। शुक्रनीति सार[८४] में वर्णन है कि जिस राजा को वार्षिक राजस्व एक लाख रूपये से लेकर तीन लाख रूपये तक प्रजा को बिना सताये प्राप्त होता है वे सामंत कहलाते हैं।

माण्डलिक-

चोलों का विशाल साम्राज्य अनेक प्रांतों में विभक्त था जिन्हें 'मण्डलम' कहते हैं। सम्भवत: चोलों की विस्तारवादी नीति के कारण राजेन्द्र चोल के समय प्रांतों की संख्या सर्वाधिक रही होगी। प्राय: राजाओं की उपाधियों के नाम पर 'मण्डलम' रखे गये थे। उदा. जयगोण्ड चोल मण्डलम, राज राज मण्डलम, गंगैकोण्डचोल मण्डलम, अधिराजमण्डलम आदि। मण्डल का शासन राजा द्वारा नियुक्त प्रांतीय शासक करते थे। वे या तो राजपरिवार के सदस्य होते हैं या विश्वस्थ व्यक्ति थे। राजकीय आदेशों को मण्डलों में पूर्णतया लागू करने का उनका दायित्व था व मण्डल की गतिविधियों को सूचना केन्द्र तक पहुंचाते रहते थे। प्रशासनिक लेखों को सुरक्षित रखना उनका कर्तव्य था। प्रांतीय शासको के अधीन बड़ी संख्या मे राज्य कर्मचारी होते थे।

प्रत्येक मण्डल अनेक वालनाडुओं में विभक्त था। वालनाडु को जिले की संज्ञा दी जा सकती है। प्रत्येक 'वालनाडु' में कई नाडु होते थे। नाडु कई कुर्रमों (ग्राम समूहों) तथा ग्रामों में विभाजित था। शासन की सबसे छोटी इकाई ग्राम थी। बड़े कस्बों तथा ग्रामों की व्यक्तिगत प्रशासनिक इकाईयाँ तनियूर कुर्रम कहलाती थी[८५] ऐतरेय ब्राह्मण[८६] के अनुसार माण्डलिक राजा अपने अपने मण्डल का अपनी इच्छा अनुसार शासन करते थे। शुक्रनीतिसार[८७] में कहा गया है कि जिन राजाओं चार लाख से दस लाख रूपये तक राजस्व वसूल होता है वे 'माण्डलिक' राजा कहलाते है।

राजन् (राजा)-

प्राचीन राजनीतिक संगठन जनों में था, जनों की बस्तियाँ विश: कहलाई। विशों का मुखिया विशपति होता था। विश अनेक ग्रामों का समूह था जिसका मुखिया ग्रमणी होता था, ग्राम आर्यों का

८३. अथर्ववेद, ६.९९.२
८४. शुक्रनीति सार, १.१८४.
८५. शास्त्री नीलकंठ के. ए. चोल वंश, पृष्ट ३५५
८६. ऐतरेय ब्राम्हण ८.१५
८७. शुक्रनीति सार १.१८.४

सबसे छोटा राजनीति व सामाजिक संगठन था और 'जन' सबसे बड़ा समुदाय था। जनों के शासक राजन् (राजा) कहलाते थे। प्राय: सभी राजा प्रारंभ में निर्वाचित होते थे। ऋग्वेद [८८] के एक सूक्त में राजा का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है अथर्ववेद के अनुसार [८९] - अथर्ववेद के अनेक सूक्तों में प्रजा द्वारा राजा के निर्वाचन का उल्लेख है। यद्यपि प्रारंभिक तथा उत्तर वैदिक काल में राजत्व अधिकांशत: अनुवांशिक हो गया था। ऋग्वेद में इस विषय में काफी प्रमाण मिलते हैं, चूकि वहां ऐसे वंशों का उल्लेख है जहां राजपद लगातार चार पीढ़ियों तक था। जैसे - द्रश्व, दिवोदास, विजनन और सुदास इत्यादि। शुक्रनीतिसार के अनुसार -

तदूद्वर्ध्वन्तु भवेद्राजा यावद् विंशतिलक्षक: [९०]

जिस राजा को प्रतिवर्ष ग्यारह लाख से बीस लाख तक राजस्व प्राप्त होता है वह 'राजा' कहलाता है।

महाराजा

वैसे तो महाराज्य की कोई परिभाषा नहीं की गई है पर उसमें जो विशेषण 'महा' लगा हुआ है उससे अपेक्षिक संबंध सिद्ध होता है और यह जान पड़ता है कि एक ही प्रकार के राज्यों में जो अधिक बड़ा और श्रेष्ठ होता था वह ''महाराज्य'' कहलाता था। संभवत: महाराज्य अपने आसपास के छोटे राज्यों में बड़ा होता था और उसके संगठन में ऐसी विशिष्ठ बातें होती थी जो अभी तक ज्ञात नहीं है। ऐतरेय ब्राह्मण के इस श्लोक के अंतर्गत महाराज्य के विषय का वर्णन आया है। [९१]

''साम्राज्यं भौज्यं, स्वराज्यं , वैराज्यं, पारमेष्ठराज्यं,
महाराज्यं, अधिपत्मयं, समंतपर्यायी स्यात्'' ॥

'महाराज्य' यह सबसे बड़ा राज्य था इसमें कई छोटे-छोटे राज्य होते थे ये छोटे राज्य अपना स्वतंत्र अस्तित्व समाप्त करके एक महाराज्य के अंग थे। शुक्रनीति में कहा गया है - [९२]

'पञ्चाशल्लक्षपर्य्यन्तो महाराज: प्रकीर्तित:'

जिस शासनतंत्र को बीस से पचास लाख रूपये तक वार्षिक राजस्व प्राप्त होता है वह महाराज्य कहलाता है। ऐतरेय ब्राह्मण में एक स्थान पर और राजतंत्र प्रणालियों में महाराज्य की गणना की गई है। ऐतरेय ब्राह्मण के अतिरिक्त कौषितकि ब्राह्मण [९३] और शतपथ ब्राह्मण [९४] में भी इसका उल्लेख मिलता है इसमें प्रयुक्त 'महत' शब्द से यह ज्ञात होता है कि अन्य राज्यों की अपेक्षा इसका गौरव अधिक

---

८८. ऋग्वेद १०.१७३
८९. अथर्ववेद, ६.८७-८८ ; ३.४.७
९०. शुक्रनीतिसार १.१८५
९१. ऐतरेय ब्राम्हण ८.१५
९२. शुक्रनीतिसार १.१८५
९३. कौषितेकि ब्राम्हण ५.५
९४. शतपथ ब्राम्हण १.६.४.२१ ; २.५.४.९

था। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार[९५] मरूत और अंगीरस इंद्र को महाराज्य पर अभिषिक्त करते हैं। इस प्रकार इंद्र के महाभिषेक के समान यह महाराजाओं का भी अभिषेक हो सकता है किंतु इस प्रणाली में क्षेत्र एवं संविधान में साथ अभिषिक्त महाराजाओं का उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण में उपलब्ध नहीं होता है।

स्वराद् (स्वराज्य)

ऐतरेय ब्राह्मण[९६] के अनुसार - पश्चिमी भारत में स्वराज नाम की एक और विलक्षण शासन प्रणाली प्रचलित थी। इस शासन प्रणाली में जो शासक या सभापति होता था वह स्वराट् कहलाता था इसका शब्दार्थ है स्वयं शासन करने वाला। एक और स्थान पर ऐतरेय ब्राह्मण[९७] में कहा गया है यह प्रजा के प्रतिनिधियों द्वारा संचालित स्वराज्य था। ऐतरेय ब्राह्मण के सायण भाष्य के अनुसार स्वराज्य का अर्थ है किसी के अधीन न होना - अर्थात 'अपराधीनत्व'।[९८] इस अर्थ में राजपर्यावाची यह शब्द अनेक बार ऋग्वेद[९९] में आया है एवं अथर्ववेद में एक स्थान पर इसका वर्णन है।

उद्यते नमः उदायते नमः उदिताय नमः।
विराजे नमः स्वराजे नमः सम्राजे नमः॥
अस्तंयते नमोऽस्तमेष्यते नमोऽस्तमिताय नमः।
विराजे नमः स्वराजे नमः सम्राजे नमः॥[१००]

तैत्तिरीय संहिता[१०१] में भी स्वराज्य के विषय में काफी वर्णन आया है। तैत्तिरीय संहिता[१०२] में सायण भाष्य के अनुसार - 'राजसूय यज्ञ के विधान से स्वराज्य की प्राप्ति होती है ऐसा कहा गया है'। किन्तु गोपथ ब्राह्मण[१०३] में लिखा है 'कि अश्वमेघ और सर्वमेघ से स्वराट् पद मिलता है' इसी प्रकार तैत्तिरीय ब्राह्मण[१०४] में लिखा है 'जो विद्यवान वाजपेय यज्ञ करता है उसे स्वराज्य प्राप्त होता है। और इस स्वराज्य शब्द की व्याख्या में लिखा है - अपने समान लोगों का नेता बनना यह बड़प्पन ज्यैष्ट्य प्राप्त करता है।[१०५] इस छोटी सी सूचना से यह पता चलता है कि समान लोगों में से ही कोई शासक स्वराट् चुना जाता था जो सभापति या प्रधान शासक बनाया जाता था और यह चुनाव इंद्र द्वारा होने की योग्यता पर निर्भर करता था; क्योंकि यह कहा गया है कि इंद्र ने ही पहले पहल अपनी योग्यता प्रमाणित करके अपना

---

९५. ऐतरेय ब्राम्हण ८.१४
९६. ऐतरेय ब्राम्हण ८.१४
९७. ऐतरेय ब्राम्हण ८.१५
९८. ऐतरेय ब्राम्हण ८.६
९९. ऋग्वेद १०.१७३.२
१००. अथर्ववेद, १७.१.२२, १७.१.२३
१०१. तैत्तिरीय संहिता २.३.६.२
१०२. तैत्तिरी संहिता २.३.६.२
१०३. गोपय ब्राम्हण भाग १ पृष्ठ ७७-७८
१०४. तैत्तिरीय ब्राम्हण १.३.२.२
१०५. तैत्तिरी ब्राम्हण १.३.२.२२

स्वराज्य अभिषेक कराया। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार इस प्रकार की शासन प्रणाली पश्चिमी भारत के नीच या अपाच्य लोगों में प्रचलित थी। नीच लोगों का निवास स्थान जैसा कि उसके नाम से ही सूचित होता है, सिंधु नदी के मुहाने के आसपास की नीची भूमि में रहा होगा। और अपाच्य लोग ठीक उसके उपर के प्रदेशों में रहते होगें। शुक्रनीतिसार में भी स्वराज्य के विषय में कहा गया है - [१०६]

'ततस्तु कोटिपर्यन्त स्वराट्, सम्राट तत: परम्'

अर्थात जिस शासक को पचास लाख से ऊपर एक करोड़ रूपये तक वार्षिक राजस्व प्राप्त होता था वह 'स्वराट्' कहलाता था। इसी प्रकार यर्जुवेद के अनुसार-[१०७] स्वराज शासन प्रणाली उत्तरी भारत में प्रचलित थी। ऋग्वेद [१०८] में स्वराज का उल्लेख आया है। और इसमें स्वराज को बहुपाय्य कहा गया है।

आ यद् वामीयश्चक्षसा मित्र वयं च सूरय:।
व्यष्ठि बहुपाय्ये यवेमहि स्वराजे॥

हम सदैव मित्र वरुण को बुलाते हैं अत: उनकी कृपा से हम अपने अत्यंत विस्तृत तथा प्रजाजनों द्वारा पालने योग्य अपने राज्य में ही राष्ट्र की उन्नति के लिये प्रयत्नशील रहे। इस मंत्र में 'बहुपाय्य' शब्द के द्वारा बहुत प्रजाओं द्वारा शासित प्रजातंत्र राज्य की ओर संकेत किया है सभी प्रजातंत्र राज्य में स्वतंत्रतापूर्वक रहकर अपने देश की उन्नति के लिये प्रयत्नशील रहें। अथर्ववेद में कई स्थानों पर स्वराज का वर्णन हुआ है।[१०९] स्वराज्य वाले शासन में जनता प्रसन्न और समृद्ध होती है। वह तेजस्वी और बलवान होती है स्वराज्य को ठीक ढंग से चलाने के लिये आवश्यक है कि प्रजा राजा के साथ सहयोगपूर्ण व्यवहार करे।[११०] इसी प्रकार स्वराज्य की समृद्धि के लिये यह भी आवश्यक बताया गया है कि जनता अनुशासन आदि के अनेक नियमों का पालन करे।[१११] ऋग्वेद के मंत्रों के अनुसार - 'ज्ञानियों ने इंद्र के बल को बढ़ाया और इंद्र ने देश की स्वतंत्रता को खतरे में डालने वाले शत्रुओं को नष्ट किया और स्वराज्य को सुदृढ़ बनाया'।[११२] यदि कोई शत्रु उसके स्वराज्य को नष्ट करने का प्रयत्न करता है तो इंद्र इतना क्रोधित होकर उसका नाश करता है कि उसके क्रोध को देखकर पृथ्वी और धूलोक कांपने लगते हैं।[११३]

इस प्रकार स्वराज्य प्राप्ति हेतु वैदिक साहित्य में राजसूय, अश्वमेघ, सर्वमेघ तथा वाजपेय यज्ञों का विधान प्राप्त करते हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण की उपर्युक्त व्याख्या से हमें ज्ञात होता है कि स्वराज संविधान प्रजातंत्रीय अथवा अल्पतंत्रीय रहा होगा क्योंकि इनमें समानों में से अग्र और ज्येष्ठ्य के राजा

---

१०६. शुक्रनीति सार ८.१५
१०७. शुक्ल यजुर्वेद १५.१३
१०८. ऋग्वेद ५.६६.६
१०९. अथर्ववेद, २०.१०९.१ से ३
११०. अथर्ववेद, २०.१०९.२
१११. अथर्ववेद, २०.१०९.३
११२. ऋग्वेद, १.८०.१
११३. ऋग्वेद, १.८०.११

होने का श्रेष्ठ वर्णन है। कुछ विशिष्ट गुणों के आधार पर ही 'समान' उसे स्वराज्य पर प्रतिष्ठित करते होगें। स्वराज्य भाववाचक संज्ञा है जो उस संविधानिक राज्य को सूचित करती है जिसमें स्वराज्य पद से अलंकृत राजा का शासन हो। राजा को स्वराज्य इसलिये कहा गया है कि वह अपने गुणों से शोभित होता है। स्वमैव राजते[११४] इस प्रकार समान लोगों द्वारा जिस व्यक्ति को स्वराट् अथवा शासक चुना जाता था वह उसके इंद्र होने की योग्यता पर निर्भर करता था। क्योंकि यह परंपरा इस मान्यता पर आधारित थी कि सर्वप्रथम इंद्र ने ही अपनी योग्यतायें प्रमाणित करके इस पद को प्राप्त किया था। डॉ. जयसवाल लिखते है ऐसा ज्ञात होता है कि यह उल्लेख गण या काऊन्सलिंग के सभापति के निर्वाचन या चुनाव के ही संबंध में है। यहां इस बात का भी ध्यान रखना चाहिये कि महाभारत में कहा गया है कि गण के सब सदस्य सम्रान समझे जाते हैं। 'सद्दशास्र्वे।[११५]

वैराज्य (विराट्)

ऐतरेय ब्राह्मण के एक प्रकरण से ज्ञात होता है कि वैराज्य जनपद थे जिसमें कोई राजा नहीं होता था जहां जनता अपना शासन स्वयं करती थी। उत्तर दिशा के हिमालय के क्षेत्र में उत्तर कुरू, उत्तर मद्र आदि जो जनपद राज्य थे वही वैराज्य शासन प्रणाली प्रचलित थी।[११६] यजुर्वेद के समय इस प्रकार की शासन प्रणाली दक्षिण भारत में प्रचलित थी। इससे पता चलता है कि इस प्रकार की शासन प्रणाली केवल उत्तर में ही प्रचलित नहीं थी बल्कि देश के भिन्न-भिन्न भागों में इसका प्रचार था।[११७] इसका ठीक-ठीक शब्दार्थ होता है बिना राजा की अथवा राजा रहित शासन प्रणाली।

''एतेन तृचेनैतेन त ...... वौराज्यायैवेतऽमिपिच्यन्ते''

ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार सारा देश या जाति (जनपद) राजपद के लिये अभिषिक्त होता था इस बात में किसी भी प्रकार का संदेह नहीं हो सकता कि यह प्रणाली वास्तव में प्रजातंत्रीय थी। इसमें उदाहरण के रूप में कहा गया है कि उत्तर मद्रों और कुरूओं में यह शासन प्रणाली प्रचलित थी। पाणिनी[११८] के समय मद्र लोगों में प्रजातंत्रीय शासन प्रणाली प्रचलित थी और उसमें ईस्वी पूर्व चौथी शताब्दी तक जबकि गुप्त वंशों के लोगों से उनका मुकाबला हुआ, बराबर प्रचलित थी। ऐतरेय ब्राह्मण में उनका उल्लेख मद्रों की भांति ऐतिहासिक जातियों के रूप में हुआ है अत: परिवर्ती कालों में इन लोगों का स्वतंत्र जाति के रूप में अस्तित्व नहीं रह गया था, और अपनी संपन्नता और वैभव आदि के कारण ये लोग कथा कहानियों वाले वर्ग में आ गये और इस देश में जहां प्राय: इतिहास को जंगलीपन से पुराणों का रूप दे दिया

---

११४. ऐतरेय ब्राम्हण ८.१२
११५. जयसवाल के. पी. - हिन्दू राज्यतंत्र, पृष्ट १२३
११६. ऐतरेय ब्राम्हण ८.१४
११७. यजुर्वेद, १५.११
११८. पाणिनी व्याकरण ४.२.१०८ जनपद वर्णन ७.३.१३

जाता, इस प्रकार की घटना प्राय: हुआ करती थी।[११९] ऐतरेय ब्राह्मण में वैराज्य शब्द के दो अर्थ किये जा सकते हैं - (१) राजाहीन राज्य (२) विशिष्ट राज्य। पहले अर्थ के अनुसार वैराज्य शब्द से ऐसे राज्य का बोध होता है जिसमें राजा का सर्वतम अभाव हो। इस शासन व्यवस्था में किसी व्यक्ति विशेष को राजा ना बनाकर संपूर्ण देश अथवा जाति को राजपद के लिये अभिषिक्त किया जाता था। शासन की इस व्यवस्था के अनुसार उस काल में प्रजातंत्र की कल्पना की जा सकती है किंतु ऐतरेय ब्राह्मण में सायण भाष्य में वैराज्य का अर्थ विशिष्ट राज्य दिया है।[१२०] अत: यह प्रतीत होता है कि सायण प्रजातंत्र राज्यों के अस्तित्व से अनभिग्य थे तभी उन्होंने पाणिनी के समय से लेकर ईसा पूर्व चौथी शताब्दी तक वे लोग इसी प्रकार की शासन व्यवस्था के आधीन कार्य करते रहे। पश्चिमी साहित्य में यह शासन प्रणाली मात्र कथा कहानियों का विषय बनकर रह गई इस प्रणाली को अपनाने वाले लोगों का जीवन पर्याप्त सुखपूर्ण एवं सम्पन्न चित्रित किया गया है।

वेदों में भी वैराज्य शासन के विषय में भी वर्णन मिलता है अथर्ववेद के अनुसार -

विराड्.वा इदमग्र आसीत्तस्या जाताया: सर्वमषिभेदियमेवेदं भविष्यतीति ॥[१२१]

विराट् निश्रय से प्रारंभ में यह जगत था। उसके होने पर यही ऐसा यही होगा इस कारण सब भयभीत हो गये। इस प्रकार ज्ञात होता है कि सर्वप्रथम राजा हीन शासन था। ऋग्वेद[१२२] में एक स्थान पर विराज् होने की कामना की गई है।

एक अन्य स्थान पर ऋग्वेद[१२३] में ही जहां अनेक शासन पद्धतियों का संकेत है वहां विराज् को प्रथम स्थान दिया गया है। अथर्ववेद में एक स्थान पर तीन प्रकार के शासन का उल्लेख है विराट्, स्वराट्, सम्राट। जिसमें राजा रहित यह पद्धति विराट् या विराज् है। इसमें जनता सर्वसम्मति से अपना निर्णय करती है जो सामूहिक निर्णय होता है वह लोगों को मान्य होता है यह शासन पंचायत राज्य के तुल्य समझना चाहिये। इसमें ग्राम आदि के पंचों की सहमति व उनका निर्णय मुख्य होता है। अथर्ववेद के अनुसार -

'विगत राजकं वैराज्यं'

अर्थात जिसमें कोई राजा न हो। प्रजाजन आपसी सामंजस्य द्वारा शासन व्यवस्था का संचालन स्वयं करती थी अथर्ववेद में ही एक स्थान पर लिखा है -

---

११९. सभापर्व, भाग ५, पृष्ठ ३१६ ; भाग ६, पृष्ठ १००
१२०. ऐतरेय ब्राम्हण ८.६
१२१. अथर्ववेद, ८.१०.१
१२२. ऋग्वेद ९.९६.१८
१२३. ऋग्वेद १.१८८.५

"*विराड् वा इदमग्र आसीत*"[१२४]

अर्थात समस्त जनता जो अपना प्रबंध स्वयं करती थी। शुक्रनीतिसार में विराट् या वैराज्य के विषय में लिखा है -

दशाकोटिमितो यावत् विराट् तु तदनन्तरम्[१२५]

अर्थात जिस राजा या शासन प्रणाली को प्रतिवर्ष दो करोड़ से दस करोड़ तक राजस्व प्राप्त होता था वह विराट् कहलाता है।

महाभारत के भीष्म पर्व में ऐसे चार जनपदों का उल्लेख मिलता है जहां शासक के अभाव में शासन कार्य संपन्न होता था ये चार जनपद इस प्रकार थे - मग, मशक, मानस तथा मन्दग।[१२६] इसमें कृमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र निवास करते थे। इन जनपदों के समस्त निवासी धर्मज्ञाता थे वीर स्वधर्म का पालन करते हुये शांति स्थापित किये हुये थे। संभवतः राज्य की उत्पत्ति पश्चात शासन का यह सर्वप्रथम स्वरूप रहा होगा। राज्य की उत्पत्ति के सिद्धांत में सतयुग का वर्णन करते हुये कहा गया है कि इस युग में राज्य व राजा का अभाव था, प्रजा धर्मपूर्वक एक दूसरे का पालन करती थी। कुछ ऐसी ही व्यवस्था इन जनपदों में पाई जाती थी। संजय के अनुसार - वहां न कोई राजा है, न कोई दण्ड, न कोई दण्ड देने वाला ही है वहां के सभी लोग धर्मज्ञाता है और स्वधर्म पालन के प्रभाव से ही एक दूसरे की रक्षा करते हैं।[१२७] किन्तु सतयुग और वैराज्य के युग में भेद था। सतयुग के वर्णन में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि उस समय राजा एवं राज्य दोनों का ही सर्वथा अभाव था, जबकि भीष्मपर्व में वर्णित चार जनपदों के वर्णन में शासक का अभाव वर्णित है राज्य का नहीं, वस्तुतः वहां राज्य था, राज्य से संबंधित समस्त कार्य सम्पन्न होते थे किंतु राजा कोई नहीं था अतः वैराज्य से ऐसी राज्यव्यवस्था का बोध होता है जहां शासन संबंधी प्रत्येक राजा के अभाव में नागरिकों के पारस्परिक सहयोग से सम्पादित होते थे। काशीप्रसाद जयसवाल ने वैराज्य का यही अर्थ लिया है।[१२८] जैन आसारंग सूत्र में भी जहां विभिन्न प्रकार की शासन व्यवस्थाओं का वर्णन है वहां वैराज्य का भी उल्लेख किया गया है।[१२९] पाणिनी की व्याकरण में आये वर्णन के आधार पर जयसवाल लिखते हैं यद्यपि पाणिनी ने मद्रों की राजधानी का नाम नहीं दिया है, तथापि उसका उल्लेख उसने अवश्य किया है जिससे हमें पता चलता है कि उसका नाम शाकल था, जो आधुनिक स्यालकोट माना जाता है यदि लोगों का यह मानना ठीक हो तो शाकल अवश्य ही आरंभ में उत्तर मद्रों का निवास स्थान रहा होगा।[१३०] कौटिल्य ने भी अपने अर्थशास्त्र में वैराज्य को शासन प्रणाली का

---

१२४. अथर्ववेद, ८.१०.१०

१२५. शुक्रनीतिसार १.१८६

१२६. भीष्मपर्व १२. ३५-३५

१२७. भीष्मपर्व ११/३६

१२८. जसवाल के. पी. हिन्दू राज्यशास्त्र, पृष्ठ ७८

१२९. आयारंग सुत्तन् (जैकोवी का संस्करण), पृष्ठ ८३, वैरज्जानि आदि

१३०. जयसवाल के. पी. - हिन्दू राज्यशास्त्र, पृष्ठ १२८.२९

रूप स्वीकार किया है। कौटिल्य ने इस प्रणाली को अनुचित बताया है अत: इसे तिरस्कृत या अस्वीकार कर दिया जाना चाहिये। यूनानी विचारक अरस्तू की भांति कौटिल्य ने भी प्रजातंत्र को घृणा की दृष्टि से देखा है। उनका मत है कि वैराज्य सामन्त प्रणाली होती है वहां जनता के मन में राज्य के प्रति निजत्व की भावना उत्पन्न होती है। वहां राजनीतिक संगठन का उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तिगत स्वार्थों के लिये देश की परवाह नहीं करते तथा राज्य में की जाने वाली गल्तियों एवं दुर्वव्यवस्था के लिये कोई अपने आप को उत्तरदायी नहीं मानता, इस प्रकार लोगों के मन में निराशा एवं असुरक्षा की भावना व्याप्त हो जाने के कारण लोग उदासीन होकर धीरे-धीरे राज्य छोड़कर चले जाते है।[१३१]

वैराज्यों के संबंध में कौटिल्य का कथन है कि ऐसे राज्यों पर बाह्य शत्रुओं के द्वारा सख्तता से विजय प्राप्त की जा सकती थी। विजेता राजा वैराज्य का अपना नहीं समझता था और उसके साथ क्रूरतापूर्वक व्यवहार कर उसे नष्ट कर देता था कौटिल्य का यह कथन ठीक है कि दो असमान सिद्धांतों के आधार पर संगठित किये जाने वाले राज्यों में इस प्रकार का व्यवहार होना ही चाहिये, क्योंकि विजेता राजा यह प्रयत्न करता है कि विजित राज्य में उसी प्रकार की शासन प्रणाली स्थापित की जानी चाहिये जैसी कि विजेता राजा के राज्य में प्रचलित थी इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु वह विजित राज्य के प्रति क्रूरतापूर्वक व्यवहार भी करता है इस प्रकार कौटिल्य के कथन से विदित होता है कि वैराज्य नृपतंत्रात्मक राज्यों से भिन्न अवश्य रहे होगें। कौटिल्य के अनुसार वैराज्य राज्यों को विजेता राजा अपने राज्य में सम्मिलत कर लेता है। इन राज्यों की जनता को विजेता राजा के प्रति विरक्त होने की संभावना रहती थी और उनकी यह प्रकृति इस सीमा तक पहुंच जाती थी कि उन पर विजेता राजा द्वारा शासन करना असंभव हो जाता था इस प्रकार विजेता राजा अपनी असमर्थता के कारण विजित राज्य को त्याग कर चले जाने के लिये विवश हो जाते थे। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि वैराज्य लोकतंत्रात्मक राज्य थे जिनमें राज्य की प्रभुता राज्य की जनता के अधीन रहती थी और यहां कि निवासी नृपतंत्रात्मक राज्य के विरोधी थे।

अत: कौटिल्य के समय में ऐसे राज्य अवश्य रहे होगें जो जनतंत्रात्मक शासन व्यवस्था के अधीन संगठित एवं संचालित थे इस प्रकार कौटिल्य स्वयं लोकतंत्रात्मक राज्यों के विरोधी होने के कारण उन्होंने वैराज्यों को सम्मान की दृष्टि से न देखकर उपेक्षा की दृष्टि से देखा है।

सार्वभौम (एकराट्)

ऐतरेय ब्राह्मण में सार्वभौम इस शासन पद्धति का वर्णन मिलता है सार्वभौम होने की कामना करने का अभिप्राय यह था कि देश की प्राकृतिक सीमाओं और समुद्र तक का देश अपने अधीन हो जाये

---

१३१. वार्ता १०.११.१२, अ.२, अधिकरण ८, कौटित्य का अर्थशास्त्र

और सब मनुष्यों पर अपना शासन हो।

"सार्वभौम: सार्वायुष: आन्तादापरार्धात् पृथिव्यै समुद्र पर्यन्ताया एकराट्।"[१३२]

ऐतरेय ब्राह्मण में सार्वभौम व एकराट् का भी उल्लेख है[१३३] ये दोनों शब्द परस्पर पर्यायवाची है। सार्वभौम का प्रयोग ऐतरेय ब्राह्मण में ही हुआ है किंतु एकराट् का प्रयोग वैदिक साहित्य में अनेक स्थानों पर हुआ है ऋग्वेद के अनुसार -

एकराकास्य भुवनस्य राजसि शचीपत इन्द्र विश्वामिरूतिभि:।
माध्यंदिनस्य सवनस्य वृत्रन्ननेद्य पिवा सोमस्य वज्रिव:।[१३४]

हे शक्तियों के स्वामिन् इंद्र ! तुम इस भवन के एक राजा के रूप में शुशोभित होते हो। इस प्रकार एकराट् का वर्णन ऋग्वेद में प्राप्त होता है। अथर्ववेद में भी एकराट् का वर्णन आता है।

आ त्वा गन्राष्ट्रं सह वर्चसोदिहि प्राङ् विशां पतिरेकराट् त्वं विराज।
सर्वास्त्वा राजन्प्रदिशो ह्वयन्तूपसद्यो नमस्योऽभिवहे।[१३५]

अर्थात हे राजन् ! यह राष्ट्र तुमको प्राप्त हुआ है, अब तेज के साथ उदय को प्राप्त हो। प्रजाओं का स्वामी प्रमुख एक सम्राट होकर तू विराजमान हो। सब दिशाओं और उपदिशाओं में रहने वाले सब लोग तुझे ही चाहें और तू सबके लिये प्राप्त होने वाला बनकर सबसे सुसज्जित हो। सार्वभौम यह बड़े एकराज्य का ही भेद है, जिसका आधार जातीय या राष्ट्रीय अर्थात शतपथ ब्राह्मण का जान राज्य नहीं होता था, बल्कि जो सीमा के आधार पर ही होता था। सार्वभौम होने के लिये यह आवश्यक था कि प्राकृतिक सीमाओं के अंदर जितनी भूमि हो, उस सब भूमि (सर्वभूमि) का स्वामित्व प्राप्त हो, अर्थात प्राकृतिक सीमाओं से युक्त पूरे देश का राज्य हो। कौटिल्य ने यह प्राकृतिक सीमाओं वाला भाव उसे 'चातुरंग' राज्य कहकर प्रगट किया है, अर्थात ऐसा साम्राज्य जो चारों सीमाओं तक विस्तृत हो।[१३६] इसी की व्यवस्था करते हुये कौटिल्य ने कहा है - यह ऐसा साम्राज्य क्षेत्र है जो कन्याकुमारी से लेकर हिमालय पर्वत तक विस्तृत है , अर्थात समस्त भारत।[१३७] समुद्र तक विस्तृत एक राजा के साम्राज्य का भाव शायद मगध में उत्पन्न हुआ था, क्योकि वहां से बंगाल की खाड़ी तक विजय के लिये खुला मैदान पड़ा था। दोआब के

---

१३२. ऐतरेय ब्राम्हण ८.१८
१३३. ऐतरेय ब्राम्हण ८.१५
१३४. ऋग्वेद ८.३७.३
१३५. अथर्ववेद ३.४.१
१३६. अर्थशात्र ३.१. १५८, पृष्ट १५९
१३७. अर्थशास्त्र ९.१, पृष्ठ ३३८

आर्यजनों की जातियों के विपरीत वहां अनार्य जातियों का निवास था; और उन अनार्यों को हिन्दू साम्राज्यवादी लोग नैतिक दृष्टि से अपने लिये कोई बाधक नहीं समझते थे। मगध के राजाओं ने, जिन्होंने जानराज्य का सिद्धांत छिन्न भिन्न कर डाला था, आर्य भारत तक अपनी सार्वभौम प्रणाली का विस्तार और प्रयोग किया था। वैदिक काल के प्रचीन राजवंशों का नाश करके महापद्म ने जो एक राज्य और एकछत्र राज्य स्थापित किया था, उसकी हिन्दू इतिहासकारों ने निंदा की थी। एक स्थान पर ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार सार्वभौम राजा की राज्य सीमा देशान्तर व्यापी थी, इसका क्षेत्र समुद्र पर्यन्त फैला था। इसमें आर्य और आर्येत्तर राज्य भी सम्मिलत था।[१३८] यह प्रणाली क्षेत्र विस्तार पर आधारित थी। कुछ शक्तिशाली असुर भी सार्वभौम एकराट् हुये हैं। देवीपुराण में चोर को एकराट् कहा गया है।[१३९] शुक्रनीतिसार में भी एकराट् के विषय में वर्णन आया है -

''पञ्चाशत्कोटिपर्यन्त सार्वभौमस्ततः परम्।
सप्त द्वीपा च पृथिवी यस्य वश्या भवेत् सदा॥''[१४०]

सार्वभौम के अंर्तगत वे शासन प्रणालियां आती हैं जिनके राजा को एक करोड़ से अधिक वार्षिक कर प्रजा को बिना सताये प्राप्त होता है। अर्थात इतना अधिक राजस्व प्राप्त करने वाला राजा 'चक्रवर्ती' सम्राट कहलाता है। जिसके अधीन सदा यह सप्तद्वीपा धरित्री होती है।

इस प्रकार वैदिक काल से लेकर परिवर्ती कालों में शासन प्रणालियों के कई रूपों का विस्तार होता गया परंतु इन शासन प्रणालियों के प्रारंभिक मूल रूप वेदों में ही प्राप्त होते है।



१३८. ऐतरेय ब्राम्हण ८.१५
१३९. देवीपुराण २.३९
१४०. शुक्रनीतिसार १.१८७

अध्याय -४

राजा की शिक्षा, गुण, निवास, रक्षा

प्राचीन भारत में विभिन्न प्रकार की शासन प्रणालियां थी परंतु सबसे अधिक प्रचलन राज्यतंत्र प्रणाली का ही था। इस अध्याय के अर्न्तगत राजा की रक्षा, शिक्षा, गुण, योग्यता, राजमहल इत्यादि विषयों पर अध्ययन किया गया है।

शिक्षा -

राजा को जिन भारी दायित्यों को पूरा करना होता है, उनको देखते हुये यह अति आवश्यक है कि वह पूरी तरह से शिक्षित हो और उसे प्रशासन कार्यों में प्रशिक्षित किया गया हो। प्राचीन भारत में राजपुत्रों, विशेषकर युवराज को सभी प्रकार की शिक्षा व प्रशिक्षण दिया जाता था। राज्य शासन में युवराज का बड़ा महत्व था ; शुक्रनीति में तो युवराज और मंत्रियों को क्रमशः राजा के दक्षिण - वाम भुजा, नेत्र व कर्ण कहा गया है, जिसके अभाव में राजा विकलांग अर्थात् बाहु, कर्ण व नेत्रहीन होता है। कौटिल्य के अनुसार विद्या से विनीत तथा सुशिक्षित होकर राजा प्रजा- पालन द्वारा राज्य का निर्वाध रुप से शासन करता है। ऋषिपुत्र का वचन है कि जो राजा न तो विद्या जानता है और न वृद्धों की संगति करता है, वह निरंकुश हाथी की भांति शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। सोमदेव सूरि का मत है कि जो चरित्रवान् विद्वान् कुलीन हों, उन्हीं को राजा का उपाध्याय बनाना चाहिये। नारद का भी यही कथन है कि जिनके पूर्वज पुराने राजाओं के गुरु रहें हों और जो सच्चरित्र विद्वान् और कुलीन हों उन्हें ही राजा का शिक्षक बनाना चाहिये। अर्थशास्त्र और मनुस्मृति मे कहा गया है कि राजा में देवत्व भले ही हो पर उसकी शिक्षा की आवश्यकता तो रहती ही है। राजपुत्रों की शिक्षा के लिये विशेष प्रबंध होता था यद्यपि उनके सामान्य विद्यार्थियों के साथ-साथ तक्षशिला आदि प्रख्यात शिक्षा केन्द्रों में भी शिक्षा प्राप्त करने के उदाहरण भी मिलते हैं। प्रारंभिक काल में तो राजपुत्रों के पाठ्यक्रम में भी वेद, तत्वज्ञान आदि को ही प्रमुख स्थान दिया जाता था।[१] कामन्दक के अनुसार धीरे धीरे वार्ता और राजनीति ही अध्ययन के मुख्य विषय बन गये।[२] कुछ लेखकों ने तो यहां तक कह दिया है कि राजाओं को वेद तत्वज्ञान, वार्ता, राजनीति के अतिरिक्त और कुछ पढ़ने की आवश्यकता नहीं है। अग्निपुराण में कहा गया है राज्य कार्य, शस्त्र विद्या, युद्ध कौशल की शिक्षा किताबों से ही नहीं वरन् प्रत्यक्ष रुप से दी जाती थी धनुर्वेद रथसंचालन और हस्तविद्या में निपुणता की सबसे अधिक आवश्यकता थी।

धर्म कामार्थशास्त्रण्यपि धनुर्वेदं च शिक्षयत्।
रथे च कुंजर चैव व्यायामं कारयेत् सदा।
शिल्पानि शिक्षयेच्चैनं नाप्तैर्मिथ्याप्रियं वदेत ॥ [३]

---

१. अर्थशास्त्र, भाग १-२, मनुस्मृति, ७.४३

२. कामन्दक नीतिसार, २-५.

३. अग्नि पुराण, २२०, २-३.

सैनिक विद्या में कुछ राजा कितना कौशल प्राप्त कर चुके थे यह बारहवीं सदी के मानसोल्लास के 'साहसविनोद' अध्याय से विदित होगा। वहां बताया गया है कि राजा अपना धनुर्विद्या विषयक कौशल प्रदर्शित करने के लिये अपनी प्रजा के क्रीडांगन मे बुलाते थे और वहाँ एक बाण से दो पदार्थों का भेद करना, सिर पर घूमने वाले लक्ष्य का नीचे पानी में प्रतिबिंब देखकर छेदन करना इत्यादि कलाओं में भी राजा पारंगत थे व उनमें अनेक चमत्कार वे प्रेक्षकों को दिखाते थे। हो सकता है कि राजाओं में इतना उच्च प्रवीण्य न होगा, किंतु ऐसे समर कला प्रवीण राजा भी कम न थे। राजपुत्रों का शिक्षण इस दिशा में काफी सफल था। अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि इन्द्र की सेना में सैकड़ो टुकड़ियाँ थी। उनको लेकर वह विजययार्थ प्रस्थान करता था।[४] इन्द्र के लिये कहा गया है कि वह अद्वितीय वीर है। वह शत्रुओं की सैकड़ों सेनाओं को जीतता है।[५] इन्द्र सेनापति था। वह स्वयं युद्ध में जाता था। उसके नेतृत्व में शत्रु की सेनाओं से जीतने का उल्लेख है।[६] वेदों के इन उद्धरणों से यह ज्ञात होता है कि देवों के राजा इन्द्र शस्त्र, अस्त्र और युद्ध कलाओं में निपुण थे।

राजा की शिक्षा के विषय में कौटिल्य ने बहुत ही गंभीरतापूर्वक विचार किया है उनके अनुसार राजा की शिक्षा के विषय चार हैं। जैसे आन्वीक्षकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति।[७] कौटिल्य इसी पर आगे टिप्पणी करते हुये कहते हैं - मानवों के संप्रदाय के अनुसार विधाएँ तीन हैं और आन्वीक्षकी, त्रयी की एक विशिष्ट शाखा है। बार्हस्पत्य सम्प्रदाय के अनुसार विधााएँ केवल दो हैं जैसे - वार्ता और दण्डनीति, क्योकि त्रयी से सांसारिक ज्ञान की प्राप्ति के आगे आवरण आ सकता है। औशनसों के सम्प्रदाय के अनुसार राजा के लिये दण्डनीति ही पर्याप्त है क्योंकि अन्य विधाएँ इनके साथ संलग्न हैं।

कौटिल्य ने लिखा है कि आन्वीक्षकी के अन्तर्गत सांख्ययोग एवं लोकायत के विचार आते हैं। इसके अध्ययन से मन वचन एवं कर्म में प्रौढ़ता एवं विलक्षणता आ जाती है आन्वीक्षकी से सभी विधाओं पर प्रकाश पड़ता है यह धर्म का मूल है।[८] अतः इसका अध्ययन अनिवार्य है। वार्ता के अन्तर्गत कृषि, पशुपालन, सोना, साधारण धातुओं बेगार आदि का ज्ञान सम्मिलत था जिसके ज्ञान से राजा कोष एवं सेना में वृद्धि करता था और शुत्रओं पर अधिकार रखता था।[९]

कौटिल्य के अनुसार राजपुत्रों की शिक्षा शिशु अवस्था से ही योग्य शिक्षकों को सौंपी जाती

---

४. अथर्ववेद, २०.५१.२

५. अथर्ववेद, १९.१३.२

६. अथर्ववेद, ५.३.१

७. कौटिल्य का अर्थशास्त्र, १/२

८. कौटिल्य का अर्थशास्त्र, १/२

९. कौटिल्य का अर्थशास्त्र, १/४

थी। अन्नप्राशन संस्कार के बाद ही राजपुत्र को लिपि और संख्यांक (गणित) पढ़ाया जाता था और यज्ञोपवीत संस्कार के बाद जो कि क्षत्रिय के लिये ग्यारह वर्ष होता है राजपुत्र को उच्चतर अध्ययन के योग्य माना जाता था। उसके पाठ्यक्रम में जो चार विषय सम्मिलत थे। (त्रयी, आन्वीक्षकी, वार्ता और दण्डशास्त्र) उनमें से प्रथम दो विषयों को उसे शिक्षित अर्थात विद्वान् पढ़ाते थे ; अर्थशास्त्र प्रशासन के अध्यक्ष पढ़ाते थे और दण्डनीति वे पढ़ाते थे जो उसके सिद्धांतो तथा व्यहार में कुशल थे। सोलह वर्ष की आयु तक उसका अध्ययन काल चलता था जिसमें उसे पूर्वोक्त विषयों के अतिरिक्त इतिहास पर प्रतिदिन आचार्यों के व्याख्यान सुनने होते थे। इतिहास में पुराणों, इतिवृत आख्यायिका, उद्धरण, धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र सभी सम्मिलत थे। साथ ही साथ राजपुत्रों को सैन्य शिक्षा भी दी जाती थी और उसमें हस्तविद्या, अश्वविद्या, रथविद्या और प्रहरण विद्या (अर्थात घोड़ों, हाथियों, रथों और शस्त्रो से सबंधित विषय) सम्मिलत थी। उस काल में राजपुत्र को कठोर ब्रह्मचारी जीवन बिताना होता था। इस प्रकार के कठोर अनुशासन की आवश्यकता को हिन्दू राजनीतिज्ञों ने भली प्रकार अनुभव किया। सोलह वर्ष की आयु बीतने पर राजपुत्र गोदान करता था और उसका विवाह होता था। उसके उपरान्त उसके जीवन का अधिक व्यहारिक भाग आरम्भ होता था। उसे सरकारी प्रशासन में उत्तरदायी कर्तव्य सौपें जाते थे। कुछ समय के लिये उसे किसी प्रशासन विभागाध्यक्ष के अधीन कार्य करना होता था और योग्य एवं कुशल प्रशासन बन जाने पर उसे सेना का सेनापति बना दिया जाता था या युवराज नियुक्त कर दिया जाता था और युवराज बनने के बाद वह राजा को प्रशासन कार्यों में सहयोग देता था।

कौटिल्य आगे कहता है कि तीन विधाएँ दण्ड पर आधारित हैं और दण्ड सहज एवं अर्जित नामक दो प्रकार के अनुशासन पर निर्भर करता है। विधाओं से अर्जित अनुशासन की प्राप्ति होती है आगे वह कहता है कि चीलकर्म के उपरान्त राजकुमार को लिखने एवं अंकगणित का ज्ञान कराना चाहियें।[१०] दूसरे शब्दो में अनुशासन अथवा विनय कौटिल्य के अनुसार दो प्रकार का है - स्वभाविक और अर्जित। (अर्थात शास्त्र कार्य से प्राप्त) आरंभ में राजपुत्र को शिक्षकों से विनय सीखना होता था और बाद में वृद्ध तथा विद्वानों के संग से विनय के साथ साथ राजपुत्र को इन्द्रियजय भी होना आवश्यक था। सब इन्द्रियों का अनुराग काम कहलाता है। कान, आंख, नाक, जीभ और चर्म ये पांच ज्ञानेन्द्रिय और हाथ,पैर, वाणी आदि पांच कर्मेन्द्रिय है। ये दसो इंद्रियां बहिःकरण है और मन अंतःकरण है। इन इंन्द्रियों के वश में न हो जाना, बल्कि इन्हें अपने वश में रखना इन्द्रियजय है। इसके अतिरिक्त मनुष्य के छः शत्रु बताये गये हैं - काम, क्रोध, लोभ, मद, मान और हर्ष। ये दोष साधारण मनुष्य के लिये हानिकारक हैं, राजपुत्र के लिये तो ये बड़े दोष हैं। इसीलिये कहा गया है कि विद्याविनीत और जितेन्द्रिय होने मात्र से ही राज्य करने की

१०. कौटिल्य का अर्थशास्त्र, १/५

योग्यता नहीं आ जाती, राजा को इन द्ः दोषों के (शत्रुओं) दमन में भी यत्नशील रहना चाहियें। काम से चार दोष या व्यसन उत्पन्न होते हैं। गुणों के विपरीत भाव या अवगुण और गुणों के अभाव का नाम व्यसन है मृगया (शिकार), द्यूत (जुआ), स्त्री और मद्यपान। कौटिल्य के मतानुसार मद्यपान अधिक भयंकर है क्योंकि उसमें विवेक वुद्धि नष्ट हो जाती है ; परंतु द्यूत व मद्यपान में द्यूत अधिक भयंकर है, क्योकिं इसमें जय पराजय के दो पक्ष हो जाते हैं और राजकुलों में इसी से भेद हो जाता था।

कौटिल्य की इस शिक्षा योजना पर टिप्पणी रुप में घोषाल का कथन है - " कि उसने राजपुत्र के लिये शिक्षा की पूर्ण योजना दी है राजपुत्र के हित विहित पाठ्यक्रम काफी विस्तृत एवं पूर्ण हैं और साथ ही वह विनय पर जोर देते हुये उसकी प्राप्ति के साधन भी बताता हैं। कौटिल्य ही प्रथम राजशास्त्री है जिसने शिक्षा की एक स्वीकृत योजना दी है। [११] कौटिल्य ने यह भी बताया है कि ऐसे राजपुत्र को जो अनैतिक अथवा विद्रोही हो, किस प्रकार ठीक रखा जाये। वह तो यही कहता है कि उसे बचपन से ही उचित शिक्षा, विनय, अच्छी संगति द्वारा और समयानुकूल समझा कर बुरे मार्ग से हटाने का यत्न करना चाहिये। जब ये उपाय विफल हो जायें तो उसे निश्चित स्थान में निरीक्षण के अधीन रखना चाहिये। यदि इसमें भी सफलता न मिले तो देश से निष्काशित कर देना चाहिये। यदि कोई राजपुत्र विद्रोह की सीमा में पहुंच जाये तो राज्यहित में उसका वध भी न्यायोचित होता है। यह क्हना ही उचित होगा कि उसने राजपुत्र के लिये शिक्षा की पूर्ण योजना दी है ; राजपुत्र के लिये विहित पाठ्यक्रम काफी विस्तृत अथवा पूर्ण है और साथ ही वह विनय पर जोर देते हुये उसकी प्राप्ति के साधन भी बताता है। कौटिल्य ही प्रथम राजशास्त्री था जिसने शिक्षा की एक एकीकृत योजना दी।

राजा की शिक्षा दीक्षा के विषय में धर्मशास्त्रीय ग्रंथो में भी विस्तार से चर्चा की गई है। गौतम ने लिखा है कि राजा को त्रयी (तीनों वेदों) एवं आन्वीक्षकी की शिक्षा लेनी चाहियें। [१२] गौतम ने वेदों, धर्मशास्त्रों, वेदांगो, उपवेदों एवं पुराणों पर एवं इनके अध्ययन पर बल दिया है। [१३] रामायण में भी एक स्थान पर उदाहण आया है कि राम और उनके भाई लक्ष्मण, भरत, शत्रुध्न भी वेदों, वेदांगो, धनुर्वेद, गंधर्ववेद, राजविद्या आदि में पारंगत थे। [१४] इसका तात्पर्य यह है कि राजा को उपर्युक्त समस्त विद्याओं में प्रवीण होना चाहिये। सभापर्व [१५] एवं आयोध्याकाण्ड में आया है कि जब संसार वार्ता पर निर्भर रहता है तो वह बिना कठिनाई के समृद्ध शाली होता है। शांतिपर्व में सावधान किया गया है कि यदि वार्ता की

---

११. घोषाल यू. एन.; ए हिस्ट्री आफ इण्डियन पॉलिटिकल आईडियाज, पृष्ट, १२२

१२. गौतम धर्मसूत्र, ११.३

१३. गौतम धर्मसूत्र, ११.१९

१४. रामायण, १.१८.२४ एवं २६, २.१.२०, २१.२.३४-३५, ५.३५.१३-१४

१५. सभापर्व ५.९.

चिंता न ही जायेगी तो विश्व नष्ट हो जावेगा। विश्व के मूल में वार्ता है और वह तीनों वेदो द्वारा चालित है।[१६] वनपर्व में भी वर्णित है कि यह सम्पूर्ण विश्व वार्ता अर्थात् वाणिज्य, खान, व्यापार, कृषि, पशुपालन द्वारा चालित एवं पालित है।[१७] महाभारत के वनपर्व में आया है कि राजकुमार वेदों एवं उनके मूल सिद्धांतो तथा धनुर्वेद में प्रवीण हो।[१८]

मनु के अनुसार क्षत्रिय का विद्यारम्भ छठे वर्ष में होना चाहिये। राजा (राजपुत्र) को तीनों वेदों का ज्ञाता विद्वानों से त्रयी - दण्डनीति, आन्वीक्षकी और वार्ता सीखनी चाहिये उसे सर्वदा इन्द्रियों के जीतने में यत्नशील रहना चाहिये और उसे काम से उत्पन्न दस तथा क्रोध से उत्पन्न आठ व्यसनों को यत्नपूर्वक त्यागना चाहिये ; क्योकिं पहले प्रकार के व्यसनों से आसक्त राजा अर्थ तथा धर्म से भ्रष्ट हो जाता है और दूसरे प्रकार के व्यसनों में आसक्त होने वाला राजा आत्मा से ही भ्रष्ट हो जाता है।

कामन्दक के अनुसार - राजा को शास्त्र ज्ञान के निमित्त गुरु संयोग करना चाहिये और विनय की वृद्धि के लिये शास्त्रों का अभ्यास करना चाहिये ; क्योंकि विद्या से विनीत राजा संकट में भी दुखी नहीं होता और राजा स्वयं व्यसनग्रस्त नहीं होता वह राज्य के व्यसन दूर करने में समर्थ होता है।

शुक्र का कथन है कि राजा को चाहिये कि वह इन्द्रियों को वशीभूत (जीत) कर गुरु की सेवा करे। उसे शास्त्र ज्ञान के लिये गुरु संयोग और विनय की वृद्धि के लिये शास्त्र का अध्ययन करना चाहिये। डॉ वेनी प्रसाद ने राज्य वर्धन और हर्षवर्धन की शिक्षा के विषय में लिखा है कि दोनो राजपुत्रों को उनके मामा के निरीक्षण के अधीन रखा गया और एक बड़े सामन्त के बेटे उसके सखा बनाये गये। उन्हें उच्च दर्जे की सैनिक शिक्षा दी गई। हर्ष ने एक कवि और नाटककार के रुप में ख्यति पाई। लक्ष्मीधर भट्ट ने भी राजपुत्र की शिक्षा दीक्षा के बारे में अपने विचार व्यक्त करते हुये कहा है कि राजपुत्र को धर्म अर्थ, काम संबंधी शास्त्रों का अध्ययन धनुर्वेद का ज्ञान हाथी व घोड़े का अभ्यास करना चाहिये। उसे विनय शील बनाने का प्रयास करना चाहिये तथा क्षुद्र पुरुषो की संगति से दूर रहना चाहिये।

त्यागी एवं भाटिया के अनुसार - राज्याभिषेक के पूर्व यह आवश्यक था कि उस भावी शासक अर्थात राजकुमार को सभी अपेक्षित विधाओं में पारंगत किया जाये। उसको राजकुल में जाकर अन्य विद्यार्थियों के साथ बैठकर उन्हीं की भांति विद्याध्ययन करना पड़ता था। उसको प्रारंभ में वेद तथा तत्वज्ञान विशेषकर समझाये जाते थे। 'वार्ता' तथा दण्डनीति भी कुछ काल के पश्चात् राजकुमार की

---

१६. शांतिपर्व, २६३.३, ६८.३५

१७. वनपर्व, १५०.३०

१८. वनपर्व, २७७.४

शिक्षा के अनिवार्य अंग बन गये। जिस समय राजपुत्र धनुर्वेद, रथ संचालन तथा हस्तकलाओं में निपुणता को प्राप्त कर लेता था तो उसका युवराजाभिषेक किया जाता था। उसको जब युवराज पद आसीन कर दिया जाता था तो यह समझा जाने लगता था कि वह अपने पिता के कार्यों का सहयोगी बनेगा।[१९]

गुण -

एक उत्तम राजा को किन किन गुणों को धारण करना चाहिये, उसका वर्णन इस प्रकार है। कामन्दक के अनुसार राजा को शास्त्र ज्ञान के निमित्त गुरु संयोग और विनय की वृद्धि के लिये शास्त्रों का अभ्यास करना चाहिये ; क्योंकि विद्या से विनीत राजा संकट में भी दुःखी नहीं होता।[२०] ऐसे ही वृद्धों की सेवा करने वाला राजा भी दुःखी नहीं होता। जो राजा व्यसन - ग्रस्त न हो वही राज्य के व्यसन दूर करने में समर्थ होता है। जिस राजा के शास्त्र - रुपी चक्षु नहीं होते वह राजा अन्धा कहलाता है।[२१] उत्साह सम्पन्न और बुद्धि से निर्मल कर्म करने वाले तथा व्यसनों से रहित राजा (और पुरुषों) में सदा लक्ष्मी निवास करती है। नीतिमार्ग का अनुसरण करने वाले जितेन्द्रिय राजा की लक्ष्मी प्रकाशित होती है और उसे प्रकाश को छूने वाली कीर्ति प्राप्त होती है। इन गुणों के अतिरिक्त राजा को प्रजा पर अनुग्रह रखने वाला और लोक प्रिय होना चाहिये।

शुक्र के अनुसार मृगया द्यूत (जुआ खेलना) और मदिरापान ये राजा के प्रमुख अवगुण होते हैं। राजा को काम, क्रोध, लोभ मोह, मान और मद को त्याग देना चाहिये क्योंकिं इसके त्यागने पर ही राजा सुखी होता है। अच्छे राजा के विभिन्न आवश्यक गुणों का विवेचन इस प्रकार है - राजा को इन्द्रियों को वशीभूत (जीत) कर गुरूओं की सेवा करनी चाहिये ; शास्त्र ज्ञान के लिये गुरु का संयोग, विनय की वृद्धि के लिये शास्त्र का अध्ययन करना चाहिये। धर्म के अनुसार कर्म करने वाला राजा पण्डित है और समय के अनुसार धन लेने व देने वाला राजा साधु होता है।[२२]नीति का कारण विनय है, विनय शास्त्र के पालन से उत्पन्न होता है, विनय का हेतु इन्द्रियों की जय है। और इन्द्रियों की जय ही शास्त्र की प्राप्ति होती हैं। जिस राजा में प्रजा का अनुराग होता है और जो प्रजा के पालन में तत्पर रहता है वह विनीत है, वह राजा अत्यन्त श्री को भोगता है। घने विषय - रुपी वन में मद से दौड़ते हुये इन्द्रिय - रुपी हाथी को राजा ज्ञान रुपी अंकुश से वश में करे।[२३]

मनुस्मृति में कहा गया है कि राजा प्रतिदिन प्रातः काल उठकर विद्वान् ब्राम्हणों की सेवा करे

१९. त्यागी एण्ड भाटिया, हिन्दू राज्य शास्त्र, पष्ठ ५७.

२०. कामन्दकीय नीतिसार, १:५३-६० ।

२१. कामन्दकीय नीतिसार, १४:२-३ ।

२२. शुक्रनीति, १:१४१-४९

२३. शुक्रनीति, १:९१, ९६-९७

और उनके शासन में रहे ; वृद्ध वेदज्ञाता और शुद्ध हृदय वाले ब्राम्हणों की नित्य सेवा करे और उन वृद्ध ब्राम्हणों से पहले से विनययुक्त राजा भी सर्वदा और अधिक विनय सीखें, क्योंकि विनययुक्त राजा कभी नष्ट नहीं होता और अविनय के कारण वेन, नहुष आदि राजा नष्ट हो गये। राजा तीनों वेदों के ज्ञाता विद्वानों से त्रयी विद्या, नित्य दण्डनीति विद्या, आन्वीक्षकी विद्या और लोक व्यवहार से वार्ता को सीखें। राजा को सर्वदा इन्द्रिय को जीतने में प्रयत्नशील रहना चाहिये ; क्योंकि जितेन्द्रिय राजा प्रजा को वश में रखने में समर्थ होता है। राजा को काम से उत्पन्न दस व्यसनों - मृगया (शिकार), जुआ दिन में सोना, पराये की निंदा, स्त्री में अत्यासक्ति, मद (नशा - मद्यपान आदि), नाच गाने में आसक्ति और व्यर्थ (निष्प्रयोजन) भ्रमण तथा क्रोध से उत्पन्न आठ प्रकार के व्यसनों जैसे चुगलखोरी, दुस्साहस, द्रोह, ईर्ष्या, असूया (दूसरों के गुणो में दोष बताना), अर्थ दोष (धन का अपहरण या धरोहर आदि को वापस न करना), कठोर बचन और कठोर दण्ड आदि को यत्पूर्वक व्यागना चाहिये ; क्योंकि प्रथम प्रकार के व्यसनों से आसक्त राजा अर्थ तथा धर्म से भ्रष्ट हो जाता है और दूसरे प्रकार के व्यसनों से आसक्त वाला राजा आत्मा से ही भ्रष्ट हो जाता है अर्थात् स्वयं नष्ट हो जाता है। व्यसन तथा मृत्यु दोनों ही कष्टकारक हैं किंतु मृत्यु की अपेक्षा व्यसन अधिक कष्टकारक है, क्योंकि मरा हुआ व्यसनी पुरुष नरक में जाता है। और मरने पर व्यसन रहित पुरुष स्वर्ग में जाता है।[२४] याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार राजा को महाउत्साही, कृतज्ञ (उपकार मानने वाला), वृद्ध सेवी, विनययुक्त' सत्यसम्पन्न, पवित्र, शीघ्र काम करने वाला, स्मृतिवान् (जो बात न भूले) धार्मिक, अव्यसनी पण्डित, शूर और रहस्य को जानने वाला होना चाहिये। इन गुणों से युक्त होने के अतिरिक्त राजा को आत्मविद्या और राजनीति में निपुण तथा लाभ के उपाय और तीनों वेदों में प्रवीण होना चाहिये।[२५] गौतम धर्मसूत्र के अनुसार राजा को शास्त्र विहित कार्य करने चाहिये, सत्य निर्णय देना चाहिये, बाहर भीतर से पवित्र होना चाहिये और इन्द्रियों पर नियंत्रण रखना चाहिये। अच्छे नौकरों वाला होना चाहिये तथा नीति विषयक उपादानों का ज्ञान रखना चाहिये।[२६]

वैदिक कालीन अभिषेक मंत्रो में राजत्व के गुण और उददेश्य प्रकट होते हैं अभिषेक के उपरान्त राजा से पुरोहित कहता है -

इयं ते राट्
यन्तासि यमनो ध्रवोऽसि धरुण :
कृष्ये त्वा, क्षेमाय त्वा, रय्ये त्वा पोषाय त्वा''।[२७]

---

२४. मनु स्मृति, ७: ३७-५३१

२५. याज्ञवल्म्य स्मृति, आचार अध्याय, पृ- ३०१-११

२६. गौतम धर्मसूत्र, ११.२.४-६

२७. वाजनेयी संहिता, ९:२२, शतपथ ब्राम्हण, ५:२:१:२५

अर्थात यह तेरा राज्य है, तू शासक है, सबको नियमानुसार चलाता है, तू ध्रुव और स्थिर है, तू इस पद को धाारण करने वाला है हम तुझे कृषि, क्षेम, धन समृद्धि के लिये राज्य देते हैं। इस मंत्र के पूर्वभाग में राजा के गुणों का दूसरे भाग में कृषि ओर प्रयोजनों का निर्देश है राजत्व के कारणभूत ये गुण और प्रयोजन प्रचलित युग में अत्यंत महत्व रखते हैं।

वाल्मीकि रामायण में राजा दशरथ के गुणों से राजा के गुण माने जा सकते हैं। वेद वेदार्थ ज्ञाता, धर्म का विचार रखते हुये, सबका संग्रह करने वाले दूरदर्शी महातेजस्वी, प्रजाप्रिय, अनेक यशों में रत, राजर्षि, तीनो लोकों में प्रसिद्ध, बलवान्, सबके मित्र, शत्रु रहित, संयमित, धन आदि के संचय में इंद्र व कुबेर के सदृश्य। किष्किंधा काण्ड में वर्णन है कि जब राम ने बालि का वध किया तो घायल बालि ने राम से कहा कि हे राम ! तुम कुलीन हो, बल सम्पन्न हो, तेजस्वी हो, चरित्रवान हो, दुखियों के दुःख को समझने वाले हो और प्रजा के हित में तत्पर रहते हो। दयावान हो, बड़े भारी उत्साही हो, समय को पहचानने वाले हो, और दृढ़वती हो। राजन् दम, शम, क्षमा, धैर्य, बल पराक्रम और अपकारियों को दण्ड देना ये राजा के गुण हैं।

चित्रकूट मिलन प्रसंग में भरत से राम द्वारा प्रश्न कराकर राजा द्वारा त्याज्य गुणों का भी वर्णन मिलता है। ये दुर्गण इस प्रकार हैं नास्तिकता, असत्यवादिता, क्रोध, अनवधानता, प्रमाद, समझदारों से न मिलता, आलस्य, पांचों इंद्रियो के सुखों में लगे रहना, मंत्रियों से सम्मति न लेना, राजनीतिक ज्ञान विहितों से सम्मति लेना, निर्णीत बातों के अनुसार न चलना, गुप्त नीति का पालन न करना, शुभ कार्य न करना, तथा एक ही समय सभी बातों को त्याज्य करना।[२८] इन दोषों का परिहार करने पर एक उत्तम राजा हुआ जा सकता है।

कौटिल्य भी राजा के गुणों और दुर्गुणों का स्वामी सम्पद् प्रसंग के अन्तर्गत वर्णन करते हैं। राजा किसे होना चाहिये इस संबंध में कौटिल्य का कथन है प्रजा को आकृष्ट करने वाला, प्रजा संबधी उत्साह सम्पन्न करने वाले आदि गुणों को धारण करना राजा का कर्तव्य बताया गया है। उत्तम कुलोत्पन्न, आस्तिक बलशाली, वृद्धों द्वारा निर्दिष्ट किये गये पथ पर चलने वाला, धार्मिक सत्यवादी, वार्तालाप में विशेष योग्य कृतज्ञ, उच्च उददेश्य वाला, महान उत्साहयुक्त, शीघ्र कार्य करने वाला और समर्थ सामंतो से युक्त, दृढ़ बुद्धि' उत्तम मनुष्यों की सभा में बैठने वाला, शासक मार्यादा का अभिलाषी ये राजा के गुण है जिनसे आकृष्ट होकर लोग राजा के समीप जाने के इच्छुक होते हैं।

" महाकुलीनो देवबुद्धि : सत्सम्पन्नो, वृद्धदर्शी, धार्मिक, सत्यबाग-
विसंवादकः कृतज्ञ :, स्थूललक्षो , महोत्साधेऽदीर्घसूत्रः शक्यसामन्तो,

---

२८. रामायण, २.१००.६५-६७

दृढ़ बुद्धिरक्षुद्र, परिषव्को विनयकाम, इत्याभिगामिक गुणा :।।'' २९

सुनने की उत्कष्ठा, उचित बात या शास्त्र सुनना, सुनकर उसको गृहण करना, ग्रहण करने के उपरान्त उसको धारण कर लेना' धारण कर लेने क पश्चात विज्ञान फिर तर्क वितर्क और तत्व को जान लेना ये बुद्धि के गुण माने गये हैं।

शत्रुषागवणग्रहणधारणविज्ञानो हाषोहत्तत्वाभिनिवेशाः प्रज्ञागुणा :। ३०

शौर्य अमर्ष कार्य में शीघ्रता' दक्षता, ये चार गुण राजा के उत्साह गुण माने गये हैं।

शौर्यभषर्णः शीघ्रता दाक्ष्यं चौत्साह गुणाः। ३१

प्रगल्भ, भाषण करने में समर्थ, स्मृतिवान, बुद्धि और बलसम्पन्न उत्तामचित, संयमी, समस्त कलाओं में शिाक्षित समय पर शत्रु पर आक्रमण करने में समर्थ, उपकार और अपकार का बदला देने में समर्थ, लज्जाशील, आपत्ति और प्रकृति के ऊपर अधिकार रखने वाला, दूरदर्शी।

परिणाम दर्शी, देशकाल के अनुसार पुरुषार्थ के करने में प्रधान शाक्ति युक्त, संधि विग्रह के रहस्य का ज्ञाता, त्यागी, प्रणपालक, शत्रु को पहचानने वाला, अपने आकार को गुप्त रखने वाला, हीन पुरुष की हँसी न करने वाला, टेढ़ी भ्रकुटि से न देखने वाला, काम, क्रोध, लोभ, मोह, चपलता, उपताप, छलकपट आदि दुर्गणों से रहित, प्रियभाषी, प्रसन्नचित सहित उत्तम बोलने में समर्थ, वृद्धों के आचार और उपदेश का ज्ञाता, ऐसा राजा श्रेष्ठ है। इन समस्त गुणों का संग्रह स्वामी सम्पन्द् अथवा आत्म सम्पन्द् कहलाता है।

''वाग्गी प्रगल्भः, स्मृतिमतिबलवानु दग्रः स्ववग्रहः कृतशिल्पोत्ससने दण्डनाम्युष कारापकारयो द्धेष्टप्रतीकारी ह्वीमानापत्प्रकृत्योर्विनियोगता दीर्घदूरदर्शी, देश कालपुरुषकार कार्यप्रधानः संधिविक्रय त्यागसंयमपण परिच्छदविभागी संवृतोऽदीनाभिहास्य जिह्व भ्रकुटी-क्षणः कामक्रोधलोभस्तम्भवा लोपतापापेशुन्यहीनः शम्लः स्मितोदग्राभिमापी वृद्धोपदेशाचार इत्यात्मसम्यत्।।''३२

इसीलिये उपर्युक्त गुणों को धारणा करना और उसके अनुसार आचरण करना राजा का परमकर्तत्य माना गया है।

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र के एक दूसरे प्रसंग में राजा के आचरण सबंधी विशेष गुणों का वर्णन करते

---

२९. वार्ता ३, अ. ६, अधिकरण १, अर्थशास्त्र

३०. वार्ता ४, अ.१, अधिकरण ६, अर्थशास्त्र

३१. वार्ता ५, अ. १, अधिकरण ६, अर्थशास्त्र

३२. वार्ता ६, अ. १, अधिकरण ६, अर्थशास्त्र

हुये इस प्रकार की व्यवस्था दी है राजा को कामादि षड्वर्ग पर विजय प्राप्त कर इंद्रिय में जय करना चाहिये।

'' तस्मादरिषड्वर्गत्यागेनेन्द्रियजयं कुर्वीत । [३३]

राजा को विद्या वृद्धों के सहवास से बुद्धि, गुप्तचरों के चश्रु उद्योग से योग क्षेम के साधनों की प्राप्ति अपने अपने कार्य में प्रजा को लगाकर उनके धर्मो में उनकी स्थिति विद्या के प्रचार से शिक्षा तथा उचित दानोपहार आदि देकर प्रजा की प्रियता एवं हितकारी कार्यो के द्वारा आपने व्यवहार चलाते रहना चाहिये । ३४

वृद्धसंयोगेन प्रज्ञां, चारेण चक्षुरुत्थानेन योगश्रेमसाधनं, का र्यानुशासनेन
स्वधर्मस्थापनं, विनयं विद्योपदेशेन, लोकप्रियत्वमर्थसंयोगेन, हितेन वृत्तिम् ॥ [३४]

इस प्रकार जितेन्द्रिय होकर राजा को परस्त्री, परधन और त्यर्थ की हिंसा से बचते रहना चाहिये ।

'' एवं वश्वेन्द्रिय परस्त्रीद्रव्यहिंसाश्च वर्जयेत् । '' [३५]

अधिक शयन लोभ मिथ्या व्यहार उद्धतवेय तथा अनर्थ के अन्यकार्यो का राजा को त्याग कर देना चाहिये।

''स्वप्नं लौल्यमनृतव्यद्धतवेषत्वमनर्थसंयोग च ॥ [३६]

राजा का अधर्मपूर्वक और अनर्थ उत्पादन करने वाला व्यवहार के पास जाना उचित नहीं है ।

अधर्मसंयुक्तमानर्थसयुक्तं च व्यवहारम् '' [३७]

धर्म और अर्थ का विरोध कर काम का सेवन नहीं करना चाहिये ।

'' धर्मार्थाविरोधेन कामं सेवेत'' ॥ [३८]

अपने सुख का त्याग नहीं करना चाहिये ।

'' न निःसुख स्यात् ॥ [३९]

एक दूसरे से बंधे हुये अर्थ धर्म और काम का समय पर सेवन करना चाहिये ।

'' समं वा त्रिवर्गमन्योन्यानुबन्धम् । '' [४०]

---

३३. वार्ता १, अ. ७ ; अधिकरण १, अर्थशास्त्र
३४. वार्ता २, अ. ७ ; अधिकरण १, अर्थशास्त्र
३५. वार्ता ३, अ.७, अधिकरण ९, अर्थशास्त्र
३६. वार्ता ४, अ, ७ अधिकरण १, अर्थशास्त्र
३७. वार्ता ५, अ. ७, अधिकरण १, अर्थशास्त्र
३८. वार्ता ६, अ.७, अधिकरण १, अर्थशास्त्र
३९. वार्ता ७, अ.७, अधिकरण १, अर्थशास्त्र
४०. वार्ता८, अ. ७, अधिकरण १, अर्थशास्त्र

यदि राजा धर्म, अर्थ और काम इन तीनो में से किसी एक का दूसरे की अपेक्षा अधिक सेवन करेगा तो राजा धर्म, अर्थ और काम इन तीनो में से किसी एक का नाश अवश्य कर लेगा।

'' एको ह्यत्यासेवितो धर्मार्थकामानामात्मानमितरौ च पीडयति ''।[४१]

इस प्रकार कौटिल्य द्वारा वर्णित गुणों के आधार पर राजा को एक महान उच्च आचरण धारी व्यक्ति होना चाहिये जिससे उसकी प्रजा उसकी ओर अंगुली न उठा सके।

महाभारत में एक पूरा अध्याय ही राजा के गुणों पर आधारित है जिसके अन्तर्गत राजा के छत्तीस आवश्यक गुणों का वर्णन आया है। युधिष्ठर की जिज्ञासा को शांत करते हुये भीष्म कहते हैं - दया और उदारता आदि गुणों से विहित राजा जिन गुणों को आचरण में उतार कर उन्नति लाभ करता है वे गुण छत्तीस प्रकार के है। राजा को इन समस्त गुणों से सम्पन्न होने का प्रयत्न करना चाहिये। वह धर्म का आचरण करे किंतु कटुता न उत्पन्न हो, आस्तिक रहते हुये दूसरों के साथ प्रेमपूर्वक व्यहार करे। क्रूरता का आचरण किये बिना धनसंचय करे, विषयों का उपभोग करे किंतु मर्यादा का अतिक्रमण न करे, दीनता हीन प्रिय भाष्य करे, शौर्य पराक्रम से युक्त हो किंतु आत्म प्रसंशा न करे, कुपात्र को न देकर सुपात्र को दान दे, साहसी हो किंतु निष्ठुर नहीं। दुष्टों की संगति न करे बंधुओ के साथ द्वेषभाव न रखे, राजद्रोही गुप्तचरों से काम न करावे, दूसरों को कष्ट दिये बिना अपना कार्य सम्पन्न करें, दुष्टों से अपना अभीष्ट कार्य न कहे, अपने गुणों का स्वयं वर्णन न करे। उत्तम जनों से उनका धन अपहत न करे, अधम पुरुषों का आश्रय न दे बिना जाँच पड़ताल के किसी को दण्ड न दे, गुप्त मंत्रणा प्रकट न करे, लोभियों को धन न दे, कृतघ्नी एवं अपकारियों पर विश्वास न करे, अमर्षरहित से, अपनी स्त्री की रक्षा करे, राजा स्वयं शुद्ध रहे किंतु किसी से घृणा न करे स्त्रियों का अधिक सेवन न करे, अहितकर भोजन न करे, विनीत विनम्र को श्रद्धेय पूज्य पुरुषों का आदर उद्दण्ड्तारहित हो करे, निष्कपट भाव से (निश्छल हो) गुरुओं की सेवा करे, दम्भहीन हो देवों की पूजा करे, अनिन्दत उपाय से अर्थ प्राप्ति की इच्छा करे, हठी न होकर प्रीति का पालन करे, कार्यकुशल हो, व्यर्थ ही किसी को सान्तवना न दे, किसी पर कृपा करते समय आक्षेप न करें, अकस्मात् क्रोधी न हो तथा कोमल हो, किंतु अपकारियों के प्रति नहीं। ४२ जो राजा इन समस्त गुणों का पालन करता है वह इस जगत में कल्याण का अनुभव करके मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग प्राप्त करता है।[४३]

एक स्थान पर भीष्म करते हैं राजा को शास्त्र ज्ञान, धर्म पारायण तथा प्रजापालन की लगन होनी चाहिये।[४४] यह वीर क्षमाशील, पवित्र, समय समय पर तीक्ष्ण पुरुषार्थ को जानने वाला, सुनने के

४१. वार्ता९, अ.७, अधिकरण१, अर्थशास्त्र

४२. महाभारत, शान्तिपर्व, ७१.२ से ११

४३. महाभारत, शान्तिपर्व, ७१. १२.

४४. महाभारत, शान्तिपर्व, ११८. १६

लिये उत्सुक, भेदज्ञ, श्रवण पारायण तथा तर्क वितर्क में कुशल मेधावी धारणा शाक्ति से सम्पन्न न्यायोचित कार्य करने वाला इंद्रिय संयमी, प्रिय वचन बोलने वाला तथा शत्रु को क्षमा करने वाला हो।[४५] राजा को अंहकार रहित और द्वन्द रहित रहना चाहिये। इसके अतिरिक्त वह मंत्रियों के लिये हुये कार्य का अनुमोदन करे, सेवकों पर प्रेम रखे, अच्छे मनुष्यों का संग्रह करे, जड़ता को त्याग दे, सदा प्रसन्नमुख रहे, सेवकों का सदा ख्याल रखे, किसी पर क्रोध न करे न्यायोचित दण्ड दे, दण्ड का कभी परित्याग न करे, धर्म कार्य का उपदेश दे, गुप्तचर रुपी नेत्रों द्वारा राज्य की देखभाल न करें, प्रजा पर कृपा दृष्टि रखे और सदा धर्म और अर्थ के उपार्जन में कुशलतापूर्वक लगा रहे[४६]

महाभारत के अनुसार राजा को कुछ त्याज्य दुर्गुणों से बचना आवश्यक है ये व्यसन दो प्रकार के हैं। (१) कामजन्य (२) क्रोधजन्य। शांतिपर्व में श्लोक की व्याख्या करते हुये टीकाकारों ने लिखा है कि आखेट, जुँआ, दिन मे सोना, दूसरों की निंदा करना, स्त्रियों में आसक्त होना, मद्यपीना, नाचना गाना, गाना बजाना, और व्यर्थ घूमना ये कामजनित दोष हैं जिन पर राजा को विजय पाना है।[४७] इसी प्रकार चुगली, सहस द्रोह, ईर्ष्या, अर्थदूषण, वाणी की कठोरता और दण्ड की कठोरता ये क्रोध से उत्पन्न होने वाले आठ दोष हैं जिन्हें राजा को त्यागना चाहिये। इस प्रकार महाभारत कार ने राजा के लिये अपनाने योग्य गुणो और त्याज्य गुणों की विशद चर्चा की है।

इसी प्रकार से वेदों में भी राजा के गुणों का वर्णन मिलता है। ऋग्वेद में कहा गया है- राजा प्रजा का योग्य रीतियों से पालन करे, किसी को भूखा न रखें, ज्ञान को बढ़ाये, राज्य शासन रुपी यज्ञ का सुचारु रुप से निर्वाह करे ; दुष्टों का नाश करे; अपने राज्य के ज्ञानी, शूरवीर धनिक व कर्मकार व्यक्तियों को उत्तम रीति से रखे; सत्य धर्म से राज्य करे, सब लोगों को दूर करने का प्रयन्न करे ; और इस प्रकार राज्य शासन करे कि सब प्रजाजन का प्रिय बने। समस्त जनता का हित करने वाला नेता राजा अग्नि है जो जनता को दुःख से बचाता है तथा उसे सन्मार्ग पर चलाता है और सबको उन्नति के मार्ग पर ले जाता है। अथर्ववेद में कथन है - 'हे मनुष्यो में श्रेष्ठ ! तू ज्ञानी, अजेय, दीर्घायु, छात्रवल का पोषण कर्ता बनकर अपने राज्य के सब रोग दूर कर, हमारे घरों की उत्तम रक्षा कर शत्रुता करने वाले को दूर कर और श्रेष्ठ जनों के लिये विस्तृत कार्यश्रेत्र बना। राजा उत्तम रक्षक, अपने सामर्थ्य पर विश्वास रखने वाला, धनवान प्रजा की रक्षा करके उसको सुख देने वाला हो। शत्रुओं को दूर करे, प्रजा को अभय दे धनसम्पन्न करे। महाभारत में राजा के आचरण की तुलना गर्भिणी स्त्री से की गई है, वह गर्भस्य शिशु के पालन पोषण,

---

४५. महाभारत शांतिपर्व ११८.१७.१८

४६. महाभारत, शांतिपर्व, ११८. २०-२२।

४७. महाभारत, शांतिपर्व, षट्श्च च विनिजित्य दश चाष्टौ च भूमतिः महाभारत, शांतिपर्व के ६९ अध्याय में दाक्षिणात्य पाठ का यथा श्लोक; गीता प्रेसः गोरखपुर।

वृद्धि और विकास के लिये सदैव सचेष्ट रहती है। उसी प्रकार राजा का प्रत्येक कार्य प्रजा के रंजन और उसके कल्यार्ण ही होना चाहिये।[४८]

कवि कालिदास ने रघुवंश में राजा दिलीप का जो चित्रण किया है वह आदर्श राजतंत्र का रुप प्रस्तुत करता है राजा दिलीप के गुणों को भी परिलक्षित करता है। राजा दिलीप की प्रजा मनु द्वारा प्रतिपदित नीति मार्ग से तनिक विचलित न हुई न्याय का पालन करते समय राजा को ईर्ष्या, द्वेष, पक्षपात आदि से दूर रहना चाहिये। राजा दिपील प्रजा को नम्रता आदि से शिक्षा देने, आपत्तियों से बचाने और उन्नति से पोषण करते के कारण प्रजा के पिता हुये। राजा को स्वयं नियमों का पालन करना चाहिये और प्रजा से करवाना चाहिये। [४९] महाराजा अशोक को भारतीय आदर्श राजा के रुप में देखाते हैं अशोक का आदर्श पवित्रता (नैतिकता) द्वारा विश्व पर विजय पाने का था न कि तलवार द्वारा। उसके शिलालेखों में पवित्रता, शांति और सद्भावना के संदेश खुदे हुये थे। उसके राज्य आदेशों में प्रशासन सबंधी उच्च आदर्शों का उल्लेख रहता था और उससे प्रशासन का आधार न्याय और मानवता की भावना थी। उसने निष्पक्ष न्याय दान किया और जनता की भौतिक आवश्यकताओं को विभिन्न प्रकार की सेवाओं द्वारा पूरा करने के प्रयत्न किये संक्षेप में वह एक आदर्श वादी और गुणी राजा था उसके शासन के आदर्श थे,- धार्मिक सहिष्णुता, सर्वकल्याण और नैतिक विकास।

अथर्ववेद में राजा के गुणों का वर्णन किया गया है। वह प्रजा का एकमात्र स्वामी है, क्षत्रियों में राजेन्द्र है, धन और कोष का एक मात्र स्वामी है, इन्द्र का प्रिय है, मनुष्यों में एकमात्र बलवान है, व्याघ्र के तुल्य शत्रुओं का नाशक और उनके ऐश्वर्य को छीनने वाला है। राजा के गुणों का वर्णन करते हुये कहा गया है।

हे प्रभो ! राजा को क्षात्रतेज से बढ़ा और राजा को अद्वितीय बलवान कर राजा के सब शत्रु निर्वल हो जावें और कोई प्रति पक्षी न रहे। [५०] यह राजा सब प्रकार की क्षात्र शक्तियों की मूर्ति बने और इसके सब शत्रु दूर हो जावें। [५१] यह राजा सब प्रकार से धन प्राप्त करे, तथा प्रजाजनों का उत्त्तम पालन करे, इस राजा में सब प्रकार के तेज बढ़े और इसके शत्रु फीके न पड़े [५२] ये दोनों पृथ्वी लोक इसको सब प्रकार से धन देवें, यह राजा सबका प्रिय बने। ईश्वर मनुष्य, पशुपक्षी और औषधियों से भी यह प्रेम रखे। [५३] यह राजा ईश्वर के साथ अपना आंतरिक सबंध जोड़ दे, जिससे इनकी सदा जय होवे और कभी पराजय न होवे, यह राजा इस प्रकार मनुष्यों में बलवान और मनुष्यों मे सब राजाओं से श्रेष्ठ होवे। [५४] यह राजा ऊंचा

---

४८. महाभारत, शान्तिपर्व, ४५-५६
४९. रघुवंश, १:१७,२४,२८
५०. अथर्ववेद, ४.२२.१
५१. अथर्ववेद, ४:२२.२
५२. अथर्ववेद, २:२२.३
५३. अथर्ववेद, ४:२२.४
५४. अथर्ववेद, ४:२२:५

बने और सब शत्रु इसके नीचे हों। यह अद्वितीय बलवान, ईश्वर का भक्त और विजयी होकर शत्रु का पराभाव करके उनके उपयोग के पदार्थ प्राप्त करे।[५५] सिंह और व्याघ्र के समान प्रतापी बनकर सब प्रजाओं से योग्य भोग प्राप्त करें और शत्रुओं को दूर करे। अद्वतीय बलवान, प्रभु का भक्त और विजयी बन कर शत्रु का पराभाव करके धन अपने राज्य में ले आवे।[५६] इस प्रकार ये गुण राजा में होते है।

अर्थर्ववेद के इन सूक्तों में देवराज इन्द्र के क्षत्रिय धर्म बताये गये है जिससे राजा के गुण परिलक्षित होतें है। हे (इन्द्र) शूरवीर ! तू शत्रु का नाश करने वाला, शत्रु सैन्य का नाश करने वाला, तृप्त संतुष्ट, तेजस्वी, प्रकाशमान् शत्रु का प्रतिकार करने में समर्थ[५७] जनता का मित्र, जनता का हित करने वाला, सूर्यवन्यप्रकाशमान, प्रयत्नशील पुरुषार्थी, शत्रु को भूनने वाला त्वरा से शत्रु पर हमला करने वाला[५८] समर्थ शाक्तिशाली बलवान्[५९] वज्र आदि शस्त्रों से युक्त[६०] अपना बल प्रति दिन बढ़ाने वाला, धनवान्[६१] है क्षत्रिय के पास शौर्य वीर्य पराक्रम आदि गुण जैसे होने चाहिये उसी प्रकार पुनः प्रयत्न करने का गुण और वेग से शुत्र पर हमला करने का गुण अवश्व होने चाहिये। इसी प्रकार वह उत्तम रक्षक आत्मवल से युक्त राजा, शत्रुओं को प्रजाजनो से दूर करे, प्रजा भी उस पूजनीय राजा के विषय में उत्तम बुद्धि धारण करे और वह भी उनके विषय में शुभमति धारण करे। राजा प्रजा की रक्षा करे, प्रजा भी सतनिष्ठ रहे और दोनो एक दूसरे के विषय में सुबुद्धि धारण करे। यह सूक्त भी प्रभु का वर्णन करते हुये राजा के गुण बता रहा है।[६२]

यजुर्वेद के अनुसार विद्वान लोग नवीन - नवीन रक्षा आदि गुणों के लिये प्रशंसनीय प्रजा युक्त, सबसे उत्तम, शुभ गुण, और कर्मो से उन्नति को प्राप्त, दुखों का निवारण करने वाले, दित्वगुण युक्त, शासनकारी, सर्व सहनशील, प्रचण्ड पराक्रमयुक्त, बलपूर्वक शत्रु को दमन करने में समर्थ, नियमों के पालक इन्द्र को यहां बुलाते है।[६३] एक स्थान पर राजा के वरण के समय कहा गया है - हे राजन् ! तू अधिक योग्य, सुस्थिर रहकर कार्यरत होने वाला, मानवों का हित करने वाला, सबके मनो को आकर्षित करने वाला तू है ; इसी प्रकार तू पृथ्वी पर स्थिर रुप से विराजमान, आन्तरिक्ष में वायु के समान व्यापक,द्यौलोक में सूर्य के समान प्रकाशित, विद्वान् श्रेष्ठजनों में प्रतिष्ठित, दिव्यपुरुष सब दुःखो से रहित तुझको इन्द्रपद के लिये योग्य समझकर प्रतिष्ठित करता हूँ।[६४] द्यूलोक में देवराज इन्द्र के अभिषेक के समय कहा गया है - देवो में मधुर, बलवान्, राजशक्ति देनेवाले, चैतन्य बढ़ाने वाले जलों का संग्रह किया

---

५५. अथर्ववेद, ४:२२:६
५६. अथर्ववेद, ४:२२:७
५७. अथर्ववेद, २.५.१
५८. अथर्ववेद, २.५.३
५९. अथर्ववेद, २.५.४
६०. अथर्ववेद, २.५.५
६१. अथर्ववेद, २.५.७
६२. अथर्ववेद, ७:९२
६३. यजुर्वेद, ७:३६
६४. यजुर्वेद, ९:२

। जिन गुणों से इन्द्र के शत्रु दूर हुये वे गुण ये हैं - मधुरता, बल, तेज शाक्ति, राज्य करने की शक्ति, राज्यशासन करने का ज्ञान, सुविचार, प्रेरणा देने वाले सुविचार, शांति बढ़ाने वाला जीवन ये गुण राज्यशासन करने वाले पुरुष के लिये आवश्यक हैं।[६५] इसी प्रकार हे राजन् ! तू क्षात्रवल की रक्षा करने वाले के समान रक्षक है, क्षात्रवल का आवरण है, तू क्षात्रवल का उत्पादक है, क्षात्रबल का केन्द्र है, इन्द्र के शत्रुनाशक बल का साक्षातरुप है, मित्र वरुण का योग्य अस्त्र शस्त्र है, तू शत्रुओं के गढ़ों को तोड़ने वाला है , तू वाण के समान शत्रु को पीड़ा देने वाला सत्य का उपदेश करने वाला है।[६६] है देवराज इन्द्र शुत्रओं का पराजय करनें मे समर्थ, महान शक्ति वाले तू बड़ा ज्ञानी है, तू सत्य व्यवहार का उत्पादक देव है, तू सुखपूर्वक सेना करने योग्य रुद्र है, हे कल्याण करने वाले, समृद्धि के कर्ता, तू इन्द्र का बज्र मुझे सिद्धि प्रदान कर।[६७] समस्त ऐश्वर्यों के उत्पादक सविता के दित्य गुण से, उत्तम विज्ञान युक्त वाणी से, रुपों के अधिस्ठात्री देवता प्रजापति रुप से, पशुओं से युक्त पूषा से, वेद के ज्ञान से युक्त वाक्रपति वेदज्ञ से, अपने आप स्वयं इन्द्र, राजा रुप से पराक्रम से युक्त , तेज युक्त अग्नि से राजा स्वरुप सोम से, दश गुण युक्त विष्णु से इन दस अर्थात विशेष गुणों द्वारा प्रेरित या शक्तिमान् होकर मैं आगे उत्कृष्ठ मार्ग पर प्रगति करता हूँ[६८] हे इन्द्र ! तुम सेना संचालन में चतुर, युद्ध में बड़ा अनुभवी, सब पर अनुशासन करने वाले, अतिशय शूर, शत्रु पर विजय प्राप्त करने वाले, बाल से युक्त, वेगवान उग्र, सब ओर से श्रेष्ठ वीरों से घिरा हुआ, बलवान पुरुषों के साथ रहने वाला, बल के कारण ही विख्यात, पृथ्वी को विजय से प्राप्त करने वाला, शत्रुओं को पराजित करने वाला हो। देवराज इन्द्र के ये गुण है।[६९] हे राजन् तू माता के प्रभाव से गुणयुक्त पिता ऐश्वर्य सम्पन्न तू अति वेगवान पराक्रमी है निंरतर गतिशील है, प्रजा का सुखकारी है, शत्रुनाशक है, शत्रु का पीछा करने वाला है, ऐश्वर्यवान है, मनुष्यों के मानयोग सबके मनो का आकर्षण है, शत्रुओं पर विजय करने के लिये प्रमाण होने से '' ययु'' नामवाला है, पृथ्वी का पुत्र या शासक होने से ' शिशु' नाम वाला है, तू आदित्यों के समान विद्वान पुरुषों के गमन योग्य मार्ग का अनुसरण कर। हे दित्यगुण वाले दिशावासिनी, प्रजा के पालक माण्डलिक राजओं तुम लोग राष्ट्र के बल बुद्धि के निमित्त इस अभिविक्त राजा की रक्षा करो।[७०] हे तेजस्वी ! पुरुष ! तुम अन्न की वृद्धि के लिये प्रजा का पोषण करो, बल पराक्रम के लिये पुष्ट हो, वेद विज्ञान या वेदज्ञ ब्राम्हणों की वृद्धि के लिये पोषण को प्राप्त हो, क्षात्रवल व क्षत्रियों की वृद्धि के लिये पुष्ट हो, द्यावा पृथिवी के शाक्ति विस्तार के लिये पुष्ट हो। हे राजन् ! तू

---

६५. यजुर्वेद,१०:१

६६. यजुर्वेद, १०:८

६७. यजुर्वेद, १०.२८

६८. यजुर्वेद, १०.३०

६९. यजुर्वेद, १७.३७

७०. यजुर्वेद, २२.१९

समस्त राष्ट्र को धारण करने में शक्तिमान है तू उत्तम रीति से समस्त प्रजा को धारण करने में समर्थ है, तू हिंसा रहित है, तू हममें मनुष्यों के हितकारी ऐश्वर्यों को धारण कर ; तू वेद वेदज्ञ ब्राह्मणों को धारण कर तू, क्षत्रिओं, ब्राम्हणों, वैश्यों को धारण कर, और प्रजा की उन्नति के लिये उनका धारण कर।[७१] इसी प्रकार राजा को इन गुणों के कारण दैवीय संज्ञा दी गई है जब सब प्रजायें राजा को नाना ऐश्वर्यों से पुष्ट करती हैं तब वह प्रजापति, जब वह अच्छी प्रकार से परिपुष्ट होकर प्रजा में उत्तम रीति से सर्वत्र ऐश्वर्यो से प्रकाशित होता है तब सम्राट, जब वह अच्छी प्रकार से सभा में विराजकर समस्त विद्वानों से आदर प्राप्त करता है वैश्यदेव, जब वह ऊंचे आसन को प्राप्त कर तेजस्वी बनता है तब धर्म, जब वह उन्नत पद पर स्थित होकर प्रकाशित होता है तब वह तेज, जब वह जल में स्नान पूर्वक अभिषिक्त होता है तथा अश्विन, जब विशेष रुप से वेगवान गमन करता हुआ पृथ्वी के हित के लिये प्रवृत होता है तब यह पौष्ठा कहलाता है। इसी प्रकार जब शत्रुओं का नाश कर रहा होता है तब मारुत, जब वह जलाशय साधनों कृषि को विस्तृत करता है जब मित्र, जब वह युद्ध क्षेत्र में रथादि साधनों से वायु के समान वेग पूर्ण जाता है तब वायभ्य, जब वह बराबर शत्रु के ऐश्वर्यो से मानो आहुति पाता अग्नि के समान प्रचण्ड होता है तब आग्नेय, और जब वह सब प्रजाओं द्वारा राजा स्वीकार किया जाता है तब वाक् कहलाता है। इस प्रकार राजा में निम्नगुणों के कारण ही उन्हें देवताओ की संज्ञा दी गई है।[७२]

ऋग्वेद में भी राजा के गुणों का वर्णन किया गया है। राजा को चाहिये कि वह सदा सत्य का पालन करता हुआ, राक्षसों और दुष्ट स्वभाव वालों को उत्तम बनावें।[७३] इन्द्र और वायु क्षत्रिय देव है, ये आकाश में विमानो का संचार करने वाले, हजारों आखों वाले अर्थात हजारों गुप्तचरों के द्वारा अपने तथा शत्रु देश की जानकारी रखते हैं और राज व्यवस्था चलाते है ये श्रेष्ठ राजाओं के गुण हैं[७४] मित्र और वरुण ये राजा के गुण हैं राजा सबके हितकर्ता और वरण किये जाने योग्य हों, ये देव ज्ञानी पवित्र कार्य करने में अपने बल का उपयोग करते है, कभी बुरे कार्य में शक्ति नहीं गंवाते। ये दोनों उत्तम मार्ग से सत्य ज्योति की रक्षा करते हैं कभी कुमार्ग का सहारा नहीं लेते, ये अपने उपासको की हर तरह से रक्षा करते हैं ये सुरक्षा साधनों से उत्तम ऐश्वर्य तथा उत्तम सिद्धि प्रदान करते हैं ये सैनिक उपने राष्ट्र की रक्षा करते है, ये उत्तम शूरवीर हैं जो भूमि को माता मानकर हर तरह से उसकी रक्षा करते हैं, और किसी काम को करने के लिये हर्षित होते हैं।[७५] यह देवों का राजा इन्द्र विशेष ज्ञानी है। ऋचाओं का यह अध्ययन करता है इसके पास

---

७१. यजुर्वेद, ३८.१४

७२. यजुर्वेद, ९.५

७३. ऋग्वेद, १.२१.५-६

७४. ऋग्वेद, १.२३.२-३

७५. ऋग्वेद, १.२३.४ से १२ तक

धन का समुद्र भरा पड़ा है, यह सर्वदृष्टा है, इसके गुप्तचर सब जगह घूमने रहते है इन्हीं गुणों से युक्त देश के राजा को होना चाहिये, राजा के गुप्तचर राष्ट्र के चप्पे चप्पे में घूमते रहें। ७६ इन्द्र सज्जनों का पालक एवं दुष्टो का संहारक है, अतिथियों का सत्कार करने के लिये इन्द्र ने उसके पवित्र कार्य में बाधा डालने वाले को मारा, बिना किसी की सहायता से शत्रुओं के अनेक नगरों को तोड़ने वाला, हजारों सैनिको से केवल रथचक्र से युद्ध करने वाला इतना वीर है कि वह किसी की अपेक्षा नहीं करता, इसी तरह राजा को वीर होना चाहिये।[७७] यह इन्द्र बड़ा ही सामर्थ्यवान, शीघ्रता से काम करने में प्रवीण, आनन्दपूर्ण, हर्षयुक्त, नित्य उत्साही, अन्यों को आनंद देने वाला, राज्य शासन करने में समर्थ, सभी विद्याओं में निपुण और जिसकी सम्पत्ति कोई चुरा नहीं सकता ऐसा सामर्थ्यशाली है इन सभी गुणों से राजा को युक्त होना चाहिये।[७८] यह इन्द्र बड़ा फुर्तीला और उत्साहवान है, वह अपने ही गुणों के कारण सर्वत्र प्रशंसनीय है। अर्थात दूसरो के गुणों और बलों के आधार पर वह काम नहीं करता। वह अपने ही बलों का आश्रय लेकर हिंसक शत्रुओं का विनाश करता है। इसी तरह राष्ट्र का स्वामी स्वावलंबी हो, दूसरों की सहायता के बिना भी वह अपने बल के सहारे राष्ट्र के शत्रुओं का विनाश करे। इस प्रकार वह अपने गुणों के कारण सर्वत्र प्रशंसनीय हो।[७९] राजा सत्यमार्ग पर चलने वाला सत्यपालक हो, शत्रुओं का विनाशक हो अपने राष्ट्र में रहने वाले ऋभुओं अर्थात बढ़ई, राज आदि कारीगारों का रक्षक हो, उत्तम नेता हे समय पड़ने पर कष्ट आदियों को सहने की क्षमता वाला हो, तथा घमासान युद्ध के शुरु होने पर शत्रुओं का नाश करते हुये आगे बड़ने वाला हो, तथा राष्ट्र में बुराईयों को दूर करने वाले सज्जनों का रक्षक एवं प्रजा का शोषण करने वाले दुष्टों का संहारक हो।[८०] राजा शौर्य के काम करने वाला, शूरवीर सभी की सद् इच्छ्रओं को पूरा करने वाला, बिना कठिनता के शत्रुओं को जीतने वाला, वज्र के समान तीक्ष्ण शस्त अस्त्रों को धारण करने वाला, शत्रुओं को हराकर राष्ट्र में उपद्रव करने प्रजा को पीड़ित करने वाले चोर डाकू आदि दस्युओं को नष्ट करने वाला तथा सज्जनों का मित्र हो।[८१] जब कोई शत्रु मनुष्य क्रोधित हो कर इन्द्र का मुकावला करने के लिये सामने आता है तो उस समय इन्द्र द्रृढ से द्रृढ शत्रु को भी आसानी से मार देता है। वह शत्रुओं को इसी प्रकार मारता है जिस प्रकार घन से लोहे को पीटा जाता है इस प्रकार शत्रु रहित होकर वह सर्वत्र जाता है अर्थात उस समय उसके मार्ग में कोई रुकावट नहीं डाल सकता।[८२] प्रजाओं का अग्रणी

---

७६. ऋग्वेद, १.५१.१

७७. ऋग्वेद, १.५३.८-९

७८. ऋग्वेद, १.६१.१

७९. ऋग्वेद, १-६१.१३

८०. ऋग्वेद, १.६३.३

८१. ऋग्वेद, १.६३.४

८२. ऋग्वेद, १.६३.५

नेता ऐसा है कि जिसके सामने आकर दृढ़ से दृढ़ तथा स्थिर रहने वाले शत्रु भी विचलित हो जायें और उसी तरह सूख जायें, जिस तरह अग्नि के संयोग से पानी सूख जाता है। वह शत्रुओं को पराजित करके उन पर शासन करने वाला हो। जो युद्ध में पीठ दिखा कर न भागे, अपितु हाथ में धनुष लेकर आगे बढ़ता चला जाये। ऐसा तेजस्वी वीर पुरुष ही लकड़ियों को काटने वाले फरसे के समान द्रोह करने वाले शत्रुओं को काटने वाला होता है।[८३]

मनुष्यों में जिस प्रकार नेता सबसे आगे रहता है, उसी प्रकार अग्नि देवों में सबसे अग्रणी रहता है। अग्रणी होने के नाते ही वह अग्नि है। अग्नि के द्वारा ऋग्वेद में नेता के गुणों का वर्णन किया हैं। जो इस प्रकार है :- वह अग्नि मनुष्यों का स्वामी है। अग्नि प्राण के रूप में सभी प्राणियों मे वास कर रहा हैं, प्राण होने के कारण ही सभी प्राणियों मे वास कर रहा हैं, प्राण होने के नाते ही प्राणी भूत कहलाते है। इसलिए प्राण को सबका स्वामी कहा गया है। प्राण के रहने तक ही मनुष्य के सब क्रिया कलाप चलते है उसके अभाव में सभी कुछ निस्सार है। इसी तरह किसी राष्ट्र के नेता उस राष्ट्र के प्राण रुप होते हैं। उत्तम नेता के अभाव में राष्ट्र मृतवत् हो जाता है। वह नेता भी तेजों से उत्पन्न हुआ हो। अरणि में गुप्त माथे जाने पर जब अपनी ज्वालाओं के द्वारा अपने तेज को फैला कर प्रकट होती है तभी मनुष्य कहते हैं कि अग्नि उत्पन्न हुई। अरणि में निहित अग्नि सबके लिए ''दाभ्य'' दबाये जाने लायक है, पर उत्पन्न होकर वही ''अदाभ्य'' न दबाने योग हो जाती है। इसी तरह जब मनुष्य अपने तेजों को प्रकट करने लगता है, तब वह ''अदाभ्य'' बन जाता हैं। कोई भी शत्रु उसे अपने बस में नही कर पाता है। अतः नेता को तेजस्वी होना चाहिये।[८४] अग्रणी का काम राष्ट्र में पवित्रता रखने का भी है। घर में यदि अग्नि रोज जला करे और उसमे उत्तम उत्तम पदार्थो का होम हो, तो उस घर का वातावरण हवा आदि पपित्र हो जाते हैं। इसी प्रकार अग्रणी या नेता भी अपने राष्ट्र में सर्वत्र पवित्रता करने वाला हो वह इस बात की देखभाल करे कि राष्ट्र में कहीं भी कूड़ा कचड़ा न हो। राष्ट्र भर में उत्तम वातावरण और उत्तम वायुमंडल रहे, ताकि प्रजा का उत्तम स्वास्थ रहे। इस प्रकार नेता का काम पवित्रता करना भी है।[८५] अग्रणी नेता सज्जनों की कामनाओं का पूरक है तथा स्वयं भी ऐश्वर्यवान् है। नेता इस बात में सदा दक्ष रहे कि राष्ट्र के सत्पुरुष सुरक्षा में रहे, दुष्ट उन्हें सता न पाये। सत्पुरुषों की हर इच्छा पूर्ण होवे, ताकि राष्ट्र में सर्वत्र सज्जनों की संख्या अधिक हो। एक नेता स्वयं ऐश्वर्यवान् हो। इसीलिये नेता प्रथम स्वयं ऐश्वर्यवान् बने फिर दुष्टों का दमन करके सत्पुरुषों की रक्षा करें। और उन्हें ऐश्वर्य से संपन्न करें। तभी वह अग्रणी सर्वत्र प्रशंसित

---

८३. ऋग्वेद, १.१२७.३

८४. ऋग्वेद, २.१.१

८५. ऋग्वेद, २.१.२

८६. ऋग्वेद, २.१.३

होता है। ऐसे नेता की सभी लोग प्रसंशा करेगे इस में संदेह नहीं है। [८६] सज्जनों की संख्या अधिक हो।एक नेता स्वयं ऐश्वर्यवान् हो। इसीलिए नेता प्रथम स्वयं ऐश्वर्यवान बने फिर दुष्टों का दमन करके सत्पुरूषों की रक्षा करे और उन्हें ऐश्वर्य से सम्पन्न करे। तभी वह अग्रणी सर्वत्र प्रशंसित होता है। ऐसे नेता की सभी लोग प्रसंशा करेगें इसमें संदेह नही है।[८६] ऐसा नेता उत्तम बुद्धि से युक्त होता है।उसे उत्तम बुद्धि से युक्त होना चाहिए।उसकी बुद्धि संकट के समय में भी डगमगाने वाली न हो,ऐसी बुद्धि के बल पर ही यह नेता नगर या राष्ट्र को धारण कर सकता है राष्ट्र को शक्तिशाली बना सकता है। वृतों को अर्थात नियमों को धारण करने के कारण ही मनुष्य वरूण अर्थात वरणीय या पूज्यनीय हो सकता है। राष्ट्र का नेता नियमों के अनुसार चलने वाला हो,वह स्वयं अनुशासनबद्ध हो और प्रजाजनों को अनुशासनबद्ध करे। वह सदा सावधान रहे कि उसके द्वारा किसी नियम का उल्लंघन न हो,नहीं तो प्रजा भी उसका अनुसरण करेगी और राष्ट्र में सर्वत्र अनुशासन हीनता का साम्राज्य छा जायेगा।[८७] अत:नेता धृतव्रत हो। क्योंकि ऐसे उत्तम कर्म करने वाले नेता को राष्ट्र के विद्वान मनुष्य सबसे श्रेष्ठ स्थान पर स्थापित करते हैं। ऐसे उत्तम मनुष्य को ही विद्वान जन राष्ट्र का राजा या शासक बनाते है। राजा की नियुक्ति गुणों के आधार पर हो,वंश के आधार पर राजा की नियुक्ति न हो, तथा कोई मनुष्य राजा होने योग्य है या नहीं,इसकी परीक्षा ब्राह्मण जन ही करें। इस प्रकार राष्ट्र का शासन वस्तुत:विद्वान ब्राह्मणों के हाथों में हो,राजा भी इन ब्राह्मणों की आज्ञा में रहकर राष्ट्र का शासन सूत्र चलाये। इस मंत्रभाग में प्रजातंत्रात्मक शासन की तरफ संकेत किया गया है। ऐसे प्रजातंत्र में भी मत देने का अधिकार उन्हीं को हो,जो विद्वान हों और गुणों को पहिचानने वाले हो।आयु के आधार पर मतदान की प्रणाली न हो। ऐसा होने पर उत्तम कर्म करने वाला ही राजा बन सकेगा और राष्ट्र की उन्नति और समृद्धि हो सकेगी। [८८]इन्द्र मनुष्यों की कामनाओं को पूर्ण करने वाला,सज्जनों का पालक,इन्द्र ने दुष्टों को मारकर आर्यों की रक्षा की,राष्ट्र में दुर्जनों का नाश और श्रेष्ठों की रक्षा अवश्य होनी चाहिए।इन्द्र ने दुष्टों को मारकर आर्यों की गाय,स्वर्ण और अन्य प्रकार के भोग प्रदान कर श्रेष्ठ वर्णों की रक्षा की। प्राणियों के हित के लिये औषधियां प्रदान की,दिन प्रदान किये, वनस्पतियां प्रदान की, अन्तरिक्ष बनाया, बकासुर को मारा, वकवास करने वालों को नष्ट किया और घमण्डियों का दमन किया इन गुणों के कारण ये इस श्रेष्ठ यज्ञ [८९] में शुद्ध करने वाले, उत्तम नेता, प्रार्थनाओं को सुनने वाले युद्धों में वृत्तों का संहार करने वाले ऐश्वर्यवान इन्द्र की प्रार्थना करता हूँ।

इन्द्र सोने के समान चमकने वाला, समस्त संसार को प्राप्त करने वाला है उसके तेज को कोई नष्ट नहीं कर सकता। इसके तेज को जो प्राप्त करते हैं वो दोनों लोकों में प्रसिद्ध हो जाते हैं। इन्द्र और

८७. ऋग्वेद, २.१.४

८८. ऋग्वेद, २.१.५

८९. ऋग्वेद, ३.३४.७ से ११

वरूण कल्याण करते है ,चारों ओर व्याप्त है सब बुद्धिमान गण स्थिर रहने वाले अनेक तरह के कम देखते हैं। मित्र के समान हितकारक , गौंओं का रक्षक, अंधकार दूर कर ज्ञान के द्वारा ज्योति को प्राप्त करने वाले, श्रेष्ट यज्ञ में युद्ध करने वाले उत्तम नेता, प्रार्थनाओं को सुनने वाले, वृत्तों के संहारक , ऐश्वर्यवान इन्द्र की मैं प्रार्थना करता हूँ।[९०] यह इन्द्र अपने ही तेज से तेजस्वी है , अपने ही बल से धनवान है, इसीलिये यह उत्तम यश वाला है, वह स्वयं अनुशासन में रहकर दूसरों को अनुशासन में रखता है, वह स्वयं भी तेज से बढ़ता हुआ मनुष्यों को बढ़ाता है, उत्तम योद्धा, बलवान्, धन के स्वामी, वीर, तरूण, सबसे बड़े, शत्रुओं को मारने वाले, वृद्ध न होने वाले, वज्र धारण करने वाले और प्रसिद्ध इन्द्र के पराक्रम भी महान हैं।[९१] सुखदायी,धनवान,मानवों का श्रेष्ठ नेता, उग्रवीर, असुरों का वधकर्त्ता, धनों को जीतने वाला ये इन्द्र के विशेषण राजा के भी गुण हैं, ये गुण मानवों के अंदर भी धारण करने योग्य हैं।[९२] यह इन्द्र मनुष्यों क भरण पोषण करके उनको धारण करने वाला , प्रशसा के योग्य, सैकड़ों शुभ कर्म करने वाला , वर्षा करने वाला , सामर्थय शाली, सब को उत्तम मार्ग से ले जाने वाला , शत्रु संहारक, तेज से युक्त, सुख को जानने वाला, शत्रुओं को क्षीण करने वाला, शत्रुओं को नष्ट करने वाले वीर मनुष्यों में उत्तम नेता, मनुष्यों के अंदर की अनेक शक्तियों को धारण करने वाला, सबके साथ मित्रों के समान स्नेह करने वाला सबका रक्षक है।[९३] इन्द्र के समान सर्वगुण सम्पन्न दूसरा कोई नहीं है। इन्द्र का अर्थ प्रभु परमेश्वर है, सूर्य है, राजा है, वीर है, जगत का इन्द्र परमेश्वर है नरेद्र, राजा, मानवेन्द्र में इसके गुण हैं।[९४] यह इन्द्र युद्ध में बहुत पराक्रम प्रकट करने वाला, रथ विद्या में निष्णान्त, नास्तिक को मारने वाला, आस्तिक की रक्षा करने वाला, सारे विश्व पर सत्ता चलाने वाला, शत्रुओं के लिये भंयकर तथा शत्रुओं को वश में करने वाला है।[९५] यह इन्द्र बहुत धन और तेज वाला है , तथा अपने बल के लिये प्रसिद्ध है यह हजारों तरह के ऐश्वर्य लेकर हमारे पास आता है। यह धन से सदा सम्पन्न रहता है इसे कोई पृथक नहीं कर सकता। यह अत्यन्त तेजस्वी, अत्यन्त बलवान, श्रेष्ठ और शत्रुओं का नाश करने वाले, इन्द्र की महिमा पृथिवी और द्यूलोक से भी विशाल है, यह बहुत ही बुद्धिमान अपने उपासक को सुख शांति देने वाला है , यह शत्रु रहित है अर्थात सबसे मित्रता का व्यवहार करता है इसीलिये इसका कोई शत्रु नहीं है इसे किसी के सहारे की आवश्यकता नहीं है अपितु यह सबको सहारा देता है।[९६] इन्द्र घोड़े, गौंवें सम्पत्ति निश्रय देने वाले, कारीगरों को धारण करने वाले, हे वीर !

---

९०. ऋग्वेद, ३.३८.७ से १० / ३.३९.५ से ९

९१. ऋग्वेद, ३.४५.५, ३.४६. १-२

९२. ऋग्वेद, ३.४८.५

९३. ऋग्वेद, ३.५१.१ से ६ तक

९४. ऋग्वेद, ४.३०.१

९५. ऋग्वेद, ४.३४.६

९६. ऋग्वेद, ६.१८.११-१२

अहिंसक कर्म करने वाले, चारों ओर यश कीर्ति पाने वाले, सबकों निवास स्थान देने वाले तू कारीगरों का आधार तथा बुद्धिमानों का संरक्षक है ये राजा के गुण है।[९७] जिस तरह अग्नि प्रकाशक, ज्ञानी है उसी तरह राजा भी ज्ञानी, दूरदर्शी, उत्तम प्रभाव का सूचक, अपने किलों एवं नगरों का संरक्षक, और प्रजा को सुख देने के लिये राज्य करने वाला हो।[९८] जिस तरह एक राजा अनेक स्त्रियों से युक्त होता है उसी तरह यह इन्द्र अनेक तेजों से युक्त होकर रहता है। यहां इन्द्र की अनेक दीप्तियां ही उसकी स्त्रियों के समान है। यह इन्द्र धनवान, ज्ञानी, कान्त दर्शी, दूरदर्शी है राजा भी इन गुणों से युक्त हो। राजा सुन्दर रूप वाला तथा आपार वैभव वाला हो वह अपनी प्रजाकी वाणी को शुभ संस्कारों से युक्त बनाये। प्रजाओं पर उत्तम संस्कार पड़े ऐसी व्यवस्था राजा राज्य भर में करे।[९९] प्रकाशमान, तेजस्वी,बलवान,उत्तम शस्त्र धारी, शूरवीर, शत्रुनाशक ऐसा मनुष्य ही मनुष्यों का राजा हो। राजा और राजपुरूषों के ये गुण हों यह राजा शक्तिपूर्वक अपने कर्म कर्त्तव्यों को करता रहे तथा अपने राष्ट्र के ऐश्वर्य को बढ़ावे। अपने राष्ट्र के सामर्थ्य बल तथा पौरूष को बढ़ावे।[१००] इस प्रकार वेदों में भी राजा के गुणों का विशद् वर्णन प्राप्त होता है।

ऐतरेय ब्राह्मण में राजा के गुणों का वर्णन करते हुये कहा गया है -

ते देवा अब्रुवन् सप्रजापतिका अयं वैदेवानामोजिष्ठो

बलिष्ठः सहिष्ठः सत्तमः पारमिष्णुतम इममेवाभिषिश्चायहा इति तद्वै तदिन्द्रमेव।

राजपद पर अधिष्ठित करते समय राजा के गुणों का विषेश ध्यान रखा जाता था यह आवश्य था कि राजा गुणातिशय में इतरजनों से विशिष्ठ हो, जिससे उनके प्रभाव को सभी स्वीकार करें। ऐन्द्रमहाभिषेक के समय राजा में भूययान, गुणों की चर्चा करते हुये प्रतिपादित किया गया है कि राजा ओजस्वी ,बलवान,धैर्यवान,संयमी,कार्यव्यवहार का कार्य समाप्ति तक युक्तिसे संचालन करने वाला उग्र ,वीर्यवान,सहनशील आदि गुणों से युक्त हो।[१०१]

योग्यता-

राजा बनने वाले व्यक्ति में पूर्व में वर्णित गुणों का होना तो अत्यन्त अनिवार्य समझा ही जाता था। इसके अतिरिक्त राजा कौन बन सकते हैं अथवा कौन व्यक्ति राजा नहीं बन सकते थे , इस विषय में यहां उल्लेख किया गया है। प्रथम ,स्त्रियों को राजपद के लिये योग्य नहीं माना जाता था। वैदिक काल में रानी

---

९७. ऋग्वेद, ६.४३.१२-१५

९८. ऋग्वेद, ७.६.२

९९. ऋग्वेद, ७.१८.२

१००. ऋग्वेद, ७.३०.१

१०१. ऐतरेय ब्राम्हण, ३८.१

को रत्नियों की सूची में सम्मिलित किया गया था। परन्तु राजा की पुत्री को राजा का उत्तराधिकारी नहीं बनाया जा सकता था। उस समय यह विचार प्रचलित था कि स्त्री स्वतंत्र नहीं रह सकती,बालकपन में पिता उसकी रक्षा करता है ; बड़े होने पर पति उसकी रक्षा करता है और बुढ़ापे में उसके पुत्र उसकी रक्षा करते हैं। दूसरा, जातिगत योग्यता भी राजपद के लिये आवश्यक थी। साधारण सिद्धांत तो यही था कि क्षत्रिय ही राजा बन सकते थे। 'राजन्' शब्द का एक अर्थ भी 'क्षत्रिय' है। वास्तव में विभिन्न वर्णो के कार्य अलग अलग विहित थे। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि क्षत्रिय को पुरोहित के कार्यों में और ब्राम्हण को क्षत्रिय के कार्य में आनन्द नहीं मिलता। मनु ने राजधर्म का विवेचन आरंभ करते ही क्षत्रिय का उल्लेख किया है। [१०२] इसके अतिरिक्त चाणक्य के अनुसार राज्य के सात अंगों में केवल दो की ही मुख्यता है , राजा की और देश की। इसीलिये उन्होंने राजा की व्यक्तिक योग्यता को बहुत महत्व दियाहै इसके अनुसार राजा को आदर्श व्यक्ति होना चाहिये। परन्तु राज पुरूष सुगमता से नहीं मिल सकता, यद्यपि एक कुलीन और होनहार व्यक्ति को बचपन से ही उचित शिक्षा देकर उसे आदर्श राजा बनने के लिये तैयार किया जा सकता है चाणक्य ने उसकी शिक्षा के विषय में कहा है जो कि राजा को बचपन और युवावस्था मै शिक्षा दी जानी चाहिये। राजा के लिये आवश्यक है कि वह काम,क्रोध,लोभऔर मोह मद हर्ष इन छः शत्रुओं को परास्त कर अपनी इन्द्रियों पर पूर्णतया विजय करे। उसके समय का एक एक क्षण काम में लगा हो दिन में तो बिल्कुल भी विश्राम नहीं करना चाहिये। रात को भी इसे तीन घण्टे से अधिक सोने की आवश्यकता नहीं है रात और दिन में उसके समय का पूरा पूरा कार्यक्रम चाणक्य ने दिया है। भोग विलास, नाच रंग आदि के लिये उसने कोई समय नहीं रखा है चाणक्य का राजा एक राजर्षि है जो सर्व गुण सम्पन्न एक आदर्श पुरूष है। जिसका एक मात्र लक्ष्य विजिगिषा है। वह सम्पूर्ण जनपदों को विजय कर अपने अधीन करने के लिये प्रयत्नशील है। चातुरंग साम्राज्य की कल्पना को उसे कार्यरूप में परिणत करना है। उसका मन्तव्य है, कि सारी पृथिवी एक देश है। उसमें हिमालय से लेकर समुद्र पर्यन्त सीधी रेखा खीचनें से जो एक हजार योजन विस्तीर्ण प्रदेश है, वह एक चक्रवर्ती राज्य का क्षेत्र है। इस स्वप्न को जिस व्यक्ति को 'कूटस्थीय' होकर पूरा करना हो, वह यदि सर्व गुण सम्पन्न न हो, राजर्षि का जीवन न व्यतीत करे, और काम, क्रोध आदि शत्रुओं का शिकार हो, तो वह कैसे सफलता प्राप्त कर सकता है? अत: कौटिल्य के अनुसार राजा को पूर्ण पुरूष होकर राजर्षि का जीवन व्यतीत करते हुये अपना कार्य करना चाहिये। कौटिल्य ने राजा के चारित्रिक गुणों के संबंध में कुछ सीमाएँ निर्धारित की हैं कि वह उच्च कुल में उत्पन्न हो, देवताओं के समान बुद्धि रखने वाला, धैर्यवान,दूरदर्शी,धार्मिक, सत्यवादी, सत्यप्रतिज्ञ, कृतज्ञ, उच्चाभिलाषी, उत्साही, शीघ्र कार्य करने वाला , सामन्तों को वश में रखने वाला, दृढ़बुद्धि आदि

---

१०२. जॉन डब्लू स्पैलमैन, पॉलिटिकल थियोरी इन ऐन्शियेन्ट इंण्डिया, पृष्ठ ४६-४८

राजा की विशेषताएँ होनी चाहिये।[१०३] कौटिल्य ने राजा के गुणों को अभिगामिक प्रज्ञा व उत्साह श्रेणियों के अन्तर्गत रखा है। साथ ही इन्हें आत्मसम्पद् अथवा स्वामिसम्पद् नाम से सम्बोधित करते हैं।[१०४]

राजा की योग्यताओं का वर्णन करते हुये चण्डेश्वर कहते हैं कि राजा को सर्वप्रथम शौर्य सम्पन्न होना चाहिये, क्योकिं उसका प्रथम कर्तव्य प्रजा व राज्य की रक्षा करना है। इसके अतिरिक्त राजा को विनीत, वृद्धसेवी, सत्वसम्पन्न, कुलीन, सत्यवादी, उदार, धार्मिक, अव्यसनी और प्राज्ञ होना चाहिये।

गुप्तयुगीन स्मृतियों तथा अभिलेखों के अनुसार एक सफल शासक को गुरूजनों की सेवा, राजधर्मो का अध्ययन, धार्मिक आचरण एवं लोकपालों के तुल्य योग्यता से प्रजा का संरक्षण करना चाहिये। उसे राजनीति शास्त्र पर अधिकार प्राप्त करने के लिये धैर्य का विकास तथा नेतृत्व की प्राप्ति के लिये उग्र प्रयत्न करना चाहिये अभिमानी, अधार्मिक एवं अत्याचारी राजा निन्दनीय माने गये है। समुद्रगुप्त ने युग एवं परिस्थितियों के अनुकूल उत्तर भारत के नौ राजाओं को पराजित कर उनके साम्राज्य को अपने राज्य में मिलाकर प्रसयोद्धरण नीति का पालन किया था।[१०५]

बौद्ध साहित्य के अनुसार राजपद धारण करने से पूर्ण उसे विनिश्चय स्थान ले जाया जाता था। और वहां उसकी अनेक प्रकार से परीक्षा ली जाती थी, जब वह यह सिद्ध कर देता था कि एक राजा होने के लिये उसमें सब गुण विद्यमान हैं तभी उसे राजा का पद दिया जाता था। राजा को राजपद प्राप्त करने के लिये उसमें निम्न योग्यताओं का होना नितांत आवश्यक है। वह राजा सदगुर्णी हो, उसका वर्णाश्रम धर्म में विश्वास हो, और वह ईश्वर, गाय और ब्राम्हण के प्रति आदर रखे। इसीलिये युवराजों को धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, धर्नुर्वेद आदि की शिक्षा दी जानी चाहिये, और उसके अतिरिक्त उन्हें रथ, हाथी, कलाओं, दस्तकारियों और दैनिक अभ्यासों का प्रयोग भी आना चाहिये। युवराज के लिये चारों परम्परागत शास्त्रों - त्रयी आन्वीक्षकी दण्डनीति और वार्ता का अध्ययन अत्यन्त अनिवार्य है।

वेदों में भी अनेक स्थानों पर राजा की योग्यता का विवरण मिलता है। ऋग्वेद के अनुसार - इन्द्र ने चारों ओर के शत्रुओं को मारा, तभी वह यज्ञ कर सका, इस प्रकार राजा भी इतना योग्य होना चाहिये जो कि अपने चारों ओर के शत्रुओं को नष्ट कर सके, तभी वह पृथिवी के ऊँचे स्थान पर बैठ सकता है। अर्थात अपनी तथा अपने राष्ट्र की उन्नति कर सकता है।[१०६] इसी प्रकार जिस तरह यह अग्नि ज्ञानी, प्रकाशक है, उसी तरह राजा भी ज्ञानी, दूरदर्शी, उत्तम प्रभाव का सूचक, अपने किलों और नगरों का संरक्षक, तेजस्वी और प्रजा को सुख देने के लिये ही राज्य करने वाला हो। ऐसे वीर राजा के पराक्रमों का उत्तम वर्णन किया

---

१०३. कौटिल्य का अर्थशास्त्र, ६/१

१०४. कौटिल्य का अर्थशास्त्र, १/१६

१०५. मजूमदार, रमेश चन्द्र, वाकाटक, गुप्तयुग, पुष्ठ २८६

१०६. ऋग्वेद, ३.५३.११ -

जाये।[१०७] जो राजा योग्य नहीं होते, जो शुभकर्म नहीं करते, जो केवल वृथा-भाषण ही करते रहते है, हिंसा को बढ़ाने वाला भाषण देते है, जो सूद का व्यवहार करते है, जो अत्यधिक सूद लेते है जो ईश्वर पर श्रद्धा नहीं रखते, जो हीन अवस्था को प्राप्त होने के व्यवहार करते हैं, जो यज्ञ नहीं करते जो डाका डालते रहते है उनको राजा उच्च स्थानों पर न रखे। यदि ऐसे आदमी उच्च पदों पर हों भी तो उन्हें हटा देवें और उन स्थानों पर जो सदा प्रशस्ततम कर्म करते है ,जो मित्र,पश्य और हितकारी भाषण करते है जो सूद आदि का व्यवहार नहीं करते जो श्रद्धालू हैं ऐसे उन्नतिशील व्यक्तियों को ही राजा उच्च पदों पर राजा स्थापित करे।[१०८]

अथर्ववेद में भी राजा अपने योग्यता के लिये प्रार्थना करता है और कहता है सबका धारण कर्ता, दाता सविता और इन्द्र तथा त्वष्टा मेरा वचन सुने और माने तथा मैं श्सूर पुत्रों की माता देवी अदिति को भी कहता हूँ कि इन सबकी ऐसी सहायता मुझे प्राप्त हो कि जिससे मैं स्वजातियों में विशेष प्रमुख स्थान पर विराजमान होने की योग्यता प्राप्त कर सकूं। अथर्ववेद में ही एक स्थान पर लिखा है कि राजा कौन होता है ? जो वीर विशेष प्रभावशाली होता है और जो जनता को दुग्ध आदि उपभोग के पदार्थ विपुल देता है तथा बेकारी कम करता है वही राजा होता है। इस राजा का सहायक यह मृत्यु ही होता है , मृत्युदेव सब जगत को दण्ड देने वाला होता है , मानो इस मृत्यु का अंश ही राजा के पास आकर निवास करता है। इसी की सहायता से राजा अपराधियों को दण्ड देता है। इस प्रकार का प्रभावशाली राजा प्रजा का शासन करा।[१०९] यह राजा शत्रुनाशक और मित्रवर्धक तथा शूर बनकर अपना राज्य चलावे और बढ़ावे।[११०] राज्य शासन चलाने वाले अनेक ओहदेदार ये राजा के ही रूप हैं, इस प्रकार से मानो, राजा अनेक रूप वाला होकर राज्य करता है और अपने तेज से तेजस्वी बनकर राज्य चलाता है। यही राजा की महिमा है। यह राजा बाघ और सिंह जैसा पराक्रमी बनकर शत्रुओं का दमन करे और सब प्रकार की उन्नति सिद्ध करके यश का भागी बने। एक स्थान पर कहा गया है कि राजा बनने के लिये आवश्यक है कि वह राजा तेजस्वी और ऐश्वर्य ये युक्त होना चाहिये।[१११] एक आदर्श राज्य शासन के लिये आवश्यक है कि क्षत्रिय राजा भी ब्रम्हचारी होने चाहिये। यहां ब्रम्हचारी होने का तात्पर्य केवल बाल्य अवस्था में ब्रम्हचर्य पालन करने से नहीं है , अपितु आगे गृहस्थ होने के पश्चात् भी ब्रम्हचर्य के नियमों का पालन भी उसे करना चाहिये। अगर राजा ब्रम्हचारी नहीं होगा तो वहां का प्रबंध धर्मानुसार नहीं हो सकता। राजा का यह कर्तव्य है कि

---

१०७. ऋग्वेद, ७.६.२
१०८. ऋग्वेद, ७.६.३
१०९. अथर्ववेद, ४.८.१
११०. अथर्ववेद, ४.८.२
१११. अथर्ववेद, ४.८.३

वह अन्य उच्च पदों पर अधिकारियों की योग्यता निर्धारित करते समय यह अवश्य देखे कि वे ब्रम्हचारी और धार्मिक हैं या नहीं। जिस राज्य में ज्ञान प्रचारक विद्याधिकारी और संरक्षण का कार्य करने वाले क्षत्राधिकारी उत्तम ब्रम्हचारी होगें राजव्यवस्था ही वेद की दृष्टि से आदर्श व्यवस्था है।[११२]

राजमहल-

प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारकों ने राजमहल के विषय में अपने विचार व्यक्त किये हैं। वाल्मीकि ने रामायण में राजमहल को प्रासाद कहा है। दशरथ का महल कई मंजिला था, उसे विमान भी कहा जाता था। महल राजधानी अथवा दुर्ग के मध्य स्थित था महल से नगर को जाने वाले मार्ग राजमार्ग कहलाते थे, जिनके दोनों ओर कुलीनों के निवास दुकानें तथा बाजार थे। महल में एक के बाहर दूसरा, तीसरा कई चौक थे, जिनमें प्रवेश के लिये द्वार लगे थे। अयोध्या के महल में अन्त:पुर के बाहर पांच चौक थे, बाहर के तीन चौक में सवारी जा सकती थी भीतर के दो चौक में पैदल जाना पड़ता था। अन्त:पुर अर्थात निवासगृह में तीन कक्ष रहे होंगे, क्योंकि ऐसा वर्णन है कि सुमंत सात कक्ष पार करके अन्दर पहुँचा। बाहर के चौकों को घेरे हुये मकानों में सैनिक, आगार, अस्तबल, अधिकारियों के निवास, सेवकों के निवास आदि स्थित थे। सुग्रीव के महल में भी रनिवास में पहुंचने से पूर्व लक्ष्मण को सात चौक पार करने पड़े थे। राजप्रसाद बाह्य मध्य और अंत कक्षों में विभाजित था। अंत:पुर में स्थित स्त्रियों के कक्ष में ही देवी पूजा और धार्मिक समारोह होते थे प्रासाद का द्वारपाल प्रतिहार कहलाता था। राजपुत्रों के राजप्रासाद पृथक होते थे। रावण के प्रासाद वर्णन में आया है कि वह अति सुन्दर था उसमें बेलों द्वारा बनाये गये सायेदार स्थान, चित्र दीर्घाएँ, क्रीड़ास्थान, कृत्रिम पहाड़ी, टीले, प्रणयस्थल आदि थे। प्रासादों में कहानी कहने वाले, गायक, नर्तक आदि मनोरंजन करने वाले व्यक्ति रहते थे। राजा दोपहर से पूर्व सार्वजनिक कार्य करता था और दिन का शेष भाग अंत:पुर में व्यतीत करता था। रामायण में वर्णित है कि राजा को मृगया का बड़ा शौक था राम एवं दशरथ दोनों ही मृगया के शौकीन थे।

कौटिल्य ने भी राजभवन के विषय में अपने विचार व्यक्त किये हैं।

"वास्तुकप्रशस्ते देशे सप्राकारपरिखाद्वारमनेककक्ष्यापरिगतमन्त:पुरं कारयेत।"[११३]

अर्थात वास्तुविद्या के विशेषज्ञ (इंजीनियर) जिस स्थान को उपयुक्त बतायें, उसी स्थान पर ऐसे अन्त:पुर का निर्माण करना चाहिये, जिसके चारों ओर परकोटा एवं खाई और जिसमें अनेक ड्यौढ़ियाँ हो।

"कोशगृह विधानेन वा मध्ये वासगृंह, गूढभित्तिाज्जरं मोहन-गृहं ततन्मध्ये वा

११२. अथर्ववेद, ११.५.७

११३. गैरोला वाचस्पति, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, प्रकरण १५, अध्याय १९, वार्ता १, अधिकरण १, पृष्ठ ६५

वासगृहं, भूमिगृहं, भूमिगृहं वाऽऽसन्नकाष्ठचैत्यदेवताविधानद्वारअनेक सुरूङ्गसच्चांर प्रासाद वा गूढभितिसोपानं, सुविरस्तम्भप्रवेशाय सारं वा, वासगृहं याजवहत-लावयात कारपेड आपत्प्रतीकारार्थम्। आयदि वा कारमेत्। अतोऽन्यया वा विकल्पेत्, सहाध्यामिभपात्।'' ११४

कोष्ठागार- निर्माण के विधानुसार अन्त:पुर के बीच में राजा अपना महल बनवावे, या ऐसा मकान बनवाये, जिसकी दीवालों तथा गलियों (रास्तों) का पता न लगे, ऐसे मकान को मोहनगृह (भूलभुलैया) कहते हैं, उसके बीचे में राजा अपने रहने का मकान बनवाये, या भूमि को खुदवाकर उसमें घर बनवाये, उस भूमिगृह के दरवाजे पर समीप ही किसी देवता की मूर्ति स्थापित करवाये, उसमें आने जाने के लिए गुप्त सुरंगे हो, या तो फिर ऐसा महल बनवाये जिसकी दीवारों के भीतर गुप्त मार्ग हों , अथवा पोले खंभों के भीतर आने-जाने तथा चढ़ने उतरने का रास्ता हो, अथवा आपत्तिकाल के निवारण के लिये यंत्रों के आधार पर ऐसा वासगृह बनवाये जिसको इच्छानुसार नीचे-उपर तथा इधर-उधर हटाया जा सके, अथवा आपत्तिकाल के उपस्थित हो जाने पर ऐसे भवन का निर्माण करवाये। यदि राजा को इस बात की आशंका हो कि उसके समान ही उसका शत्रु राजा भी नीति निपुण वास्तुकलाविद् है और वह गुप्तभवन निर्माणसम्बन्धी सभी रहस्यों को जानता है तो वह अपनी बुद्धि के अनुसार उसमें परिवर्तन कर दे।

मानुषेणाग्निना त्रिरपसत्यं परिगतमन्त: फ्रमग्निरन्यो न दहति ; न चात्रान्योऽग्निर्ज्वलति, वैद्युतेन भस्मना मृत्संयुक्तेन कनकवरि गाणा वलिप्तं च।''११५

मनुष्य की हड्डी में बांस के रगड़ने से उत्पन्न अग्नि का स्पर्श, आदि अर्थववेद के मंत्रोच्चारण के साथ-साथ बांई ओर से तीन परिक्रमा करते हुये, कराया जाये तो उस अंत:पुर को आग नहीं जला सकती, और न दूसरी अग्नि ही वहाँ जल सकती है। बिजली के गिरने से जले हुये पेड़ की राख लेकर उसमें उतनी ही मिट्टी मिला दी जाये और दोनों को धतूरे के पानी के साथ गूँथकर दीवारों पर लेपन किया जाये तब भी वहां दूसरी अग्नि असर नहीं कर सकती है।

जीवन्तीश्वेतामुष्ककपुष्पवन्दाकाभिरक्षीवे जातस्याश्वत्थस्य प्रतानेन वा गुप्तं सर्वा विर्षाण वा न प्रसहन्ते। मार्जारमयूरनकुलपृषतोत्सर्ग: सर्पान्मक्षयति। शुक्र: शारिका भृङ्गराजो वा सर्पविषशङ्कायां क्रोशति। कौञ्चो विषाम्याशे माद्यति: ग्लायति जीवञ्जीवक: ; म्रियते मत्तकोकिल: चकोरस्याक्षणि विरज्येते। इत्येवम् अग्निविषसर्पेभ्य: प्रतिकुर्वीत।'' ११६

गिलोय, शंखपुष्पी, कालीपाढरी और करौंदे के पेड़ पर लगे हुये बंदे की माला आदि के रख

११४. गैरोला वाचस्पति, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, प्रकरण १५, अध्याय १९, वार्ता २, अधिकरण १,

११५. गैरोला वाचस्पति, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, प्रकरण १५, अध्याय १९, वार्ता३, अधिकरण १

११६. गैरोला वाचस्पति, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, प्रकरण १५, अध्याय १९, वार्ता २, अधिकरण १ पृष्ठ ६५

देने, अथवा सहिजन (सैजन) के पेड़ के ऊपर पैदा हुये पीपल के पत्तों के बंदनवार बांध देने से अंत:पुर में सर्प, बिच्छु आदि विषैले जन्तुओं तथा दूसरे विषों का कोई प्रभाव नहीं होता है। बिल्ली, मोर, नेवला और मृग आदि भी सांपों को खा जाते हैं। अन्न आदि में सर्प विष की आशंका होने पर तोता, मैना और बड़ा भौरा चिल्लाने लगते हैं। विष के समीप होने पर क्रौंच पक्षी विहल्ल हो जाता है। जींवजीव (चकोर के समान एक पक्षी) नामक पक्षी जहर को देखकर मुरझा जाता है। कोयल विष को देखकर मर जाती है विष को देखकर चकोर की आंखे लाल हो जाती है। इन सब उपायों के द्वारा राजा अपने आप को तथा अंत:पुर को अग्नि, सर्प और विष के भय से बचा कर रखें।

> पृष्ठत: कक्ष्याविभागे स्त्रीनिवेशो गर्भव्याधिवैद्यप्रत्याख्यात संस्था वृक्षोदकस्थानं च। बहि: कन्याकुमारपुरम् पुरस्तादलङ्कारभूमिर्मन्त्रभूमिरूपस्थानं कुमाराहयक्षस्थां च। कक्षयान्तरेष्वन्तर्वंशिकसैन्यं तिष्ठेत्। [११७]

राजमहल के पीछे कक्षभाग में रनिवास, उसके समीप ही प्रसूता बीमार तथा असाध्य रोगिणी स्त्रियों के लिये अलग-अलग तीन आवास बनवाये जायें और उन्हीं के साथ छोटे-छोटे उद्यान तथा सरोवरों का निर्माण किया जाये। बाहर की ओर राजकुमारियों और युवक राजकुमारों के लिये स्थान बनवाऐ जायें। राजमहल के आगे हरी-हरी घास और फूलों से सजे उपवन होने चाहिये। उसके बाद मंत्रसभा का स्थान, फिर दरबार और तदनन्तर युवक राजकुमार, समाहर्त्ता, सन्निधाता आदि अध्यक्षों के प्रधान कार्यालय होने चाहिये। कक्ष्याओं के बीच-बीच में कंचुकी तथा अंत:पुर रक्षकों की उपस्थिति रहे।

> स्वभूयौ च वसेत् सर्व: परभूमौ न सञ्चरेत्।
> न च बाह्येन संसर्ग कश्चिदाभ्यन्तरो कद्यिदाम्यन्तये व्रजेत्।। [११८]

अंत:पुर में सभी परिचारक-परिचारिकायें अपने-अपने स्थानों पर ही रहें, एक दूसरे के स्थान पर न जाने पावें। इसी प्रकार भीतर का कोई आदमी बाहर के आदमियों से न मिलने पावे। इससे हमें यह ज्ञात है कि राजमहल के अंदर परिचारक-परिचारिकाओं के रहने के भी कक्ष रहे होंगे।

बौद्ध काल में राजा बड़े वैभव और शान शौकत के साथ निवास करते थे। जातक ग्रंथों में अनेक स्थानों पर राजमहल उनके जुलूसों, सवारियों तथा राजप्रसादों का वर्णन किया गया है राजा लोग तमाशों, खेलों, संगीत आदि का बहुत शौक रखते थे, शिकार उनके आमोद-प्रमोद का महत्वपूर्ण साधन होता थाा राजाओं के अंत:पुर भी बहुत बड़े होते थे अंत:पुर में स्त्रियों को रखना बड़े शान की बात समझी जाती थी।

---

११७. गैरोला वाचस्पति, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, प्रकरण १५, अध्याय १९, वार्ता २, अधिकरण १ पृष्ठ ६६

११८. गैरोला वाचस्पति, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, प्रकरण १५, अध्याय १९, वार्ता१, अधिकरण १ पृष्ठ ६८

इस प्रकार ज्ञात होता है कि बौद्ध काल में भी राजमहल के अंदर स्त्रियों के निवास के पृथक-पृथक कक्ष होते थे। ११९

वेदों में भी अनेक स्थानों पर राजमहल के विषय में उल्लेख आया है। इन्द्र शत्रु को विनम्र करने के सामर्थ्य से यश से, प्रताप से, ऐश्वर्य से, वीर्य से सब मानवों में श्रेष्ठ होता है और बड़े राजमहल में रहने श्रेष्ठ योग्य होता है। इस प्रकार वैदिक काल में देवराज इन्द्र का राजमहल बहुत विशाल रहा होगा।

'स मज्मना जनिम मनुषाणा ममर्त्येन नाम्नाति व सर्क्षे।

स ध्रुम्नेन स शवसोत राया स वीर्यण नृतम: समोका:।।' १२०

राजमहल में रहते हुये राजा की दिनचर्या क्या होनी चाहिये उस संबंध में कौटिल्य ने बहुत ही महत्वपूर्ण विचार व्यक्त किये हैं। उसने राजा के चरित्र की उच्चता पर विशेष बल दिया है।

''राजानुमुत्तिष्ठमानमनूत्तिष्ठन्ते भृत्या:। प्रमाद्यन्तमनुप्रभाद्यन्ति। कर्माणि चास्य भक्षयन्ति।

द्विषद्भिश्चतिसन्धीयते। तस्मादुत्थानमात्मन: कुर्वीता। नाडिकामिरहरष्टधा

रात्रिं च विभजेत्, छायाप्रमाणेन वा। त्रिपौरूरूषी पौरूषी चतुरङ्गुला च च्छाया

मध्याह्म इति चत्वार: पूर्वे दिवसस्याष्टभागा:। तै पश्चिमा व्याख्याता:।''१२१

राजा के उन्नतिशील होने पर ही उसका सारा भृत्यवर्ग उन्नतिशील होता है। इसके विपरीत राजा के प्रमादी होने पर सारा भृत्यवर्ग प्रमादी हो जाता है । उस दशा में वह प्रमादित भृत्यवर्ग राज्य कार्यों को चुपचाप पी जाता है। ऐसा राजा शत्रुओं के धोखे में आ जाता है। इसीलिये राजा को उचित है कि वह अपने आप को सदा ही उन्नतिशील बनाये रखे। राजकार्य को व्यवस्थित ढंग से संचालित करने के लिये वह दिन और रात को आठ-आठ घड़ियों में बांट दे। अथवा पुरूष की छाया से भी वह समय का विभाजन कर सकता है। सूर्योदय से लेकर जब तक पुरूष की छाया तिगुनी लंबी रहे, वह दिन का पहिला आठवाँ हिस्सा है। इस छाया को 'तिपौरूषी' छाया कहते हैं। इसी प्रकार वह छाया जब एक पुरूष के बराबर लंबी रह जाये, तो वह दिन का दूसरा भाग है। उसको 'एकपौरूषी' छाया कहते हैं। इसके पश्चात वही 'एकपौरूषी' छाया घटकर जब चार अंगुल मात्र रह जाये तो वह दिन का तीसरा भाग है। उसको 'चतुरंगुली' छाया कहते हैं। उसके बाद का समय मध्यान्ह कहलाता है। दिन का चौथा भाग है। मध्यान्ह के उपरांत इसी क्रम से त्रिपौरूषी, पौरूषी चतुरंगुला और दिनांत, ये चार भाग है। इस प्रकार दिन को चाणक्य ने आठ भागों में विभाजित किया है

तत्र पूर्वे दिवसस्याष्टभागे रक्षाविधानमापत्ययौ च श्रुणुयात्। द्वितीये

---

१२०. ऋग्वेद, ६.१८.७

१२१. गैरोला वाचस्पति, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, प्रकरण १४, अध्याय १८, वार्ता १, अधिकरण १, पृष्ठ ६१

पौरजानपदानां कार्याणि पश्येत्। तृतीये स्नानभोजनं सेवेत ; स्वाध्यायं च कुर्वीत।चतुर्थे हिरण्य प्रतिगृहमध्यक्षांश्चं कुर्वीत। पञ्चमें मंत्रिपरिषदा पत्रसम्प्रेषणेन मन्त्रयेत, चारगुह्यणोधनीयानि च बुद्धयेत। षष्ठे स्वैरैविहारं मन्त्र वा सेवेते। सप्तये हस्त्यश्वरथायुधीयान् पश्पेत्। अस्टमें सेनापतिसखो विक्रमं चिन्तपेत। प्रतिष्ठितेऽहनि सन्ध्यामुपासीत्। [१२२]

पूर्वाद्ध के प्रथम भाग में राजा रक्षा संबंधी कार्यों का निरीक्षण करे और बीते हुये दिन के आय व्यय की जांच करे । तथा जनपदवासियों के कार्यों का निरीक्षण करे। दूसरे भाग में वह पुरवासियों तथा जनपदवासियों के कार्यों का निरीक्षण करे। तीसरे भाग में स्नान, भोजन तथा स्वाध्याय करे और चौथे भाग में बीते दिन की अवशिष्ट आमदनी को संभाले तथा उसी भाग में विभिन्न कार्यों पर अध्यक्ष आदि की नियुक्ति भी करे । उत्तरार्ध के पांचवे भाग में वह मंत्री परिषद के परामर्श से पत्र भेजे तथा आवश्यक आवश्यक कार्यों के संबंध में विचार विनिमय करे। इसी समय वह गुप्तचरों के कार्यों एवं गुप्त बातों के संबंध में विचार करे और सुने। छठे भाग में वह स्वतंत्र लेकर स्वेच्छया विहार तथा विचार करे। सातवें भाग में वह हाथी, घोड़े, रथ तथा अस्त्र-शस्त्रों का निरीक्षण करे। अंतिम आठवे भाग में वह सेनापति के साथ युद्ध आदि के संबंध में विचार विमर्श करे। दिनांत के बाद वह संध्योपासना करे।

प्रथमे रात्रिभागे गूढपुरूषान्पश्येत। द्वितीये स्नानभोजनं कुर्वीत स्वाध्यायं च। तृतीये तूर्यघोषेण संविष्ट श्चतुर्थपञ्चमौ शयीत। षष्ठे तूर्यघोषेण पृतिबुद्धः शास्त्रमितिकर्तव्यतां च चिन्तयेत। सप्तमे मन्त्रमध्यासीत, गूढपुरूषांश्च प्रेषयेत्। अष्टमें ऋत्विगाचार्य पुरोहितसखः स्वसत्ययनानि पृतिगृहयात्, चिकित्सकमाहानसिकमौहूर्तिकांश्च पश्येत्। सवत्सां धेनुं वृषभं च पृदक्षिणीकृत्योपस्थानं गच्छेत्। [१२३]

इसी प्रकार रात्रि के पहिले भाग में वह गुप्तचरों को देखे। दूसरे भाग स्नान, भोजन, स्वाध्याय, तीसरे भाग में संगीत सुनता हुआ शयन करे और चौथे पांचवे भाग तक सोता रहे। रात्रि के छठे भाग में संगीत के द्वारा जागा हुआ वह अर्थशास्त्र संबंधी तथा दिन में संपादित किये जाने योग्य कार्यों पर विचार करे। सातवें भाग में गुप्त मंत्रणा करे और गुप्तचरों को यथास्थान भेजे। रात्रि के अंतिम आठवें भाग में ऋटत्विक आचार्य तथा पुरोहित के साथ स्वास्तिवाचन सहित आर्शीवाद ग्रहण करे। इसी समय वह वैद्य, प्रधान रसोईया और ज्योतिषी आदि से भी तत्संबंधी बातों पर परामर्श करे। इन सब कार्यों से निवृत हो वह

---

१२२. गैरोला वाचस्पति, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, प्रकरण १४, अध्याय १८, वार्ता २, अधिकरण १, पृष्ठ ६१

१२३. गैरोला वाचस्पति, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, प्रकरण १४, अध्याय १८, वार्ता ३, अधिकरण १, पृष्ठ ६१

बछड़े वाली गाय और बैल की प्रदक्षिणा करके राज दरबार में प्रवेश करे।

इस प्रकार इतनी विस्तृत दिनचर्या बनाने से हमें यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि राजा को प्रमादी होने से बचाने के लिये कौटिल्य ने राजा को एकदम नियंत्रित कर रखा है इतनी गंभीरता से कौटिल्यने राजा की दिनचर्या के संबंध में विचार दिया है इसके पूर्व किसी ने इतनी गंभीरता से विचार नहीं किया। वैसे कौटिल्य ने राजा को अपनी समर्थतानुसार दिनचर्या बनाने का अधिकार दिया है किंतु सर्वत्र यही ध्यान रखने को कहा गया है कि वह प्रमादी न हो।

रक्षा :-

राजतंत्रात्मक शासन व्यवस्था में राज्य का सर्वोच्च राजा होता है वही राज्यका प्राण माना जाता है। अत: राजा की रक्षा करना परम आवश्यक हो जाता है। राजा की रक्षा से राज्य की रक्षा होती है, जिससे सुख एवं शान्ति की उपलब्धि होती है। आचार्य कौटिल्य कठोर नृपतंत्रात्मक के समर्थक थे, जिसमें राजा को ही सर्वोपरि माना गया। अत: उन्होंने भी राजा की रक्षा को विशेष महत्ता प्रदान की। उन्होंने उन सब चीजों का उल्लेख किया गया है। जिससे राजा का जीवन संकट में पड़ सकता है। उन्होंने यह भी बताया है कि विभिन्न दशाओं में राजा की रक्षा किस प्रकार की जानी चाहिये।

शयनादुत्थित: स्त्रीगणैर्धन्विभि: परिगृह्येत; द्वितीयस्यां कक्ष्यायां
कुञ्चुकोष्णीषिभिर्वर्षवराभ्यागारिकै:, तृतीयस्यां कुब्जवामन-किरातै
चतुर्थ्यां मन्त्रिभि: सम्बन्धिमिदौवारिकैश्च प्रासपणिभि: ।[१२४]

प्रात:काल राजा के विस्तर से उठते ही, धनुषबाण लिये स्त्रियां उन्हें घेर लें। शयनकक्ष से उठकर राजा जब दूसरे कक्ष में प्रवेश करे तो वहां कुर्ता, पगड़ी पहिने हुये नपुंसक तथा दूसरे सेवक राजा की देख-रेख के लिये उपस्थित रहें। तीसरे कक्ष में कुबड़े, बौने, एवं निम्न जाति के परिजन राजा की रक्षा करें। चौथे कक्ष में मंत्रियों, संबंधियों और हाथ में भाला लिये द्वारपालों द्वारा राजा की रक्षा होनी चाहिये।

पितृपैतामहं महासम्बधानुबन्धं शिक्षितमनुरक्तं कृतककर्माणं
जनमासन्नं कुर्वीत; नान्यतोदेशीयमकृतार्थमानं स्वदेशीयं
वाप्यपकृत्योपगृहीतम्। अन्तर्वंशिकसैन्यं राजानयन्त: पुरं च रक्षेत्॥[१२५]

वंश परम्परा से अनुगत, उच्चकुलोत्पन्न, शिक्षित, अनुरक्त और प्रत्येक कार्य को भली भांति समझने वाले पुरूषों को राजा अपना अंगरक्षक नियुक्त करे। किंतु धन-सम्मान-रहित विदेशी व्यक्ति को तथा एक बार

१२४ गैरोला वाचस्पति, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, प्रकरण १६, अध्याय२०, वार्ता १, अधिकरण १, पृष्ठ ६९

१२५ गैरोला वाचस्पति, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, प्रकरण १६, अध्याय२०, वार्ता २, अधिकरण १, पृष्ठ ६९

पृथक होकर पुन: नियुक्त स्वदेशीय व्यक्ति को भी राजा अपना अंगरक्षक कदापि नियुक्त न करे। राजमहल की भीतरी सेना, राजा और रनिवास की रक्षा करे।

''गुप्ते देशे माहानसिक: सर्वमास्वादबाहुल्येन कर्म कारयेत्।
तद्राजा तथैव प्रतिभुञ्जीत, पूर्वमग्नये वयोभ्यश्च बलिं कृत्वा।''[१२६]

माहानसिक (पाकशाला का अध्यक्ष या निरीक्षक) को चाहिये कि वह किसी एकांत स्थान में भोज्य पदार्थों का स्वाद ले-ले कर उन्हें सुस्वादु तथा सुरक्षा से तैयार कराये। भोजन के तैयार हो जाने पर राजा सर्वप्रथम अग्नि तथा पक्षियों को बलि प्रदान कर, फिर स्वयं खावे।

अग्नेर्ज्वालाधूमनीलता शब्दस्फोटनं च विषयुक्तस्य, वयसां विपतिश्च। अन्नस्योष्मा मयूरग्रीवाभ: शैत्यमाशु क्लिष्टस्येव वैवर्ण्यं सोदकत्वमक्लिन्नत्वं च। व्यञ्जनानामाशु शुष्कत्वं च क्वाथ: श्यायफेन पटल विच्छिन्नभावो गन्धस्यशरिसवधश्च। द्रवेषु हीनातिरिक्तच्छायादर्शनं केनपटलसीमान्तोर्ध्वराजीदर्शनं च। रसस्य मध्ये नीला राजी, पयसस्त्राम्रा,मद्यतोतयो: काली, दहन:, श्यामा, मधुन: श्वेता च। दव्याणामार्द्राणामाशुप्रम्लानत्वभुत्यम्यभाव: क्वाथनीलश्यामता च। शुष्काणामाशुशा वनंवैवर्ष्य च। कठिनानां मृदुत्वं मृदूनां कठिनत्वं च। तदभ्याशे क्षद्रसत्त्ववधश्च। आस्तरणप्रावरणानां श्याममण्डलवा तन्तुरोमपक्ष्मशातनं च। लोहमणिमयानां पङ्क मलोपदेहता स्नेहरागगौरवप्रभाववर्णस्पर्शवधश्च इति विषयुक्तलिङ्गनि।[१२७]

जिस अन्न में विष मिला हो उसे अग्नि में डालने से अग्नि व लपट, दोंनो नीले रंग के हो जाते हैं तथा उसमें चटचट आवाज आती है। विष मिश्रित अन्न के खाने पर पक्षियों की भी मृत्यु हो जाती है। विषयुक्त अन्न की भाफ मयूर ग्रीवा जैसे रंग की होती है; वह भोजन शीघ्र ही ठंडा हो जाता है; हाथ के स्पर्श या तोड़ने मोड़ने से उसका रंग बदल जाता है। विष मिली दाल जल्दी ही सूख जाती है, फिर से आंच पर रखा जाये तो मट्ठे की तरह वह फट जाती है, उसकी झाग काली तथा वह अलग अलग हो जाती है और उसका स्वाद उसकी सुगंध आदि सब खत्म हो जाते हैं। विषयुक्त रसेदार तरकारी विरंगी विकृत हो जाती है, उसका पानी अलग तैरता रहता है और उसके ऊपर रेखा सी खिच जाती है। यदि घी, तेल आदि रसिक पदार्थों में विष मिला हो तो उनमें नीले रंग की रेखायें तैरने लगती हैं, विषमिश्रित दूध में ताम्रवर्ण की,शराब तथा पानी

१२७ गैरोला वाचस्पति, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, प्रकरण १६, अध्याय२०, वार्ता १, अधिकरण १, पृष्ठ ७०

में काले रंग की, दही में श्याम वर्ण की और शहद में सफेद रंग की रेखायें दिखाई देती हैं। आम, अनार आदि द्रव्यों में विष मिला हो तो वे सिकुड़ जाते हैं, उनमें सड़ांध आने लगती है और पकाने पर उसका रंग काला या भूरा पड़ जाता है। यदि सूखे हुये पदार्थों में विष मिला हो तो वे छूते ही चूरचूर होकर विवर्ण हो जाते हैं। विष मिश्रित ठोस पदार्थ मुलायम और मुलायम पदार्थ ठोस हो जाता है। विषमय वस्तु के समीप रेंगने वाले छोटे छोटे कीड़े मकोड़े मर जाते हैं। ओढ़ने बिछाने के कपड़ों पर यदि विष का प्रयोग किया गया हो तो उनमें स्थान स्थान पर धब्बे पड़ जाते हैं। यदि कपड़ा सूती हुआ तो उसकी सूत और ऊनी हुआ तो उसके रूआं उड़ जाते हैं। सोने, चांदी, स्फटिक, मणि आदि धातुओं पर यदि विष का प्रयोग किया गया हो तो उसकी आभा पंकिल दिखाई देती है, उसकी चमक, भारीपन और पहचान आदि सब खतम हो जाता है। इस प्रकार विष मिश्रित पदार्थों की पहिचान हो सकती है।

विषप्रदस्य तु शुष्कश्यामवक्त्रता वाक्सङ्ग स्वेदो विजृम्भणं चातिमात्रं
वेपथुः प्रस्खलनं वाक्यविप्रेक्षणमावेशः कर्मणि स्वभूतौ चानवस्थानमिति ।[१२८]

विष देने वाले का मुख सूख जाता है, उसकी चेहरे का रंग बदल जाता है, बातचीत करते हुये उसकी वाणी लड़खड़ाने लगती है उसको पसीना, कंपकंपी तथा जमाई आने लगती है, बेचेन होकर वह गिर पड़ता है, संदेहवश वह दूसरों की बातें ध्यानपूर्वक सुनने लगता है, बात बात में वह आवेश करने लगता है; अपने कार्य और अपने स्थान पर उसका मन स्थिर नहीं रह पाता है।

"तस्मादस्य जाङ्गलीविदो भिषजश्चासन्नाः स्युः।"[१२९]

इसीलिये विष-विद्या के जानकार और वैद्य राजा के समीप अवश्य रहें।

"भिषग्भैषज्यागारादास्वादविशुद्ध मौषधं गृहीत्वा पाचकपोषकाभ्यामात्मना
च प्रतिस्वाद्य राज्ञे प्रयच्छेत्। पानं पानीयं चौषधेन व्याख्यातम्।"[१३०]

वैद्य को चाहिये कि औषधालय में स्वयं खाकर परीक्षा की हुई औषधि को वह राजा के सामने लाकर उसमें से कुछ को पकाने पीसने वाले लोगों को और कुछ स्वयं भी खाकर पुनः राजा को दे। इसी प्रकार जल तथा मद्य को भी परीक्षा करने के उपरांत, राजा को देना चाहिये। इस प्रकार विष देने वाले की पहचान कर राजा की रक्षा की जा सकती है।

"कल्पकप्रसाधकाः स्नानशुद्धवस्त्रहस्ताः समुद्रमुपमकरणमन्तर्वंशिकहस्तादादाय परिचरेयुः।"[१३१]

---

१२८ गैरोला वाचस्पति, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, प्रकरण १६, अध्याय२०, वार्ता १, अधिकरण १, पृष्ठ ७१
१२९ गैरोला वाचस्पति, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, प्रकरण १६, अध्याय२०, वार्ता २, अधिकरण १, पृष्ठ ७१
१३० गैरोला वाचस्पति, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, प्रकरण १६, अध्याय२०, वार्ता ३, अधिकरण १, पृष्ठ ७१
१३१ गैरोला वाचस्पति, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, प्रकरण १६, अध्याय२०, वार्ता ४, अधिकरण १, पृष्ठ ७१

दाढ़ी, मूंछ बनाने वाले नाई तथा वस्त्रालंकरण धारण कराने वाले परिचारकों को चाहिये कि वे स्नान करके स्वच्छ वस्त्र धारण किये हाथों को अच्छी तरह धोकर राजमहल के अंदर रहने वाले कंचुकी आदि से मुहर लगे हुये उस्तरा और वस्त्राभूषण को लेकर राजा की परिचर्या करे।

''स्नायकसंवाहकास्तरकरजकमालाकारकर्य दास्य: कुर्यु:, ताभिरधिष्ठिता वा शिल्पिन:। आत्मचक्षुषि निवेश्य वस्त्रमाल्यं दद्यु:, स्नानानुलेपनप्रधर्षचूर्णवासस्नानीयानि स्ववक्षोवाहुषु च। एतेन परस्यादगतकं व्याख्यातम।''[१३२]

राजा को स्नान कराना, उसके अंगों को दबाना, बिस्तर बिछाना, कपड़े धोना और माला बनाना आदि कार्यों को दासी ही करें, अथवा दासियों की देखरेख में उस कार्य के जानकार लोग करें। दासियों को चाहिये कि अपनी आंखों से देखकर ही वे राजा को वस्त्रालंकार पहनावें। स्नान के समय उपयोग में लायी जाने वाली वस्तुओं जैसे उबटन, चंदन, सुगंधित चूर्ण (पाऊडर) तथा पटवास आदि को दासियां पहले अपनी छाती एवं बांह पर लगाकर आजमा ले और उसके बाद राजा पर इसका प्रयोग करें। यही बात दूसरे स्थान से आयी हुई वस्तुओं के संबंध में भी जान लेनी चाहिये।

''कुशीलवा: शस्त्राग्निरसवर्ज नर्मयेयु: । आतोद्यानि चैषामन्त स्तिस्ठेयु:, अश्वरद्विपालङ्काराश्च ।''१३३
इसी प्रकार खेल दिखाने वाले नट नर्तक, हथियार, आग, विष आदि के अतिरिक्त दूसरे खेलों को ही राजा के सामने दर्शित करें । नट नर्तक के उपयोग में आने वाली सामग्री - जैसे वादन, वस्त्र घोड़े, अलंकरण आदि राजमहल से दी जानी चाहिये ।

''मौलपुरूषाधिष्ठितं यानवाहनमारोहेत; नावं चाप्तनाविकाधिष्ठिताम्।
अन्यनौप्रतिबद्धां वातवेगवशां च नोपेयात्। उदकान्ते सैन्यमासीत।
मत्स्यग्राहविशुद्धमवगाहेत । व्यालग्राह परिशुद्धमुद्यानं गच्छेत् ।''[१३४]

विश्वस्त प्रधान पुरूष के साथ होने पर ही राजा पालकी तथा घोड़े आदि यान वाहनों पर चढ़े। विश्वस्त नाविक के रहने पर ही नौका पर चढ़े। दूसरी नाव पर बंधी एवं वायु से चलित नाव पर वह कदापि न बैठे। राजा जब नौका विहार करे तो, सुरक्षा के लिये नदी के दोंनो तटों पर सेना तैनात रहनी चाहिये। मछुआरों द्वारा भलीभांति जांच किये गये घाट पर ही वह स्नान करे। इसी प्रकार सपेरों द्वारा परिशोधित उद्यान में ही

---

१३२ गैरोला वाचस्पति, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, प्रकरण १६, अध्याय२०, वार्ता ५, अधिकरण १, पृष्ठ ७१
१३३ गैरोला वाचस्पति, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, प्रकरण १६, अध्याय२०, वार्ता १, अधिकरण १, पृष्ठ ७२
१३४ गैरोला वाचस्पति, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, प्रकरण १६, अध्याय२०, वार्ता २, अधिकरण १, पृष्ठ ७२

वह भ्रमण करे।

''लुब्धकैः श्वगणिभिरपास्तस्तेनव्यालपराबाधभयं चललक्षपरिचायार्थं मृगारण्यं गच्छेत्।[१३५]

चोर तथा व्याघ्र आदि से रहित कुत्ते रखने वाले शिकारियों के साथ राजा चलते हुये लक्ष्य पर निशाना साधने के उद्देश्य से जंगल में जाये।

आप्तशस्त्रग्राहाधिष्ठितः सिद्धतापसं पश्येत्; मंत्रिपरिषदा सामन्तदूतम्।

सन्नद्धोऽश्वं हस्तिनं रथं वाऽऽरूढः सन्नद्धमनीकं गच्छेत्।'' [१३६]

दार्शनार्थ आये हुये किसी सिद्ध या तपस्वी से मिलते समय राजा अपने विश्वस्त सशस्त्र पुरूष को साथ ले ले। अपने मंत्रिपरिषद के साथ ही वह सामंत राजा के दूत से मिले। घोड़े हाथी या रथ पर सवार युद्ध के लिये प्रस्थान करने वाली सेना का वह युद्धोचित कवच आदि पहन कर सैनिक वेश में निरीक्षण करे।

''निर्याणेऽभियाने च राजमार्गमुभयतः कृतारक्षं

दण्डिभिरवास्तशस्त्रहस्तप्रव्रजितव्यङ्गं गच्छेत्।

न पुरूषसम्बाधमवगाहेत। मात्रासमाजोत्सवप्रवहणानि

च दशवर्गिकाधितिष्ठतानि गच्छेत्॥[१३७]

बाहर जाते या बाहर से आते समय राजा हाथ में दण्ड लिये रक्षकों दोंनो ओर से सुरक्षित मार्ग पर चले। ऐसा प्रबंध हो कि रास्ते भर में कहीं भी राजा को शस्त्ररहित पुरूष, सन्यासी या लूला-लंगड़ा, अपंग व्यक्ति न दिखाई दे। पुरूषों की भीड़ में भी वह कदापि न घुसे। किसी देवालय, सभा, उत्सव तथा पार्टी आदि में वह शामिल होने जाये तो कम से कम दस सिपाही तथा सेनानयक उसके साथ उपस्थित रहें।

''यथा च योगपुरूषै रन्यान्राजाऽधितिष्ठति।

तथाऽयमन्यबाधेभ्यो रक्षेदात्मानमात्मवान्॥''[१३८]

विजय की इच्छा रखने वाला राजा जैसे अपने गुप्तचरों द्वारा दूसरों को कष्ट पहुंचाता है, उसी प्रकार दूसरों के द्वारा दिये गये कष्टों से भी वह अपनी रक्षा करे।

कौटिल्य ने राज्यपुत्रों से राजा की रक्षा को अतिआवश्यक बताया है उनके अनुसार निकटवर्ती संबंधियों तथा शत्रुओं से सुरक्षित राजा ही राज्य की रक्षा कर सकता है। राजा को चाहिये कि वह

---

१३५ गैरोला वाचस्पति, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, प्रकरण १६, अध्याय२०, वार्ता ३, अधिकरण १, पृष्ठ ७२

१३६ गैरोला वाचस्पति, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, प्रकरण १६, अध्याय२०, वार्ता ४, अधिकरण १, पृष्ठ ७२

१३७ गैरोला वाचस्पति, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, प्रकरण १६, अध्याय२०, वार्ता १, अधिकरण १, पृष्ठ ७३

१३८ गैरोला वाचस्पति, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, प्रकरण १६, अध्याय२०, वार्ता २, अधिकरण १, पृष्ठ ७३

सर्वप्रथम अपनी रानियों तथा पुत्रों से अपनी रक्षा का प्रबंध करे।[१३९]

अपने पुत्रों से आत्मरक्षा करने के लिये राजा को चाहिये कि वह जन्म से ही राजपुत्रों पर कड़ी निगरानी रखे, क्योंकि केकड़े की भांति राजपुत्र भी अपने पिता के भक्षक होते हैं।[१४०] इस संबंध में आचार्य भारद्वाज का कहना है कि यदि राजकुमारों में पितृभक्ति की भावना दिखाई न दे तो उसका चुपचाप वध कर डालना ही श्रेयष्कर है।१४१ आचार्य विशालाक्ष इसको पापकर्म कहते हैं, उनका कथन है कि निरपराध बच्चों को इस प्रकार मरवा डालना घोर पाप और अतिक्रूरता है, इस प्रकार तो क्षत्रीय वंश ही सर्वथा नष्ट हो जायेगा। इसलिये यदि राजकुमारों में पितृ भक्ति न दिखाई दे तो उन्हें किसी स्थान में कैद करके रखा जाना उचित है।[१४२] आचार्य पाराशर के अनुयायी इसके भी विरूद्ध हैं। उनका अभिमत है कि ''यह तो सर्पभय के समान है। जैसे घर में घुसा हुआ सांप भयावह होता है, उसी प्रकार पुत्र को कैद में रखना भी भयप्रद है, क्योंकि राजकुमार को यह पता चल जायेगा कि पिता ने अपने वध के भय से उसे कैद में डाल रखा है तो वह पिता के घर में रहता हुआ सरलता से उसके वध की योजना तैयार कर सकता है। इसलिये राज्य की सीमा के दूरस्थ दुर्ग में ही राजकुमार को रखना श्रेयष्कर है।[१४३]

आचार्य पिशुन (नारद) इस युक्ति से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि दूरस्थ दुर्ग में राजपुत्र को रखना उसी प्रकार भयावह है, जैसे आक्रमण करने से पूर्व मेढ़ा कुछ पीछा हट जाता है और पुन: उससे दुगुनी ताकत से झपटता है। राजकुमार को जब अपने कैद होने का कारण विदित हो जायेगा तो वह अपनी योजना को पूरा करने के लिये दुर्गपाल को मित्र बनाकर उसकी सहायता से अपने पिता पर आक्रमण कर सकता है। इसलिये राजकुमार को राज्य की सीमा से बाहर किसी पड़ोसी (मित्र) के राजा के दुर्ग में रखना ही अधिक उपयुक्त है।[१४४]

आचार्य कोणपंत की कुछ दूसरी ही स्थापना है। उनकी स्थापना है कि राजकुमार को परराज्याश्रित करने का परिणाम यह होगा कि जैसे गाय का बछड़ा दूसरे के हाथ में सौंप देने से इच्छानुसार कभी भी गाय को दुह सकता है। वैसे ही राजकुमार का संरक्षक पड़ोसी राजा राजकुमार को अपने वश में करके उचित अनुचित रीति से इच्छानुसार विजिगीषु से धन आदि ले सकता है। अत: राजकुमार को ननिहाल में ही रख

---

१३९ गैरोला वाचस्पति, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, प्रकरण १२, अध्याय१६, वार्ता १, अधिकरण १, पृष्ठ ५३
१४० गैरोला वाचस्पति, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, प्रकरण १२, अध्याय१६, वार्ता ३, अधिकरण १, पृष्ठ ५३
१४१ गैरोला वाचस्पति, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, प्रकरण १२, अध्याय१६, वार्ता ४, अधिकरण १, पृष्ठ ५३
१४२ गैरोला वाचस्पति, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, प्रकरण १२, अध्याय१६, वार्ता ५, अधिकरण १, पृष्ठ ५३
१४३ गैरोला वाचस्पति, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, प्रकरण १२, अध्याय१६, वार्ता ६, अधिकरण १, पृष्ठ ५३
१४४ गैरोला वाचस्पति, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, प्रकरण १२, अध्याय१६, वार्ता १, अधिकरण १, पृष्ठ ५४

देना उचित जान पड़ता है।[१४५]

आचार्य वातव्याधि इस सलाह पर भी आपत्ति प्रकट करते हैं। उनका परामर्श है कि 'राजकुमार' को उसके मात्र कुल में रखना एक ध्वजा के समान है, उसको मातृकुल वाले अपनी आमदनी का वैसा ही साधन बनाकर उपयोग कर सकते हैं, जैसा कि अदिति नाम की भिक्षुणी और कौशिक नाम के सपेरे जीविका निर्वाह के लिये अपने पेशेवर कौतुकों को दिखाते फिरते हैं इसलिये राजकुमार को उसकी इच्छानुसार विषयभोग में लिप्त रहने देना चाहिये क्योंकि विषय-वासनाओं में उलझे हुये राजकुमारों को पिता से द्रोह करने का अवकाश ही नहीं मिलता है।[१४६]

आचार्य कौटिल्य इस सिद्धांत को जीते जी राजपुत्रों की हत्या कर देने के समान अनर्थकारी बताते हैं। उनका कहना है कि राजकुमारों को इस विषय भोग में फंसाना उन्हें जीते जी मृत्यु के मुख में दे देना है। जिस प्रकार घुन लगी लकड़ी शीघ्र नष्ट हो जाती है उसी प्रकार अशिक्षित राजकुमारों का कुल बिना युद्ध आदि के ही विनष्ट हो जाता है। इसलिये राजा को चाहिये कि जब रानी ऋतुमती हो तो (संतति की) ऐश्वर्य, विद्या, बुद्धि के निमित्त ऋत्विक्, इंद्र और बृहस्पति आदि देवताओं के लिये हविदान किया जाये। जब महारानी गर्भवती हो जाये तो कौमार्य भृत्य अंग के ज्ञाता शिशु चिकित्सकों के निर्देशानुसर गर्भ की पुष्टि तथा उसके सुखपूर्वक प्रजनन के लिये यत्न किया जाये। राजकुमार के पैदा हो जाने पर विद्वान पुरोहित विधिपूर्वक उसका संस्कार करे। जब वह समझने योग्य हो जावे तो विभिन्न विषयों के पारंगत विद्वान उसको शिक्षा दें।[१४७]

आचार्य आंभ के मतानुयायियों का कहना है कि संतरियों (गुप्तचरों) में से कोई गुप्तचर राजकुमार को मृगया द्यूत, और मद्य का प्रलोभन दें। यह भी कहें कि पिता पर आक्रमण कर तुम राज्य को ले लो फिर मौज करो इस पर दूसरा गुप्तचर कहे कि ऐसा करना बहुत बुरा है।[१४८] आचार्य कौटिल्य के मतानुसार राजकुमार के भीतर यह कुबुद्धि जगाना बहुत ही अनिष्टदायी है। उनका तर्क व सुझाव है कि 'सरलमति' बालकों में ऐसी कुबुद्धि पैदा करना महारोष कहा जायेगा। जैसे मिट्टी का नया बर्तन घी, तेल आदि जिस भी नये द्रव्य का स्पर्श पाकर उसी को चूस लेता है ठीक वैसे ही अपरिपक्व बुद्धि वाले बालक को जो कुछ भी सिखाया जाता है उसको वह शास्त्र उपदेश की भांति अमिट रूप से बुद्धि में जमा लेता है। इसलिये

---

१४५ गैरोला वाचस्पति, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, प्रकरण १२, अध्याय१६, वार्ता २, अधिकरण १, पृष्ठ ५४

१४६ गैरोला वाचस्पति, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, प्रकरण १२, अध्याय१६, वार्ता ३, अधिकरण १, पृष्ठ ५४

१४७ गैरोला वाचस्पति, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, प्रकरण १२, अध्याय१६, वार्ता ४, अधिकरण १, पृष्ठ ५४-५५

१४८ गैरोला वाचस्पति, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, प्रकरण १२, अध्याय१६, वार्ता १, अधिकरण १, पृष्ठ ५५

सरलमति बालकों को धर्म अर्थ का ही उपदेश देना चाहिये, अधर्म अनर्थ का नहीं।[१४९] गुप्तचर लोग 'हम आपके ही हैं' इस अपनत्व को दर्शित करते हुये राजपुत्र के आदेश का पालन करें। यदि राजकुमार का युवा मन परस्त्री के लिये बेचेन हो उठता है तो उस समय संरक्षकों को चाहिये कि आर्यविश धारण की हुई अपवित्र धृश्य, स्त्रियों को रात्रि के एकांत में राजकुमार के निकट भेजकर उनके मन में ऐसी घृणा तथा खिन्नता पैदा कराये कि परस्त्री की चाह से उसका मन सर्वथा फिर जाये। यदि मद्य पीने की इच्छा करे तो उसमें ऐसा पदार्थ मिलाया जाये कि जिससे उसको अरूचि हो जाये, यदि वह जुआ खेलने की कामना करे तो छली कपटी लोंगो के साथ बैठाकर उसको इतना उदिग्न किया जाये कि आगे से वह जुआ खेलने का नाम ही न ले। यदि वह शिकार खेलना चाहता है तो कपट वेश धारण किये हुये राजपुरूष बेचेन करके उधर से उसके मन को खिन्न कर दें। यदि वह पिता पर आक्रमण करने की इच्छा रखता है तो पहले तो उसको बढ़ावा दिया जाये किन्तु ऐन मौकेपर उससे कहें 'देखो राजा के साथ कभी द्वेष नहीं करना चाहिये'। यदि तुम असफल हो गये तो तुम्हारी मृत्यु अवश्यंभावी है और यदि जीत गये तो पितृघातक होने के कारण तुमको घोर नरक भोगना पड़ेगा, सारी प्रजा तुमको लानत देगी और कोई असंभव नहीं कि एकमत होकर प्रजा तुम्हारा प्राणांत करदे। इसलिये तुम्हें इस भयंकर कर्म से बचना चाहिये।[१५०]

यदि एक ही राजपुत्र हो और वह भी पितृद्रोही निकले तो उसे कैद कर देना चाहिये। यदि पुत्र अधिक हो तो उस द्रोही पुत्र की सीमांत प्रदेश अथवा किसी दूसरे देश में प्रवासित कर देना चाहिये, जहां कि उचित अन्न, वस्त्र प्राप्त न हो और जहां कि प्रजा की उसके प्रति कोई सहानुभूति न हो। इसके विपरीत जो राजपुत्र आत्मगुण संपंन्न हो उसको सेनापति का युवराज के उच्च पद पर नियुक्त किया जाये।[१५१] इस प्रकार आचार्य कौटिल्य ने राजपुत्रों से राजा की रक्षा किस प्रकार की जाये उसके उपाय बताये हैं।

कामन्दकीय नीतिसार में राज्य और राजा की सुरक्षा के विषय में वर्णन आया है - राजा राज्य की रक्षा करे और लोक के अनुग्रह की इच्छा करते हुये अपने शरीर की रक्षा करे। धर्म की रक्षा में तत्पर, धर्म से ही अर्थ को बढ़ाते हुये राजा के लिये उचित है कि जो प्रजा (हित कार्यो) में बाधा डाले उनका या उच्छेद करे या शिक्षित करे। राजा विद्रोहियों को और ऐसे व्यक्तियों को भी जो राज्य के प्रति घात करे उनको नष्ट करे। इस प्रकार प्रजा को वृष्टि के निमित्त दूषित पुरूषों के दोष की घोषणा करके राजा को उन्हें नष्ट कर देना चाहिये तथा विनीत प्रियजनों के उत्कर्ष को बढ़ाते हुये राज्य के कंटकों को नष्ट करना चाहिये।[१५२] प्रजा और

---

१४९ गैरोला वाचस्पति, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, प्रकरण १२, अध्याय१६, वार्ता २, अधिकरण १, पृष्ठ ५५

१५० गैरोला वाचस्पति, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, प्रकरण १२, अध्याय१६, वार्ता ३, अधिकरण १, पृष्ठ ५५-५६

१५१ गैरोला वाचस्पति, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, प्रकरण १२, अध्याय१६, वार्ता १, अधिकरण १, पृष्ठ ५६

१५२ कामन्दकीय नीतिसार, सर्ग ६

अपने कल्याण के निमित्त राजा अपने पुत्रों की रक्षा करे,ऐसा न होने पर वे अर्थों में क्षुब्ध होकर राजा को मार देते हैं। मद में उनमत्त हुये राजपुत्र निरंकुश हाथी के समान अभिमानी होकर राजा को मार देते हैं। मद में उनमत्त हुये राजपुत्र निरंकुश हाथी के समान अभिमानी होकर भ्राता व पिता को मार देते हैं। राजा को चाहिये कि वह अपने भृत्यों द्वारा राजपुत्रों को विनय सिखावे, क्योंकि यदि राजकुमार विनीत न होगा तो वह राजकुल शीघ्र ही नष्ट हो जायेगा। बुरी वृत्ति वाले राजपुत्र का भी त्याग नहीं करना चाहिये। क्योंकि राज्य से निकलने पर वह शत्रु से मिलकर पिता को मार सकता है। ऐसे पुत्रों को व्यसन के आश्रयीभूत पुरूषों द्वारा क्लेश दे।

सवारी, शैय्या, आसन, पान, भोजन, वस्त्र, भूषण आदि वस्तुओं के व्यवहार में राजा सदा सावधान रहे, क्योंकि इनमें विष मिला दिया जाता है। भोजन योग्य अन्न की परीक्षा करने के निमित्त पहले अग्नि को देना चाहिये। और फिर पक्षियों को देकर उनकी चेष्टा (दशा) देखनी चाहिये। मोर की पीठ के पंख जलने से घर में सांप नहीं आते। अत: घर में मोरपंक्ष अवश्य होना चहिये। संपूर्ण औषधि के जल आदि को पहले उनके बनाने व लाने वालों को खिलाकर तब राजा को औषधि खानी व जल पीना चाहिये। अधर्मी, क्रूर, दोष देखकर तिरस्कार किये हुये शत्रुओं के पास से आये हुये इन पुरूषों को दूर से ही त्याग देना उचित है। गहन स्थानों को त्यागकर विशुद्ध बगीचों में सैर के निमित्त जाना चाहिये। जब शिकार में जाना हो तो बड़े शिक्षित और तेज चलने वाले घोड़ो पर चढ़ें; जब भी महल में जावें उस से पूर्व उसका शोधन करा लेवें और शस्त्रधारी पुरूषों को आगे रखकर वहां प्रवेश करें और अतिवर्षा, तेज गर्मी, हवा तथा गहरे अंधकार में बाहर नहीं जाना चाहिये।[१५३]

वेदों में भी अनेक स्थानों पर राजा की रक्षा विषयक वर्णन देखने को मिलते हैं। अथर्ववेद में राजा की समस्त प्रकार से रक्षा के लिये उसको अस्तृतमणि: प्रदान की जाती थी। प्रजा ने तुझे अस्तृतमणि को वीर्य के लिये बांधा था वह तेरे शरीर पर आयु के लिये, तेज के लिये बांधता हूँ। यह अस्तृतमणि तेरी रक्षा करे।[१५४] इसी प्रकार अथर्ववेद के सूक्त (१७,१८,२०) इनमें भी सुरक्षा के विषय में विषद् वर्णन प्राप्त होता है।[१५५] अथर्ववेद के २७वें सूक्त में भी सुरक्षा का वर्णन है।[१५६] यजुर्वेद में यज्ञ करते समय राजा की संपूर्ण देवताओं से रक्षा की याचना करते हुये कहा गया है - इंद्र नाम के विख्यात देवता आठों वसुओं के साथ तेरी पूर्व दिशा की ओर से रक्षा करे। वरूण देवता एकादश रूद्रों के साथ पश्चिम दिशा की ओर से तेरी रक्षा करें।

---

१५३ कामन्दकीय नीतिसार, सर्ग ७

१५४ अथर्ववेद, १९.४६.१ से ६ तक

१५५ अथर्ववेद, १९.१७, १९.१८, १९.२०

१५६ अथर्ववेद, १९.२७.१ से ८ तक

मन के समान वेग वाला पितरों के साथ दक्षिण की ओर से तुम्हारी रक्षा करे। विश्वकर्मा बारह आदित्यों के साथ उत्तर की ओर तुम्हारी रक्षा करे।[१५७] राष्ट्र के संरक्षण में ही राजा की रक्षा निहित है इसलिये द्यूलोक जैसा उच्च स्थान में है वैसे ही तुम ऊंचे स्थान में रहो, ऐसा कोई दुष्ट कृत्य न करो। सेना राष्ट्र का संरक्षण करती है उस अपनी सेना से सुरक्षित होकर तुम राष्ट्र में विराजो। ज्ञान, शौर्य, आयु और प्रजा की वृद्धि करो यह राष्ट्रीय कर्तव्य है। राष्ट्र के लोक विचार करके अपने राष्ट्र में इनकी वृद्धि करने का राजा प्रयत्न कर राष्ट्र को संरक्षण प्रदान करे।[१५८] जो पुरूष प्रजा की रक्षा करता है और दुख देने वालों को दूर करता है ऐसे वीर पुरूष की देवता रक्षा करते हैं और उन्हें प्रगति के मार्ग पर ले जातें हैं।[१५९] एक स्थान पर कहा गया है कि स्वर्ण तुम तेजस्वी हो, बलवान, अमर और आयु की रक्षा करने वाले हो, इस कारण मेरी आयु की रक्षा करो।[१६०]

इस प्रकार वेदों में भी अनेक मंत्रों में राजा की रक्षा विषयक वर्णन है।



१५७. यजुर्वेद १५.११

१५८. यजुर्वेद ५.२७

१५९. यजुर्वेद ७.१७

१६०. यजुर्वेद २२.१

अध्याय ५

युवराज और उत्तराधिकारी

शासन में जितना महत्व राजा का होता है उसी अनुपात में युवराज अथवा उत्तराधिकारी की भी महत्ता होती है क्योंकि योग्य उत्तराधिकारी ही राष्ट्र को सुचारू रूप से संचालित करने में सक्षम होता है। इसी कारण उत्तराधिकारी रूपी पात्र का चयन उसके गुण दोष को दृष्टि में रखते हुए किया जाता है। जिससे कि जनता को योग्य शासन प्राप्त हो सके। इन्हीं बातों को दृष्टि पथ पर रखते हुए इस अध्याय की संरचना की गई है।

युवराज का महत्व-

प्राचीन भारत के ऐतिहासिक साहित्य में युवराज का उल्लेख अठ्ठारह तीर्थो में हुआ है। उसका स्थान मुख्यमंत्री व पुरोहित के बाद आता है। शुक्रनीति में युवराज को राजा की दाहिनी भुजा, ऑख व कान कहा गया है, जबकि मंत्रियों को वाम भुजा, ऑख व कान बताया गया है। चूंकि युवराज राज्य का भावी शासन अथवा आधार स्तम्भ होता था, इसीलिये उसकी शिक्षा एंव प्रशिक्षण पर विशेष बल व ध्यान दिया जाता था। उसकी शिक्षा तीन वर्ष की आयु होने के बाद से सोलह वर्ष तक चलती थी, जबकि वह गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता था। उसके बाद उसे प्रशासन का व्यवहारिक प्रशिक्षण प्रदान करने के उद्देश्य से किसी प्रशासनिक अध्यक्ष के अधीन रखाजाता था। जब उसे किसी उच्च पद के योग्य समझा जाता था तो उसे कोई भी उत्तरदायी पद प्रदान किया जाता था- जैसे- सेनापति,किसी प्रान्त का शासक और उसका अभिषेक भी किया जाता था। साधारणतया युवराज राजा के नियंत्रण में रहता था और उसे उपयोगी सिद्ध होने पर कृमशः राजसिंहासन पर बैठने के लिये तैयार किया जाता था।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में कहा गया है कि जब कोई युवराज अवैध कार्य न करते हुये भी राजा को न भाये तो ऐसे युवराज को अपने पिता की प्रभुसत्ता से निकलकर किसी दूसरे प्रदेश में चले जाना चाहिये। यदि किसी ईमानदार राजपुत्र को यह भय होता था कि उसका पिता उसे बन्दी बना देगा या गुप्त रूप से मरवा देगा तो ऐसा युवराज किसी भले सामन्त से गठबन्धन कर लेता था। किसी प्रभावशाली परिंवार से वैवाहिक सबंध स्थापित कर लेता था, सेना एकत्रित करता था और राजा का पक्ष लेने वालों को अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न करता था। ऐसे राजपुत्र जिनके साथ राजा अन्यायपूर्ण व्यवहार करता था अपना राज्य छोड़कर अपने ममेरे संबधियों से मिलकर राजा के विरूद्ध चालें चलते थे। दूसरी ओर यदि राजपुत्र अनुचित व्यवहार करता था और राजा निष्पक्ष होता था तो प्रथम राजा कूटनीति द्वारा उसे ठीक मार्ग पर लाता था। यदि वह न सुधर पाता तो उसे खतरे से पूर्ण किसी विदेशी अभियान पर भेज दिया जाता था। जिससे वह शासन के लिए चिन्ता व परेशानी का कारण न बना रहे। यदि यह भी संभव न हो तो उसे बंदी बना दिया जाता था, अन्य कोई विकल्प रहने पर उसे मरवा दिया जाता था। विद्रोही राजपुत्रों के विषय में आचार्य भरद्वाज का कहना है कि

यदि राजपुत्रों में पितृभक्ति की भावना न दिखाई दे तो चुपचाप उसका वध कर डालना ही श्रेयस्कर है।

'तेषामजातस्नेहे पितर्युपांशुदण्डे: श्रेयानिति भारद्वाज:'।[1]

किंतु विशालाक्ष ऋषि का मत है कि यह पापकर्म है। उनका कथन है कि निरपराध बच्चों को इस तरह मरवा डालना घोर पाप और अतिक्रूरता है इस प्रकार तो क्षत्रिवंश ही सर्वथा नष्ट हो जायेगा। इसीलिये यदि राजकुमारों में पितृभक्ति न दिखाई दे तो उन्हें किसी स्थान में कैद करके रखा जाना उचित है।

नृशंसमदृष्टवध: क्षत्रविनाशश्चेति विशालाक्ष:। तस्मादेकस्थानावरोध: श्रेयानिति[2]

आचार्य पाराशर उसके विरूद्ध हैं, वे कहते है कि ये तो सर्पभय के समान है, जैसे घर में घुसा हुआ सर्प भहावह होता है,उसी प्रकार पुत्र को भी कैद में रखना भयप्रद है, क्योंकि जब राजकुमार को पता चल जायेगा कि पिता ने उसे अपने वध के भय से कैद में डाल रखा है, तो वह पिता के घर में रहता हुआ सरलता-सेउसकी, योजना तैयार कर सकता है इसीलिये राज्य की सीमा में दूरस्थ दुर्ग में ही राजकुमार को रखना श्रेयस्कर है।

''अहिभयमेतदिति पराशरा:। कुमारो हि विक्रयभयान्यां पिता रूणद्धीति ज्ञात्वा तमेवाङ्क कुयति। तस्मादन्तपालदुर्गे वास: श्रेयानिति''।[3]

परंतु ऐसे राजपुत्र को, जिसे राजा मान देता था और नागरिक आदर की दृष्टि से देखते थे, राज्य का विश्वासपात्र समझा जाता था। उसे युवराज बनाया जाता था और पुरोहित, और सेनापति की भांति गुप्तचर विभाग के निरीक्षण से बाहर रहने का विशेषाधिकार भी प्राप्त होता था। साधारणतया प्रत्येक राजपुत्र को किसी छोटे से प्रदेश का शासक नियुक्त किया जाता था, परंतु उसके शासन के लिये वह राजा के प्रति उत्तरदायी रहता था। उसकी स्थिति आजकल के वाइसराय के समान होती थी। रामायण में उल्लेख है कि भरत,शत्रुध्न,लक्ष्मण व राम के पुत्रों को छोटे-छोटे प्रदेशों का शासक बनाया गया। ऐसे ही अशोक के साम्राज्य में राजपुत्रों को (जिन्हें राजकुमार कहा जाता था) प्रान्तीय राज्यपाल नियुक्त किया गया था। इन कुमारों को अपने-अपने प्रदेशों में (गुप्त शासन की भांति) प्रांतीय राज्यपाल नियुक्त किया गया था। इन कुमारों को अपने-अपने प्रदेशों में (गुप्त शासन की भांति) जिलाधिकारी नियुक्त करने का अधिकार था।

---

१. गैरोला वाचस्पति, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, प्रकरण १२, अध्याय १६, वार्ता ४, अधिकरण १, पृष्ठ ५३।
२. गैरोला वाचस्पति, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, प्रकरण १२, अध्याय १६, वार्ता ५, अधिकरण १, पृष्ठ ५३।
३. गैरोला वाचस्पति, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, प्रकरण १२, अध्याय १६, वार्ता ६, अधिकरण १, पृष्ठ ५३-५४।

इसी प्रकार युवराज की महत्ता को दर्शाते हुए कहागयाहै कि युवराज का शासन महत्वपूर्ण पद होता था। इसके अतिरिक्त कुमारामात्य का नाम भी उल्लेख में आता है। हरिषेण, शिखरस्वामी और पृथ्वीसेन इस पद पर कार्य कर रहे थे। शासन के अर्न्तगत इन कर्मचारियों युवराज एवं कुमारामात्य का अत्यन्त महत्व था। क्योंकि सम्राट को इनमें शासन संचालन के अंदर काफी सहायता मिलती थी।[४]

शुक्रनीति के अनुसार[५] -

स्वकनिष्ठ पितृव्यं वानुजं वाग्रजसम्भवम्।

पुत्रं पुत्रीकृतं दत्तं यौवराज्येऽषिचेयेत्॥

कृमादभावे दौहित्रं स्वप्रियं वा निजोजयेत्।

युवराज को मंत्रिपरिषद के सदस्यों में नहीं गिनाया गया है परन्तु यह निश्चित है कि वह भी एक मंत्री होता था। वह साधारणत: राजवंश का ही राजकुमार होता था और राजा का चाचा, भाई, भतीजा, पुत्र, दत्तकपुत्र अथवा पौत्र हुआ करता था। अन्य मंत्रियों की भांति वह भी राजा का सहायक होता था। युवराज की मुद्रा होती थी और उसकी पदवी का सूचक एक निश्चित पद होता था जिसका व्यवहार वह हस्ताक्षर करते समय करता था।

दिव्यावदान् के अनुसार[६] अशोक के शासन काल में उसका पौत्र सम्प्रति युवराज था और कुणाल तक्षशिला का प्रातीय प्रधान शासक था। वह तक्षशिला उत्तरी प्रांत की राजधानी थी। जब राजवंश का कोई राजकुमार किसी पद पर नियुक्त रहता था,तब वह पदाधिकारी ही समझा जाता था भट्ट भास्कर ने उसे कुमार अध्यस कहा है अर्थात किसी विभाग का प्रधान अधिकारी राजकुमार जिसके हाथ में शासनाधिकार हो। दूसरे शब्दों में सम्मति उद्धृत करते हुए दूसरा अर्थ इस प्रकार देते हैं- रज्जुभिनियता कुमाराध्यक्ष इत्यन्ये वह जो शासन की बागडोर पकड़कर राज्यप्रबंध का संचालन करता हो। अर्थात बाद में उसे प्रधानमंत्री कहा गया है। यदि इस शब्द का रज्जु के साथ कोई संबंध संभव हो तो अशोक के शिलालेखों में 'राजुक' शब्द के साथ भी इसका कुछ संबंध होगा।[७]

अशोक के शिलालेखों में प्रांतीय सरकारों के नाम से जो खरीते आदि हैं वे कुमार और महामात्यों को संबोधित करके लिखे गये हैं। महामात्रों का समूह वर्ग कहलाता था। ऊपर भट्ट भास्कर

---

४. त्यागी एण्ड भाटिया, हिन्दू राज्य शास्त्र, पृष्ठ १६९।

५. शुक्रनीति सार, २.१५।

६. दिव्यावदान, पृष्ठ ४३०।

७. मैसूर संहिता, पृष्ठ ३, तैत्तिरीय संहिता, १४८।

ने कुमार को ही हाथ में बागडोर रखकर (रज्जुभिः) नियंत्रण करने वाला (नियंता) कहा है।

बौद्ध गंथों में -अशोक को एक स्थान पर तक्षशिला का शासक और दूसरे स्थान पर उज्जैन (पश्चिमी प्रांत की राजधानी)का शासक कहा गया है। मौर्य राजवंश के राजकुमार दक्षिण में अपने वर्गों या काऊन्सिलों के साथ शासन करते थे और कलिंग का विजित प्रांत केवल महामात्रों के वर्ग के अधीन था एक बात यहां महत्वपूर्ण ध्यान रखने योग्य है कि केन्द्रस्थ सरकार से भेजे जाने वाले खरीते, जिनकी प्रतिलिपियां शिलालेखों में है, कभी कुमार के नाम से संबंधित नही है जैसा कि अशोक के दो स्थानों के शासक होने से सूचित होता है, राजकुमार भी महामात्रों की भांति,कदाचित एक स्थान से दूसरे स्थान को बदले जाते थे। ऐसी दशा में खरीतों आदि का किसी व्यक्ति विशेष के नाम से न होना बिल्कुल ठीक नहीं है।

बाल्मीकि रामायण में भी युवराज के विषय में विशद वर्णन मिलता है कि वह किसी प्रकार युवराज पद प्राप्त कर राजा और राज्य को सहयोग प्रदान करता है। महाराज दशरथ ने बहुत सोचविचार कर तथा अपने पुत्र श्रीराम को उन नाना प्रकार के विलक्षण, सज्जनोचित, असंख्य तथा लोकोत्तर गुणों से, जो अन्य राजाओं में दुर्लभ है इन गुणों से विभूषित देख मंत्रियों से सलाह करके उन्हें युवराज बनाने का निश्चय कर लिया।[८]

महाराज दशरथ राजसभा में बैठे हुए सब लोगों को संबोधित करते हुए कहते है।[९] सज्जनों ! आप लोगों को यह तो विदित ही है कि मेरे पूर्वज राजाधिराजों ने इस श्रेष्ठ राज्य का (यहां की प्रजा का)किस प्रकार पुत्र की भांति पालन किया था।[१०] समस्त इक्ष्वाकुवंशी नरेशों ने जिसका प्रतिपालन किया है उस सुख भोगने के योग्य सम्पूर्ण जगत को अब मैं भी कल्याण का भागी बनाना चाहता हूँ।[११] मेरे पूर्वज जिस मार्ग पर चलते आये हैं उसी काअनुसरण करते हुए मैंने भी सदा जागरूक रहकर समस्त प्रजाजनों की यथाशक्ति रक्षा की है।[१२] समस्त संसार का हित साधन करते हुये मैंनें इस शरीर को श्वेत राजछत्र की छाया में बूढ़ा किया है।[१३] अनेक सहस्र (साठ हजार) वर्षों की आयु पाकर जीवित रहते हुये अपने इस जराजीर्ण शरीर को अब में विश्राम देना चाहता हूँ।[१४] जगत के धर्मपूर्वक संरक्षण का भारी भार राजाओं के शौर्य आदि प्रभावों से ही उठाना संभव है।

---

८. वाल्मीकि रामायण, अयोध्यकाण्ड, सर्ग १, दो. ४१-४२।

९. वाल्मीकि रामायण, अयोध्यकाण्ड, सर्ग २, दो. १, ४।

१०. वाल्मीकि रामायण, अयोध्यकाण्ड, सर्ग २, दो. ४।

११. वाल्मीकि रामायण, अयोध्यकाण्ड, सर्ग २, दो. ५।

१२. वाल्मीकि रामायण, अयोध्यकाण्ड, सर्ग २, दो. ६।

१३. वाल्मीकि रामायण, अयोध्यकाण्ड, सर्ग २, दो. ७।

१४. वाल्मीकि रामायण, अयोध्यकाण्ड, सर्ग २, दो. ८।

अतिजितेन्द्रिय पुरूषों के लिये इस बोझ को ढोना अत्यंत कठिन है। मैं दीर्घ काल से इस भारी भार को वहन करते- करते थक गया हूँ[१५] इसीलिये यहाँ पास बैठे हुए इन संपूर्ण श्रेष्ट द्विजों की अनुमति लेकर प्रजाजनों के हित के कार्य में अपने पुत्र श्रीराम को नियुक्त करके अब में राजकार्य से विश्राम लेना चाहता हूँ। इससे ज्ञात होता है कि राजपुत्र युवराज पद प्राप्त कर राजा के राजकीय बोझ को हल्का करते थे। तथा सहयोग पहुँचाते थे।[१६] मेरे पुत्र श्रीराम मेरी अपेक्षा सभी गुणों में श्रेष्ट हैं शत्रुओं की नगरी में विजय पाने वाले श्रीराम चंद्र बल पराक्रम में देवराज इन्द्र के समान हैं।[१७] पुष्य नक्षत्र से युक्त चंद्रमा की भांति समस्त कार्यों के साधन में कुशल तथा धर्मात्माओं में श्रेष्ट उन पुरूषसिरोमणि श्रीराम चंद्र को कल प्रात: पुष्य नक्षत्र में युवराज के पद पर नियुक्त करूंगा।[१८] ये श्रीराम कल्याण स्वरूप हैं ; इनका शीघ्र ही अभिषेक करके मैं इस भूमण्डल को तत्काल कल्याण का भागी बनाऊंगा अपने पुत्र श्रीराम पर राज्य का भार रखकर मैं सर्वथा क्लेश रहित निश्चिन्त हो जाऊंगा।[१९] इससे ज्ञात होता है कि युवराज राजकाज में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते थे। यदि मेरा यह प्रस्ताव आप लोगों को अनुकूल लगे और मैंने यह अच्छी बात सोची हो तो आप लोग इसके लिये मुझे अथवा यह बतावें मैं किस प्रकार से कार्य क़रूं।[२०] उस समय युवराज के पद के निर्वाचन के लिये जनता की अनुमति अनिवार्य रही होगी। यद्यपि यह श्रीराम के युवराज्याभिषेक का विचार मेरे लिए अधिक प्रसन्नता का विषय है तथापि इसके अतिरिक्त भी कोई सबके लिये हितकर बात हो तो आप लोग उसे सोचें; क्योंकि मध्यस्थ पुरूषों का विचार एक पक्षीय पुरूष की अपेक्षा विलक्षण होता है, कारण कि वह पूर्व पक्ष और अपरपक्ष को लक्ष्य करके किया गया होने के कारण अधिक अभ्युदय करने वाला होता है।[२१] धर्म और अर्थ के ज्ञाता महाराज दशरथ के अभिप्राय को पूर्ण रूप से जानकर सम्पूर्ण ब्राम्हण और सेनापति नगर और जनपद के प्रधान-प्रधान व्यक्तियों के साथ मिलकर परस्पर सलाह करने के लिये बैठे और मन से सबकुछ समझकर जब वे एक निश्चय पर पहुंच गये, तो बूढ़ें राजा दशरथ से इस प्रकार बोले -[२२] पृथ्वीनाथ ! आपकी अवस्था कई हजार वर्षों की हो गयी , आप बूढ़े हो गये अत: पृथ्वी के पालन में समर्थ अपने पुत्र श्रीराम का अवश्य ही युवराज के पद पर अभिषेक कीजिये।[२३]

---

१५. वाल्मीकि रामायण, अयोध्यकाण्ड, सर्ग २, दो. ९।
१६. वाल्मीकि रामायण, अयोध्यकाण्ड, सर्ग २, दो. १०।
१७. वाल्मीकि रामायण, अयोध्यकाण्ड, सर्ग २, दो. ११।
१८. वाल्मीकि रामायण, अयोध्यकाण्ड, सर्ग २, दो. १२।
१९. वाल्मीकि रामायण, अयोध्यकाण्ड, सर्ग २, दो. १४।
२०. वाल्मीकि रामायण, अयोध्यकाण्ड, सर्ग २, दो. १५।
२१. वाल्मीकि रामायण, अयोध्यकाण्ड, सर्ग २, दो. १६।
२२. वाल्मीकि रामायण, अयोध्यकाण्ड, सर्ग २, दो. १९-२०।
२३. वाल्मीकि रामायण, अयोध्यकाण्ड, सर्ग २, दो. २१।

रघुकुल के वीर महाबलबान महाबाहु श्रीराम महान् गजराज पर बैठकर यात्रा करते हो और उनके ऊपर श्वेत छत्र तना हुआ हो इस रूप में हम उनकी झांकी करना चाहते हैं।[२४] उनकी यह बात राजा दशरथ के मन को प्रिय लगने वाली थी; इसे सुनकर राजा दशरथ अंजान से बनकर उन सबके मनोभाव को जानने की इच्छा से बोले -[२५] राजागण ! मेरी यह बात सुनकर आप लोगों ने श्रीराम को राजा बनाने की इच्छा प्रगट की है इससे मुझे यह संशय हो रहा है जिसे आप के समक्ष उपस्थित करता हूँ।[२६] आप इसे सुनकर यथार्थ उत्तर दें। मैं धर्मपूर्वक इस पृथ्वी का निरंतर पालन कर रहा हूँ फिर मेरे रहते हुये आप लोग महाबलि श्रीराम को युवराज के रूप में क्यों देखना चाहते हैं।[२७] यह सुनकर वे महात्मा नरेश नगर और जनपद के लोगों के साथ राजा दशरथ से बाले - महाराज ! आपके पुत्र श्रीराम में बहुत से कल्याणकारी सद्गुण हैं।[२८] उनके गुणों का वर्णन करते हुये कहा गया है - प्रजानाथ ! सत्यपराक्रमी श्रीराम देवराज इन्द्र के समान दिव्य गुणों से सम्पन्न हैं।इक्ष्वाकुकुल में ये सबसे श्रेष्ट हैं। श्रीराम संसार में सत्यवादी,सत्यपरायण और सत्यपुरूष हैं साक्षात् श्रीराम ने ही अर्थ के साथ धर्म को प्रतिष्ठित किया है।जो प्रजा को सुख देने में चन्द्रमा की, और क्षमारूपी गुण में पृथिवी की समानता करते हैं। बुद्धि में बृहस्पति और बल पराक्रम में साक्षात् शचिपति इन्द्र के समान हैं।[२९] श्रीराम धर्मज्ञ,सत्यप्रिय, शीलवान, अदोशदर्शी, शान्त, दीनदुखियों को सान्तवना प्रदान करने वाले, मृदुभाषी, कृतज्ञं, जितेन्द्रिय, कोमल, स्वभाववाले, स्थिरबुद्धि, सदा-कल्याणकारी, असूयारहित, समस्त प्राणियों के प्रति प्रियवचन बोलने वाले और सत्यवादी हैं। वे बहुश्रुत विद्वानों, बड़ों बूढ़ों तथा ब्रह्यणों के उपासक हैं। सदा ही उनका संग किया करते हैं, इसीलिये इस जगत में श्रीराम की अनुपम कीर्ति,यश और तेज का विस्तार हो रहा है। देवता असुर और मनुष्यों के सम्पूर्ण अस्त्रों का उन्हें विशेष रूप से ज्ञान है। वे साम वेद के यथार्थ विद्वान् और सम्पूर्ण विद्याओं में भलीभांति निष्णान्त है।[३०] भरत के बड़े भाई श्रीराम गंधर्व वेद (संगीतशास्त्र) में भी इस भूतल पर सबसे श्रेष्ट है, उनका स्वभाव साधु पुरूषों के समान हैं, हृदय उदार और बुद्धि विशाल है। धर्म और कार्य के प्रतिपादन में कुशल श्रेष्ठ ब्राह्मणों ने उन्हें उत्तम शिक्षा दी है वे ग्राम अथवा नगर की रक्षा के लिये लक्ष्मण के साथ जब संग्राम भूमि में जाते हैं, उस समय वहां जाकर विजय प्राप्त किये बिना पीछे नही लौटते। संग्राम

---

२४. वाल्मीकि रामायण, अयोध्यकाण्ड, सर्ग २, दो. २२।

२५. वाल्मीकि रामायण, अयोध्यकाण्ड, सर्ग २, दो. २३।

२६. वाल्मीकि रामायण, अयोध्यकाण्ड, सर्ग २, दो. २४।

२७. वाल्मीकि रामायण, अयोध्यकाण्ड, सर्ग २, दो. २५।

२८. वाल्मीकि रामायण, अयोध्यकाण्ड, सर्ग २, दो. २६।

२९. वाल्मीकि रामायण, अयोध्यकाण्ड, सर्ग २, दो. २८ से ३०।

३०. वाल्मीकि रामायण, अयोध्यकाण्ड, सर्ग २, दो. ३१ से ३५।

भूमि में हाथी अथवा रथ के द्वारा पुनः अयोध्या लौटने पर वे पुरवासियों से स्वजनों की भांति प्रतिदिन उनके पुत्रों,अग्निहोत्र की अग्नियों, स्त्रियों, सेवकों और शिष्यों का कुशल समाचार पूछते रहते है। जैसे पिता अपने औरस पुत्रों का कुशल मंगल पूछता है, उसी प्रकार से समस्त पुरवासियों से क्रमशः उनका सारा समाचार पूछा करते है। पुरूषसिंह श्रीराम ब्राह्मणों से सदा पूछते रहते है कि आपके शिष्य आप लोगों की सेवा करते हैं न? क्षत्रियों से यह जिज्ञासा करते हैं कि आपके सेवक कवच आदि से सुसज्जित हो आपकी सेवा में तत्पर रहते हैं न? नगर के मनुष्यों पर संकट आने पर वे बहुत दुखी हो जाते है और उन सबके घरों में सब प्रकार के उत्सव होने पर उन्हें पिता की भांति प्रसन्नता होती है । वे सत्यवादी महान धनुर्धर, वृद्ध पुरूषों के सेवक एवं जितेन्द्रिय है । श्रीराम पहले मुस्कुराकर वार्तालाप आरम्भ करते हैं उन्होंने सम्पूर्ण हृदय से धर्म का आश्रय ले रखा है वे कल्याण का सम्यक आयोजन करने वाले है ,निंदनीय बातों की चर्चा में उनकी कभी रूचि नहीं होती है । उत्तरोत्तर उत्तम युक्ति देते हुये वार्तालाप करने में वे साक्षात् वृहस्पति के समान है । आंखे विशाल और कुछ लालिमा लिये साक्षात् विष्णु की भांति शोभा पाते है ।[३२] सम्पूर्ण लोगों को आनंदित करने वाले श्रीराम शूरता वीरता और पराक्रम आदि के द्वारा सदा प्रजा का पालन करने में लगे रहते है उनकी इन्द्रियां राग आदि दोषों से दूषित नहीं होती ।इस पृथिवी की तो बात ही क्या है उनका कृोध और प्रमाद कभी व्यर्थ नहीं होता। जो शास्त्र के अनुसार प्राणदण्ड पाने के अधिकारी है, उनका ये नियम पूर्वक वध कर डालते हैं तथा शास्त्र दृष्टि से अवध्य हैं उन पर ये कदापि कुपित नहीं होते जिस पर ये संतुष्ट होते हैं, उसे हर्ष मे धन से परिपूर्ण कर देते हैं । समस्त प्रजाओं के लिये कमनीय तथा मनुष्यों काआनन्द बढ़ानें वाले मन और इंद्रियों के संयम आदि सदगुणों द्वाराश्रीराम वैसे ही शोभा पाते हैं ,जैसे तेजस्वी सूर्य अपनी किरणों से सुशोभित होते है।[३३] ऐसे सर्वगुण सम्पन्न, लोकपालों के समान प्र्रभावशाली एवं सत्यपराक्रमी श्रीराम को इस पृथिवी की जनताअपना स्वामी बनाना चाहती है । हमारे सौभाग्य से आपके वे पुत्र श्रीरघुनाथजी प्रजा काल्याण करने में समर्थ हो गये हैं तथा आपके सौभाग्य से वे मरीचिनन्दन कश्यप की भांति पुत्रोचित गुण से सम्पन्न हैं। देवताओं, असुरों, मनुष्यों, गंधर्वो और नागों में से प्रत्येक वर्ग के लोग तथा इस राज्य और राजधानी में भी बाहर भीतर आने जाने वाले नगर और जनपद के सभी लोग सुविख्यात शील स्वभाववाले श्री रामचन्द्र जी के लिये सदा ही बल, आरोग्य और आयु की शुभ कामना करते है ।[३४] इस नगर की बूढ़ी और युवती सब तरह की स्त्रियां सवेरे और सांयकाल में एकाग्रचित होकर परम उदार श्रीरामचंद्र जी

---

३१. वाल्मीकि रामायण, अयोध्यकाण्ड, सर्ग २, दो. ३५ से ३८ ।

३२. वाल्मीकि रामायण, अयोध्यकाण्ड, सर्ग २, दो. ४० से ४३ ।

३३. वाल्मीकि रामायण, अयोध्यकाण्ड, सर्ग २, दो. ३५ से ३८ ।

३४. वाल्मीकि रामायण, अयोध्यकाण्ड, सर्ग २, दो. ४८ से ५१ ।

के युवराज होने के लिये देवताओं से नमस्कारपूर्वक प्रार्थना किया करती है। देव ! उनकी वह प्रार्थना आपके कृपा-प्रमाद से अब पूर्ण होने चाहिये। नृपश्रेष्ठ ! जो नीलकमल के समान श्यामकान्ति से सुशोभित तथा समस्त शत्रुओं का संहार करने मे समर्थ है, आपके उन ज्येष्ठ पुत्र श्रीराम को हम युवराज पद पर विराजमान देखना चाहते हैं। अत: वरदायक महाराज ! आप देवाधिदेव श्री विष्णु के समान पराक्रमी,सम्पूर्ण लोकों के हित में सलंग्न रहने वाले और महापुरूषों द्वारा सेवित अपने पुत्र श्रीरामचंद्र जी का जितना शीघ्र हो सके प्रसन्नतापूर्वक राज्याभिषेक कीजिये इसी में हम सब लोगों का हित है।[३५]

सभासदों ने कमलपुष्पी की-सी आकृति वाली अपनी अंजलियों को सिर से लगाकर सब प्रकार से महाराज के प्रस्ताव का समर्थन किया ;उनकी वह पातञ्जलि स्वीकार करके राजा दशरथ उन सबसे प्रिय हितकारी वचन बोले। अहो ! आप लोग जो मेरे परमप्रिय पुत्र श्रीराम को युवराज के पद पर प्रतिष्ठित देखना चाहते है इससे मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई और मेरा प्रभाव अनुपम हो गया। इस प्रकार की बातों पर पुरवासी तथा सभासदों का सत्कार करके राजा ने वसिष्ठ और वामदेव से कहा - यह चैत्रमास बड़ा सुंदर और पवित्र है, इसमें सारे वन उपवन खिल उठे अत: इस समय श्रीराम का युवराज पद पर अभिषेक करने के लिये आप लोग सब सामग्री एकत्र कराईये।[३६] इस प्रकार पूरे विधि विधानों से श्रीराम का युवराज्याभिषेक किया गया।[३७] अभिषेक होने के पश्चात् राजा दशरथ श्रीराम को सम्बोधित करते हुए बोले,बेटा !तुम्हारा जन्म मेरी बड़ी महारानी कौसल्या के गर्भ से हुआ है। तुम अपनी माता के अनुरूप ही उत्पन्न हुये हो ! श्रीराम ! तुम गुणों में मुझसे भी बढ़कर हो, अत: मेरे परम प्रिय पुत्र हो ; तुमने अपने गुणों से इन समस्त प्रजाओं को प्रसन्न कर दिया है,इसीलिए कल पुष्य नक्षत्र के योग में युवराज पद ग्रहण करो। बेटा ! यद्यपि तुम स्वभाव से ही गुणवान हो और तुम्हारे विषयमें सबका निर्णय है तथापि मैं स्नेहवश सद्गुण सम्पन्न होने पर भी तुम्हें हित की बातें बताता हूँ तुम और भी अधिक विनय का आश्रय लेकर जितेन्द्रिय बने रहो।[३८] काम और क्रोध से उत्पन्न होने वाले दुर्व्यसनों का सर्वथा त्याग कर दो, परोक्षवृति से (अर्थात गुप्तचरों द्वारा यथार्थ बातों का पता लगाकर तथा प्रयक्षवृति से अर्थात् दरवार में सामनें आकर कहने वाली जनता के मुख से उसके वृतांतों को प्रत्यक्ष देख सुनकर) ठीक-ठीक न्याय-विचार में तत्पर रहो। मंत्री सेनापति आदि समस्त अधिकारियों तथा प्रजाजनों को सदा प्रसन्न रखना। जो राजा कोष्ठागार (भंडारग्रह) तथा शस्त्रगार आदि के द्वारा उपयोगी वस्तुओं का बहुत बड़ा संग्रह करके मंत्री, सेनापति और प्रजा आदि समस्त प्रकृतियों को प्रिय मानकर उन्हें अपने प्रति अनुरक्त एवं प्रसन्न रखते हुए पृथ्वी का पालन

---

३५. वाल्मीकि रामायण, अयोध्यकाण्ड, सर्ग २, दो. ५२ से ५४।

३६. वाल्मीकि रामायण, अयोध्यकाण्ड, सर्ग ३, दो. १ से ४।

३७. वाल्मीकि रामायण, अयोध्यकाण्ड, सर्ग ३, दो. ६ से ३८।

३८. वाल्मीकि रामायण, अयोध्यकाण्ड, सर्ग ३, दो. ४१ से ४३।

करता है,उसके मित्र उसी प्रकार आनन्दित होते हैं जैसे अमृत को पाकर देवता प्रसन्न हुए थे।[३९] इस प्रकार युवराज राजा की दाहिनी भुजा के रूप में कार्य करता था और राजोचित गुणों से परिपूर्ण होने के कारण वह राजा की ही भांति उत्तम राजव्यवस्था चलाने में सक्षम होता था। सिंहासन पर बैठने से पूर्व उसका अभिषेक होता था उसके पश्चात ही वह कार्य करने में सक्षम हाता था।

यहां विशेष रूप से एक बात उल्लेखनीय है कि प्राचीन भारत के साहित्य में युवराज की नियुक्ति पर अभिषेक संस्कार के उदा. मिलते है।इस प्रकार का सबसे अच्छा तथा सर्वविदित उदाहरण राम के अभिषेक की तैयारियों का विस्तारपूर्वक वर्णन बाल्मीकि रामायण तथा रामचरित-मानस दोनो में ही मिंलता है। दीक्षितसार ने कहा है कि युवराज बनने के पूर्व अभिसिंचन तथा कई संस्कारों की सम्पूर्ण प्रक्रिया पूरी की जाती थी।[४०]

उत्तराधिकार की नियुक्ति -

प्राचीन काल में राष्ट्र का मुखिया राजा होता था वस्तुत: उसकी मृत्यु के पश्चात् पुत्र को राजकाज का भार संभालना पड़ता था। प्राचीन काल से ही उत्तराधिकारी की नियुक्ति के सबंध में विभिन्न सिद्धांत प्रचलित थे।

बाल्मीकि तथा तुलसी दोनों ने इस सबंध में तीन सिद्धांतों को माना है - प्रथम,ज्येष्ठता का अर्थात राजा का ज्येष्ठ पुत्र होना, जिसे हम एक प्रकार का आनुवंशिक सिद्धांत कह सकते हैं। द्वितीय चारित्रिक गुणों का होना अर्थात राजपद के लिये योग्यता। तृतीय प्रजा अथवा उसके प्रतिनिधियों की अनुमति। बाल्मीकी का कथन है - राजा ने इस प्रश्न पर विचार करने हेतु सभा बुलवाई, जिसमें राजा दशरथ स्वयं सम्मिलित हुये और तत्पश्चात् लोकनिर्वाचित दूसरे राजा लोग सभा मंडप में प्रविष्ट हुये। राजा दशरथ ने अपना प्रस्ताव सभा के सामने रखते हुए कहा- पराक्रम में इन्द्र के समान और शत्रुओं पर विजय पाने वाले मेरे ज्येष्ठ पुत्र राम सब गुणों में मेरे अनुयायी सिद्ध हुए है। चन्द्रमा के समान प्रजा पालकों में श्रेष्ठ उस पुरुष को मैं युवराज पद पर आयुक्त करना चाहता हूँ। वे लक्ष्मण के भाई सौभाग्यशाली राम आपके योग्य राजा है। यदि यह विचार आप लोगों के लिए अनुकूल सिद्ध हो तो आप इसकी अनुमति दीजिये। सामन्त राजाओं ब्राह्मणों और सेनाध्यक्षों ने नागरिक तथा राज्य के प्रजा प्रतिनिधियों के साथ मिलकर सर्वसम्मति से निर्णय किया और उन्होंने राजा दशरथ से कहा कि वे इस योग्य राम को युवराज पद पर अभिषिक्त करें।

राजा दशरथ ने उनके निर्णय को सुनकर अनजान सा बन, जिज्ञासा भाव से कहा- 'राजाओं आपने जो मेरे कथन को सुनकर राम को राजा बनाने की इच्छा प्रकट की हैं उसमें मुझे यह संदेह है कि आपने मेरे प्रस्ताव को मेरे कहने से मान लिया है। अपनी आंतरिक इच्छा से प्रेरित होकर नहीं। इस पर राजाओं ने नागरिकों तथा राज्य के प्रजाप्रतिनिधियों सहित राजा दशरथ से कहा- राजन्! आपके पुत्र में बहुत से कल्याणकारी गुण है। सत्य पराक्रमी राम अपने लोकोत्तर गुणों के

---

३९. वाल्मीकि रामायण, अयोध्यकाण्ड, सर्ग ३, दो. ४५ से ४६।
४०. दीक्षितसार वी.आर.आर., हिन्दू एडमिनिस्ट्रेटिव इन्सट्ट्यूशनस, पृष्ठ १०७।

कारण इन्द्र राजा के तुल्य है और वे सभी इक्ष्वाकु राजाओं में विशिष्ट हैं। राम सत्यवादी तथा सत्याचारी होने के कारण लोक में सत्पुरूष हैं। राम ने लक्ष्मी के साथ धर्म को भी प्रतिष्ठित किया हुआ है इस प्रकार के गुणों से सम्पन्न राम को,जो कि लोकपाल का एक नमूना है, समस्त प्रजा अपना नमूना बनाना चाहती है। पौर (पुरवसी) और जानपद (राष्ट्रवासी) सभी राम के सामने सिर झुकाते हैं। इसके उपरांत अभिषेक की तैयारियाँ शुरू हो गई। राजा दशरथ ने राम से स्वयं कहा - तुम मेरे ज्येष्ठ पुत्र हो और तुमने समस्त प्रजा को अपने गुणों से अनुरागी बना लिया है अत: तुम युवराज पद प्राप्त करो, क्योंकि अपनी इच्छा से प्रजा ने ही यह निश्चय किया है कि तुम राजपद के योग्य हो।[४१]

रामचरितमानस[४२] में भी वर्णन है कि राम ज्येष्ठता के आधार पर युवराज पद के लिये चुने गये। राजा दशरथ रानी कैकई से कहते है- राम को राज्य का लोभ नहीं है और उनको भरत पर प्रीति है, मैंने तो बड़े छोटे का विचार करके राजनीति का काम किया था। कैकेयी भी स्वीकार करती है कि सूर्यवंश की यह रीति इस वंश में बड़ा भाई स्वामी और छोटा भाई सेवक होता है। मंथरा रंग में भंग करती है, किंतु वह भी इस वंश की परंपरा का समर्थन करते हुये कहती है कि रानी इस कुल की रीति से राम को तिलक चढ़ाना उचित ही है और यह बात सब को अच्छी लगती है परंतु मुझे आगे होने वाली बात पर विचार कर भय लगता है। राजा बनने के लिये चारित्रिक योग्यता पर तुलसीदास ने भी बल दिया है। राम अद्वितीय पुत्र हैं। उनके रूप, गुण, शक्ति और स्वभाव को स्वयं देखकर और दूसरों से सुनकर राजा दशरथ बहुत आनंदित हैं। केवल पिता ही नहीं, अवधपुरी की सारी प्रजा भी उन पर इतनी मुग्ध है कि वह दशरथ के जीते जी युवराज पद दिया जाना चाहती है। इन दोनों आधारों के अतिरिक्त तुलसी के अनुसार भी राम को युवराज पद प्रजा की अनुमति से दे दिया जाता है। किन्तु उपर्युक्त प्रमाण के खण्डन में प्रो. अल्तेकर का विचार है कि रामायण में राम को युवराज बनाये जाने के संबंध में जो वर्णन है इससे यह सिद्ध होता है कि जनता का इस निर्णय में कोई हाथ नहीं था। इस प्रस्ताव पर सहमति के लिये दशरथ ने अपनी प्रजा के नेताओं को नहीं वरन् अपने करद या सामंत को और पड़ोसी राजाओं को बुलवाया था। उन्होंने भी उपचारत: को युवराज बनाने की सहमति दी, उनकी सहमति का मूल्य तो इसी से प्रगट हो जाता है कि राम का वन गमन उससे न रूक सका। इक्ष्वाकु वंश की वंशावली से भी यह ज्ञात होता है कि श्रीराम के कई पीढ़ियों तक (पूर्व और बाद में) राजपद अनुवांशिक था और प्रजा को राजा चुनने का अधिकार न था।[४३]

---

४१. वाल्मीकि रामायण, अयोध्यकाण्ड, सर्ग ३।

४२. तुलसीदास की रामचरित मानस, अयोध्याकाण्ड, ४.७।

"जौ पांचहि मत लागै नीका, करहु हरषि हिय रामहिं टीका॥

४३. अल्तेकर अनंतसदाशिव, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृष्ठ ५९-६०।

महाभारत में भी राजतंत्र पद पर अनुवांशिकता एवं ज्येष्ठता के आधार पर सुरक्षित था। निर्वाचन के प्रसंग का वर्णन इस काल में उपलब्ध नहीं है। राजा की मृत्यु के पश्चात ज्येष्ठ पुत्र द्वारा उत्तराधिकारी होने का वर्णन महाभारत में मिलता है।

कौटिल्य भी राजतंत्र का गहन समर्थक होने के कारण स्वामी सम्पद् गुणों से युक्त व्यक्ति के लिये राजपद सुरक्षित रखता है साथ ही कुलीनता को उसने सर्वाधिक महत्व दिया है। उत्तराधिकारी के संबंध में सर्वत्र ज्येष्ठता का ही सिद्धांत स्वीकृत किया गया है। किंतु ज्येष्ठता के अभाव में या किन्हीं कारणों से इस सिद्धांत का पालन नहीं हो पाता था, किंतु अयोग्य ज्येष्ठ पुत्र को राजपद नहीं दिया जाता था। रामायण में कहा गया है - ज्येष्ठ पुत्र ही यदि वह अंधा, गूंगा या मूर्ख न हो तो वह गद्दी का उत्तराधिकारी होता है।[४४]

महाभारत में राजा की मृत्यु के उपरांत गृहयुद्ध को रोकने के लिये ज्येष्ठ पुत्र द्वारा उत्तराधिकारी होने की ही व्यवस्था है इस नियम की अवहेलना उसी समय की जा सकती है, जबकी उसमें यदि शारीरिक अथवा ऐसा दोष हो जिसके कारण उसे उत्तराधिकार से वंचित करना अवैध न हो।

महाभारत में इस सिद्धांत का प्रमाण हमें दुर्योधन के प्रति व्यक्त किये गये गांधारी के दोषपूर्ण वचनों से मिलता है - हमारे यहां परंपरा से चले आने वाला कुल धर्म यही है कि वह कुरूराज्य पूर्ण अधिकारी के क्रम से उपभोग में आवे, परंतु अत्यंत क्रूर कर्म करने वाले पाप बुद्धि, दुर्योधन तू अपने अन्याय से इस कौरव वंश का विनाश कर रहा है -

''राज्यं कुरूणामनुपूर्वं भौज्यं, कृमागतो नः कुलधर्म एषः।
त्वं पापबुद्धेऽति नृशंसकर्मन्, राज्य कुरूनामनयाद् विहंसि'' ॥[४५]

दूसरे स्थान पर वे कहती हैं - वास्तव में यह दुर्धष राज्य महाराज पाण्डु का है अतः उन्हीं के पुत्र इस राज्य के उत्तराधिकारी हो सकते हैं।

राज्यं तु पाण्डोरिदमप्रधृस्यं, तस्यावद्य पुत्राः प्रभवन्ति नान्ये।
राज्यं तदेतान्निखिलं पाण्डवानां, पैतामहं पुत्रपौत्रानुगामि ॥[४६]

उपर्युक्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि राज्य पर पहले पिता का अधिकार रहता था, जो ज्येष्ठता के आधार पर स्वतः पुत्र को प्राप्त होता है। किंतु पिता के जीवित रहने पर पुत्र उसका अधिकारी

४४ रामायण, २.११०.३६ इक्षवाकुणां हि सर्वेणां, राजा भवति पूर्वजः।

४५ महाभारत उघोगपर्व, १४६.२९

४६ महाभारत उघोगपर्व, १४६.३२

कभी नहीं रह सकता था। कुन्ती के ज्येष्ठ पुत्र होने के कारण कर्ण से श्रीकृष्ण कहते हैं - कर्ण तुम ही धर्मानुसार पाण्डु के पुत्र हो, इसलिये आओ, धर्मशास्त्रों के निश्चय के अनुसार तुम ही राजा होगे।

सोऽसि कर्ण जात: पाण्डो: पुत्रोऽसि धर्मत: ।

निग्रहाद् धर्मशास्त्राणामेहि राजा भविष्यति ॥ [४७]

महाभारत में ज्येष्ठता को जहां प्रधान आधार बताया गया है वहां यह भी व्यवस्था है कि यदि ज्येष्ठ पुत्र अहंकारी है तो उसे राज्य की प्राप्ति नहीं होती और छोटे पुत्र भी वृद्ध पुरूषों की सेवा करने से राज्य पाने के अधिक ारी हो जाते हैं।[४८] इसके अतिरिक्त महाभारत में अनेक ऐसे प्रकरण मिलते है जिसमें अनेक राजाओं के ज्येष्ठ पुत्र अपनी शारीरिक, नैतिक अथवा चारित्रिक, दुबर्लताओं के कारण राजपद हेतु अयोग्य पाये गये। ध्रतराष्ट्र यद्यपि ज्येष्ठ पुत्र थे परंतु जन्म से ही अंधे होने के कारण राज्याधिकार से वंचित रह गये।

''धृतराष्ट्रस्त्वचक्षुष्ट्वाद राज्यं न प्रत्यपथत्।'' [४९]

इसी प्रकार राजा देवापि चर्मरोग से ग्रसित होने के कारण राजपद हेतु अयोग्य ठहराये गये।

एवं वादन्यो धर्मज्ञ: सत्यसंघश्च सोऽभवत् ।

प्रिय: प्रजानामपि संस्त्वम्दोषेण प्रदूषित: ॥ [५०]

"राजा शान्तनु की मृत्यु के पश्चात उसका ज्येष्ठ पुत्र (चित्रांगद) ही राजपद का अधिकारी था किंतु राजोचिद गुणों के अभाव मे उसका वध करवाकर छोटे भाई विचित्रवीर्य द्वारा सिंहासन पर आसीन होने का प्रमाण मिलता है जिसमें राजा विविंश के पंद्रह पुत्र थे उनका ज्येष्ठ पुत्र खनिनेत्र अन्य भाईयों को कष्ट देता था। खनीनेत्र पराक्रमी होने के कारण निष्कपट राज्य को जीतकर उसकी रक्षा न कर सका, क्योकि प्रजा उसे नहीं चाहती थी, अत: उसे राजपद से हटाकर प्रजा ने उसी के पुत्र सुर्वचा को राजपद पर अभिषिक्त कर दिया।[५१]

उपर्युक्त प्रमाण से यह भली-भांति ज्ञात होता है कि जनता के पास अयोग्य राजा को राजपद से हटाने का अधिकार प्राप्त था इसीलिये राजपद भी अजीवन हो गया। उत्तराधिकारी के संबंध में महाभारत में और प्रमाण मिलते हैं भीष्म युधिष्ठिर से कहते हैं - पराजित राजाओं में जिनके पुत्र नहीं है उनकी पुत्रियों को ही उनके राज्य में अधिष्ठित कर दिया जावे।

---

४७ महाभारत उघोगपर्व, १३८.९

४८ महाभारत उघोगपर्व, १४७.१३

४९ महाभारत आदिपर्व, १०३.२३

५० महाभारत उघोगपर्व, १४७.२४

५१ आश्वेधिपर्व, ४.८.९

"कुमारोनास्ति येषां ते कन्यास्तत्राभिषेच्य: ।"

इससे ज्ञात होता है कि पुत्र के अभाव में पुत्रियों को भी तत्कालीन युग में राजकाज संभालने के अवसर प्राप्त थे। रामायण[५२] में भी राज्य के अराजक हो जाने पर अर्थात राजाविहीन हो जाने पर पत्नी को राजपद प्रदान की जाने की व्यवस्था है क्योंकि पत्नी अर्धांगिनी होती है। अत: वही पति की अनुपस्थिति में उसके कार्यों का संचालन कर सकती है। कौटिल्य ने भी उत्तराधिकारी के विषय में विस्तारपूर्वक चर्चा की है। राज्य के उत्तराधिकार के प्रश्न पर कौटिल्य का मत है कि सामान्य रीति से राज्य का अधिकार शासन करने वाले राजा के ज्येष्ठ पुत्र को ही मिलना चाहिये।

अन्यत्रापद ऐश्वर्यं ज्येष्ठभागि तु पूज्यते[५३]

किंतु उत्तराधिकार का यह नियम तभी तक वैध माना गया है जब तक कि उसमें राज्योचित गुण पाये जाते हैं। इन योग्यताओं से रहित होने पर राजा ज्येष्ठ पुत्र को अपने पिता के सिंहासन अधिकार से वंचित कर दिया जाना चाहिये।

न चैक पुत्र भवितीनं राज्ये स्थापयेत्[५४]

इसी सिद्धांत की पुष्टि में कौटिल्य ने दूसरे प्रसंग में एक स्थल पर अर्थशास्त्र में अपना मत प्रगट करते हुये लिखा है - राजा की मृत्यु हो जाने पर जो राजकुमार उत्तम गुणों से सम्पन्न हो उसको ही रिक्त राजपद देना चाहिये।

"राजपुत्रमात्यसम्पन्नं राज्ये स्थापयेत"[५५]

कौटिल्य राजकुमार के राजोचित गुणों पर अत्याधिक महत्व देते हैं वे इस विषय में स्पष्ट रूप से कहते हैं यदि राजकुमारराजाओं के लिये जो निर्धारित गुण हैं यदि उनसे सम्पन्न है तो उस राजकुमार को सेनापति अथवा युवराज पद पर अभिषिक्त कर देना चाहिये।

"आत्मसम्पन्नं सैनापत्ये यौवराज्ये वा स्थापयेत्"[५६]

कौटिल्य ने राजकुमारों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया है

१. बुद्धिमान २. आहार्य ३. बुद्धि और दुर्बुद्धि।

"बुद्धिमानाहार्यबुद्धिर्दुर्बुद्धिरिति पुत्रविशेषा:"[५७]

---

५२ वाल्मीकि रामायण, अयोध्या काण्ड
५३ श्लोक ५४, अध्याय १७, अधिकरण १, अर्थशास्त्र।
५४ वार्ता ५३, अध्याय १७, अधिकरण १, अर्थशास्त्र।
५५ वार्ता ३८, अध्याय ६, अधिकरण १, अर्थशास्त्र।
५६ वार्ता ४५, अध्याय १७, अधिकरण १, अर्थशास्त्र।
५७ वार्ता ४६, अध्याय १७, अधिकरण १, अर्थशास्त्र।

जो राजकुमार सिखाने से धर्म और अर्थ की शिक्षा ठीक-ठीक ग्रहण करता है वह तदनुसार आचरण भी करता है ऐसा राजकुमार बुद्धिमान कहलाता है ।

शिष्यमाणो धर्मार्थावुपलभते चानुतिष्ठति च बुद्धिमान [५८]

जो धर्म और अर्थ को समझ तो ले किंतु उसके अनुरूप आचरण न करे वह आहार्य बुद्धि कहलाता है ।

उपलभमानो नानुतिष्ठत्याहार्यबुद्धिः [५९]

जो राजकुमार नित्य विपत्ति लाने के उपाय सोचा करता है और धर्म और अर्थ के विरूद्ध आचरण करता है वह दुर्बुद्धि होता है ।

अपायनित्यो धर्मार्थद्वेषी चेति दुर्बुद्धिः [६०]

इन तीनों प्रकार के राजकुमारों में सर्वप्रथम राजपद बुद्धिमान को देना चाहिये । उसके अभाव में आहार्य बुद्धिमान राजकुमार को परंतु दुर्बुद्धि राजा को कभी राजपद नहीं मिलना चाहिये । ऐसा कौटिल्य का मत है वे स्पष्ट लिखते हैं - यदि दुर्बुद्धि पुत्र ही हो तो ऐसी दशा में राज्याधिकारी न समझकर उससे पुत्र उत्पन्न कराने का प्रयत्न करना चाहिये ।

स मद्येकपुत्रः पुत्रोत्पत्तावस्य वियवेत [६१]

इस प्रकार उत्पन्न हुये राजा के पौत्र को राज्याधिकार मिलना चाहिये । यदि पुत्र के पुत्र उत्पन्न न हो तो अपनी पुत्री के पुत्र को योग्य बनाकर उसको राज्य का अधिकार दे देना चाहिये ।

पुत्रिकापुत्रानुत्पादमेद्धा [६२]

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि गुणवान पुत्र ही राजा के पद के लिये कौटिल्य को मान्य है इसके अभाव में पौत्र और पौत्र के अभाव में पुत्री के पुत्र को राज्याधिकार देना स्वीकार किया है ।

राजा के पुत्र, पौत्र, पुत्री के पुत्र के अभाव में कौटिल्य राजसिंहासन पर समस्त राजवंश की पंचायत का अधिकार स्वीकार करते हैं । कुल समूह का शत्रु द्वारा जीता जाना बड़ा कठिन होता है। इस प्रकार राज्य में किसी प्रकार की बाधा नहीं आ पाती और राज्यकार्य उचित रीति से चलता रहता है ।

---

५८ वार्ता ४७, अध्याय १७, अधिकरण १, अर्थशास्त्र ।

५९ वार्ता ४८, अध्याय १७, अधिकरण १, अर्थशास्त्र ।

६० वार्ता ४९, अध्याय १७, अधिकरण १, अर्थशास्त्र ।

६१ वार्ता ५०, अध्याय १७, अधिकरण १, अर्थशास्त्र ।

६२ वार्ता ५१, अध्याय १७, अधिकरण १, अर्थशास्त्र ।

कुलस्य वा भवेद्राज्यं कुलसङ्घो हि दुर्जयः ।

अराजव्यसनावाधः शश्वदावसति क्षितिम् ॥[६३]

कौटिल्य ने राजकन्या को गर्भिणी राजमहिषी को भी राजपद का अधिकारी माना है। राजा की मृत्यु के उपरांत राजा के पुत्र, पौत्र, कन्या के पुत्र आदि के अभाव में राजरूपा अथवा गर्भिणी राजमहिषी को नियुक्त करने की कौटिल्य ने व्यवस्था दी है।

कुमारं राजकन्यां गर्भिणीं देवीं वाधिकुवीतं ।[६४]

कौटिल्य ने राजोचित गुणों की योग्यता के साथ-साथ वंश की कुलीनता पर भी बहुत अधिक बल दिया है। उसके अनुसार राजा का वह पुत्र जो राजा की जाति की स्त्री से उत्पन्न नहीं हुआ है, सत्य अर्थ में राजा की संतान नहीं है ऐसे पुत्र का राज्य का अधिकारी नहीं माना है।

जात्यादजात्यों हि लुप्तादायादसंतानत्वादाघातुत्रियान ।[६५]

कुलीन पुत्र चाहे वह मूर्ख ही क्यों न हो अपना अधिकार राज्य पर माना है कुलविहीन बुद्धिमान पुत्र मंत्रणा का अधिकारी नहीं माना गया है।

जात्यप्राज्ञयोर्जात्यभप्राज्ञभैश्वर्यप्रकृतिरनुवर्त्तते - प्राज्ञभजात्यंमंत्राधिकाराः ।[६६]

कौटिल्य मूर्ख पुत्र को राजपद देने के पक्षपति कभी नहीं थे उन्होंने मात्र अविनीत राजकुमार को राजपद देने के अधिकार से वंचित रखा है।

न चैक्मुत्रमविनीतं राज्ये स्थापयेत ।[६७]

बौद्ध युग में वैसे तो गणतंत्रीय शासन प्रणालियों का बोलबाला था किंतु कुछ ऐसे भी राज्य थे जहां राजतंत्र राज्य विद्यमान थे जिसमें राजत्व पद वंशानुगत परंपरा पर आधारित होता था। किंतु वंश परंपरा होने पर भी राजत्व हेतु राजा को अपनी राज्यकार्य योग्यता को प्रमाण द्वारा सिद्ध करना होता था। गामाणिचण्डक जातक में वर्णित है जब वाराणसी के राजा जरासंध की मृत्यु हो गई तो आमात्यों ने राजकुमार की अल्पआयु की वजह से विचारकर राजसिंहासन पर बैठाने से पूर्व न्यायालय ले जाकर उसकी अनेक प्रकार से परीक्षा ली। जब उसने यह सिद्ध कर दिया कि राजा के लिये सब आवश्यक गुण उसमें विद्यमान है तभी उसे राजपद दिया गया।[६८] इस प्रमाण से पूर्णतः स्पष्ट

---

६३ श्लोक ५५, अध्याय १७, अधिकरण १, अर्थशास्त्र।

६४ वार्ता ४६, अध्याय ६, अधिकरण ५, अर्थशास्त्र।

६५ वार्ता २२, अध्याय १७, अधिकरण ७, अर्थशास्त्र।

६६ वार्ता २७-२८, अध्याय १७, अधिकरण ७, अर्थशास्त्र।

६७ वार्ता ५३, अध्याय १७, अधिकरण १, अर्थशास्त्र।

68 Cowell, The Jataka, Vol II, Page 207;215

हो जाता है कि राजा की योग्यता ज्येष्ठता से अधिक महत्वपूर्ण थी। और युवराज की योग्यता का निर्णय आमात्यगणों द्वारा किया जाता था। वैसे तो सामान्य रूप से राजा का पुत्र ही सिंहासन पर आसीन होता था। किंतु यदि वह अयोग्य हुआ तो या उसकी योग्यता का प्रश्न विवादास्पद हो तो अमात्यगण उसकी परीक्षा उपरांत ही उसे राजपद अभिषिक्त पर करते थे। अयोग्य होने पर किसी अन्य व्यक्ति को राजपद प्रदान किया जाता था। योग्यता के अतिरिक्त कुछ अन्य बातें राजपद के लिये आवश्यक थीं। प्रथम तो यह कि अंधा अथवा शारीरिक रूप से विकलांग व्यक्ति राजा नहीं बन सकता था। अंधे व्यक्ति के जातक में कथा का उल्लेख प्रमुख रूप से किया जाता है।[69] इसके अतिरिक्त शिवि सम्बुल जातक में वाराणसी के राजकुमार सेट्ठिसेन की कथा प्रमुख है। जो स्वयं कोढ़ से पीड़ित होने के कारण राजमहल त्यागकर वन को चला गया।[70]

सामान्यतया राजतंत्र राज्यों में राजा का ज्येष्ठ पुत्र ही उत्तराधिकारी होता था संतान की इच्छा से बहुविवाह के समर्थक भी थे। परंतु यदि राजा संतानहीन हो तो उत्तराधिकारी, राजा का भाई भी हो सकता था।[71] कई बार जनता के उत्तराधिकारी होने के प्रकरण भी मिलते हैं।[72] कुछ विशिष्ट अवस्थाओं में आमात्यों की सहायता से राजा की विधवा रानी द्वारा राज्य का संचालन किया जा सकता था। उदय जातक में वर्णित कथा में कहा गया है कि राजा उदय के पश्चात उसकी रानी उदयभट्टा ने शासन किया और आमात्यों के निर्देशन में वह सफलता पूर्वक शासन करती रही।[73] इसी प्रकार घटजातक में एक स्त्री के द्वारा शासन किये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है।[74]

इतनी व्यवस्थाओं के अतिरिक्त एक और पद्धति उस युग में प्रचलित थी जिसका उपयोग अत्यंत विवाद उपस्थित होने पर किया जाता है। जब राजा बनाने के लिये एकमतेन समर्थन संभव न हो तो एक विचित्र प्रथा थी। एक पुष्परथ आमात्यों द्वारा निकाला जाता था जिसमें जगत्व के पांच चिन्ह (हाथी, घोड़ा, क्षत्र, चामर, कुंभ) रहते थे। चलते चलते यह रथ जिसके सामने रूक जाता था उसे ही राजा बना दिया जाता था। जातक साहित्य में इस पद्धति से बने हुये अनेक राजाओं के राज्याभिषेक की कथाएँ उपलब्ध होती है।

अनेक राजाओं के राजकुमार पिता के जीवित रहने पर भी राजप्राप्ति हेतु प्रयत्नशील रहते थे वे पितृघाती होकर भी राजपद को प्राप्त करने के लिये तत्पर रहते थे। इसके विपरीत कतिपय राज्यों ने ''वार्धन्ये मुनिवृत्तानां'' के अनुसार राजा अपने पुत्रों को राजपद देकर वृद्धावस्था में वनगमन

---

69 Cowell, The Jataka, Vol VI, Page 254
70 Ibid, The Jataka, Vol V Page 48, 43
71 Ibid, The Jataka, Vol II Page 251-260
72 Ibid, The Jataka, Vol II Page 224
73 Ibid, The Jataka, Vol IV Page 67
74 Ibid, The Jataka, Vol IV Page 50

हेतु प्रस्तुत हो जाता था। शंखपाल जातक में ऐसे ही राजा का उल्लेख मिलता है।[75]

कामन्दक उत्तराधिकारी के संबंध में अपने विचार व्यक्त करते हुये कहते है कि राजा को चाहिये कि वह अपने नम्र व ओरस पुत्र को जो स्वर्ण भार्या से उत्पन्न हुआ हो युवराज पद पर अभिषिक्त करे; किंतु वह यदि विनीत न हो तो जिस प्रकार हाथी को बंधन में रखते है उसे भी सुखबंधन में रखा जाये। बुरी वृत्ति वाले राजपुत्र का भी त्याग नहीं करना चाहिये, क्योंकि यदि उसे राज्य से निकाला जायेगा तो वह क्लेशित होकर, शत्रु का आश्रय लेकर पिता को मारेगा।[76] शुक्र ने युवराज को राजा का दाहिना नेत्र और कर्ण बताया है अत: युवराज की नियुक्ति सोच समझकर की जानी चाहिये। जो मुद्रा के बिना संपूर्ण राजकार्यों को करने में सदा समर्थ हो और धर्मपत्नी से उत्पन्न पुत्र हो उसे युवराज मनोनीत करे। यदि ऐसा पुत्र न हो तो अपने चाचा अथवा छोटे भाई अथवा बड़े भाई के पुत्र को अपना धेवने (पुत्री का पुत्र) अथवा दत्तक पुत्र को युवराज बनाना चाहिये। क्रम से पूर्वोक्त पुत्र आदि के अभाव में भांजे को युवराज बनावे। राजा को अपने अन्य धर्म में तत्पर, शूर, भक्त और नीतिमान पुत्रों की यत्न से रक्षा करनी चाहिये; क्योंकि अरक्षित निरंकुश गज (हाथी) के समान मद से उन्मत राजपुत्र पिता को ही मार देते हैं। इसलिये दुष्टपुत्र का भी त्याग नहीं करना चाहिये। जो राजपुत्र जुये आदि के व्यसन में आशक्त हो जाये उसे व्यसल, अधिपतियों से दुखी करे अपापपूर्वक बंधन में रखे। जो दुराचारी दायभागी (हिस्सेदार) हो उन्हें बड़े यत्न के साथ सिंह आदि अथवा शत्रु द्वारा या दल से अपने राज्य वृद्धि के लिये मरवा दे। शुक्र ने इस विषय में परंपरागत सिद्धांत की मान्यता दी है। उनका मत कामंदक जैसा ही है।[77]

परवर्ती कालों में उत्तराधिकार की भिन्न भिन्न प्रथाएँ प्रचलित थी। मौर्य युग में चंद्रगुप्त मौर्य के बाद सिंहासन पर पर उसका पुत्र बिन्दुसार (२९८ ई. पू. से २७३ ई. पू.) बैठा। उसके शासन के विषय में बहुत कम जानकारी है, परंतु यह निश्चित है कि उसने २५ वर्ष से अधिक काल तक शासन किया। वह इतने बड़े साम्राज्य पर और इतने लंबे काल तक शासन कर सका, इसी तथ्य से पता लगता है कि वहभी योग्य प्रशासक रहा होगा। उसकी उपाधि 'अभित्रघात' (शत्रुओं का हत्यारा) से भी संकेत मिलता है कि उसने अनेक शत्रुओं से युद्ध किया होगा उन्हे मारा होगा। ऐसा विश्वास किया जाता है कि उसने अपने साम्राज्य का विस्तार दक्षिण में अधिक किया। कुछ इतिहासकारों के अनुसार उसके १०० बेटे थे उनमें अशोक सबसे बड़ा न था। अत: सम्राट के मरने के बाद उसके पुत्रों में उत्तराधिकार के लिये संघर्ष हुआ और अशोक ने जो बहुत ही दयाहीन राज पुत्र था अपने सभी

---

75 Cowell, The Jataka, Vol V, Page 84

७६ शुक्रनीतिसार, ७.६-७

७७ शुक्रनीतिसार, २.१२-१९

भाईयों को मार दिया। उसने राजसिंहासन २७२ ई. पू. में ही प्राप्त कर लिया, परंतु उत्तराधिकार का युद्ध लगभग चार वर्ष तक चलता रहा। इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि मौर्यकाल में निरंकुश केन्द्रीयकृत शासन रहा होगा।

चोल वंश में भी समान्यतया चोल राजा अपने जीवन काल में ही ज्येष्ठ पुत्र को युवराज मनोनीत करते थे। विशिष्ट परिस्थितियों में इसका उल्लंघन भी किया जा सकता था। इस समय भी वंशानुगत प्रणाली का प्रचलन था।[७८]

इसी प्रकार राष्ट्रकूट शासन पद्धति में भी राजपद अनुवांशिक था प्राय: ज्येष्ठ पुत्र को समुचित शिक्षा दीक्षा के उपरान्त युवराज मनोनीत किया जाता था इस संबंध में कई उदा. भी मिलते हैं। जैसे ध्रुव के चार पुत्रों में स्तम्भ सबसे बड़ा था किंतु गोविन्द तृतीय योग्यतम था। अत: ध्रुव ने गोविन्द तृतीय को युवराज बनाया। संतानविहीन होने पर राजपरिवार के अन्य व्यक्ति को राजपद दियो जाने का उल्लेख है। नि:संतान दन्तिदुर्ग के उपरान्त उसके चाचा कृष्ण प्रथम ने राज्भार संभाला था। गोविन्द तृतीय का पुत्र अमोध वर्ष तेरह-चौदह वर्ष की आयु में राजा बना, अल्पआयु होने के कारण उसके चचेरे भाई कर्क ने अभिभावक के रूप में राज्य संचालन में उसकी सहायता की थी। गोविन्द चतुर्थ अपने दुष्कृत्यों के कारण मंत्रियों एवं सामन्तों द्वारा अपदस्थ कर दिया गया था उसके स्थान पर उसका चाचा अयोधवर्ष तृतीय शासक बनाया गया था।[७९] उत्तर वैदिक काल में आने तक राजा का पद वंशानुगत हो गया था। इस समय के ग्रंथ यह वर्णन करते हैं कि उस काल में वैदिक कालीन राजा के प्रजा द्वारा निर्वाचित होने की प्रक्रिया समाप्त हो गई थी। महाभारत और रामायण में इनके विषय में पूर्व उल्लेख किया जाता है। इस समय राजा का पद वंशानुगत था। इससे ज्ञात होता है कि वैदिक काल में राजा का पद निर्वाचित था।वैदिक काल में राष्ट्र या जनपद का मुखिया राजा होता था। वस्तुत: राजा के पुत्र को पिता की मृत्यु के पश्चात राजा का यह पद दिया जाता था किंतु यह आवश्यक था कि राजा के पुत्र का वरण विश: या प्रजा करे। यदि प्रजा को राजा का पुत्र राजा के रूप में योग्य प्रतीत होता, तो प्रजा उसे ही वरण कर लेती थी, योग्य पुत्र के अभाव में प्रजा को यह अधिकार था कि राजवंश के किसी, या कुलीन परिवारों के किसी व्यक्ति का राजा के पद के लिये वरण करे।

आरंभ में आर्य, विश, सभा समितियों के माध्यम से विशपति चुनते थे। शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिये उन्हें पराक्रमी राजा का नेतृत्व अपेक्षित था। ऋग्वेद में एक स्थल पर विशों द्वारा राजा के वरण का उल्लेख है।[८०] ऋग्वेद में ही कहा गया है कि वृत्र से अवरूद्ध नदियों का जल इंद्र का

---

७८ नीलकण्ठ ऐ. के., चोलवंश, पृष्ठ ३५५

७९ अल्तेकर अनंतसदाशिव, राष्ट्रकूटाज एण्ड देयर टाईम्स, पृष्ठ १६२

८० ऋग्वेद, १०.१२४.८

आश्रय लेते हैं इंद्र उन प्रसन्न नदियों में आकर रहता है। जैसे शत्रु से भीत विशों के प्रतिरक्षा के लिये राजा को चुना, वैसे ही नदियों में अवरूद्ध जलों ने वृत्र से मुक्त होने के लिये इंद्र को चुना।[८१]

राजा के निर्वाचन या वरण को सूचित करने के लिये ऋग्वेद और अथर्ववेद के मंत्र के माध्यम से कामना की गई है दोनों में कहा गया है कि तुम हर्ष पूर्वक हम लोगों में आओ अविचल रूप से स्थित हो; सब लोग तुम्हें चाहते हैं। तुम राष्ट्र से भ्रष्ट न हो, तुम पर्वत के समान दृढ रहो और तुम्हारा पतन न हो। तुम यहां इंद्र के समान अविचल रहो तुम यहां रहो और राष्ट्र को धारण करो।[८२] इंद्र ने हवि के कारण इस राष्ट्र को दृढ़तापूर्वक धारण किया है इसके लिये सोम और बृहस्पति ने भी ऐसा ही कहा है।[८३] प्रजा का यह राजा वैसा ही ध्रुव (परम दृढ़) हो जैसा ध्रुव स्वर्ग है, जैसी ध्रुव पृथ्वी है, जैसा ध्रुव विश्व है और जैसे ध्रुव पर्वत हैं।[८४] प्रजा (विशः) राज्य के लिये तुम्हारा वरण करती है, सब दिशाओं के लोग तुम्हारा वरण करते हैं, तुम राष्ट्र रूपी शरीर के सर्वोच्च स्थान पर आसीन रहो और वहां रहते हुये उग्र शासक के समान सब में सम्पत्ति विभाजन करो।[८५] इसका तात्पर्य यही हुआ कि राजा का निर्वाचन सबकी सम्मति और स्वीकृति पर प्रजा (विशः) अथवा जनता ही करती थी। एक मंत्र में राजा देवताओं से प्रार्थना करता है कि वे उसके प्रतिद्वन्दी सजात कुलीनों के विरोध का दमन करें और प्रार्थी को राजा बनाएँ।[८६] इससे प्रगट होता है कि राजा को सजात कुलीनों की अनुमति अपेक्षित थी। वे जिसका अनुमोदन करते वही राजा होता था।[८७]

राजा के निर्वाचन में अन्य मंत्र अथर्ववेद में उपलब्ध होतें है "जो कि अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं अथर्ववेद में कथन है कि ये प्रजाएँ तुमको राज्य शासन चलाने के लिये राजा बनाती है ये सभी दिशाएँ तुमको राजा स्वीकार करती हैं, तू राष्ट्र के सर्वोच्च स्थान पर बैठे और तेजस्विता के काम करते हुये प्रजा को यथायोग्य धन प्रदान कर। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्रजा राजा का निर्वाचन करती थी।[८८] राजा का निर्वाचन सर्वसम्मति से होता था देवों ने सर्वसम्मति से इंद्र का राजा बनाया था।[८९] राजा का निर्वाचन समिति करती थी अतएव कहा गया है कि समिति तुझे स्थाई राजा

---

८१ ऋग्वेद, १०.१७३.१
८२ ऋग्वेद, १०.१७३.२
८३ ऋग्वेद, १०.१७३.३
८४ ऋग्वेद, १०.१७३.४
८५ अथर्ववेद, ३.४.२
८६ अथर्ववेद, ३.३.५-६
८७ शतपथ ब्राह्मण, ९.३४.५
८८ अथर्ववेद, ३.४.१, से ७; ६.८७१ ६.८८.१ से ३
८९ अथर्ववेद, ३.४.२
९० अथर्ववेद, २०.५४.१

बनाती है। तू स्थाई और अच्युत होकर शत्रुओं को नष्ट कर। जो शत्रुवत आचरण करते हैं उन्हें भी नष्ट कर।[९१] अथर्ववेद में समिति द्वारा राजा के निर्वाचन का उल्लेख है।[९२] ग्रिफिथ का कथन है कि प्राचीन समय में राजा के निर्वाचन की प्रथा प्रचलित थी।[९३] राजा होने के लिये आवश्यक था कि वह प्रजा का प्रिय व्यक्ति हो। प्रजा ऐसे ही व्यक्ति को राजा चुनती थी। अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि राजा प्रजा को प्रसन्न रखने और उनका समर्थन प्राप्त करने के लिये अत्यंत प्रयत्नशील रहते थे।[९४] वे उनके हृदय और मन को प्रेम से जीतने का प्रयास करते थे।[९५] राजा को जनता का समर्थन प्राप्त करने की आवश्यकता इसलिये थी कि उनके शत्रु राजा और ईर्ष्यालु संबंधी कहीं राजा को पदच्युत न कर दे। अथर्ववेद में अभिवर्त मणि द्वारा अपने शत्रुओं को नष्ट करने का विधान है।[९६]

अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि प्रजा निर्वाचन प्रथा को प्रतिष्ठित करना चाहती थी और इस प्रथा को ही मान्यता देना चाहती थी।[९७] दूसरी ओर वे व्यक्ति थे जो राजा के पुत्र होने के कारण राजा की गद्दी पर अपना जन्म सिद्ध अधिकार समझते थे और वे निर्वाचन प्रथा को असंगत या अनुचित समझते थे इन दोनों प्रथाओं में पर्याप्त संघर्ष की सूचना अथर्ववेद से प्राप्त होती है।[९८] राजा के पुत्रादि निर्वाचित राजा को छल प्रपंच से भगाते थे, उसे गद्दी से हटाते थे और कभी कभी देश से निर्वासित भी कर देते थे। प्रजा निर्वाचित राजा को ही चाहती थी, अत: वह उसके लिये आंदोलन संघर्ष आदि करती थी ऐसे आंदोलन से उन्हें सफलता मिलती थी और निर्वासित राजा पुन: गद्दी पर बैठाया जाता था ऐसे राजा का अथर्ववेद में उल्लेख मिलता है जो इधर उधर भटकता हुआ घूमता है।[९९] प्रजा और उसके मित्र एवं शत्रु उसे पुन: बुलाते हैं और राजगद्दी पर बैठाते हैं।[१००] राजा के निर्वासन से लौटने पर प्रसन्नता मनाई जाती थी। प्रजा राजा के पास जाती थी। इस प्रकार की पहुंच सीधे राजा तक होती थी।[१०१] स्त्रियां बच्चे आदि खुशी मनाते थे और राजा को अनेक प्रकार के उपहार दिये जाते थे।[१०२] जो निर्वाचन पद्धति का विरोध करते थे वे चाहें अपने हो या पराये, उन्हें

---

९१ अथर्ववेद, ६.८८.३
९२ अथर्ववेद, ५.१९.१५
९३ गिफिथ, अथर्वभाष्य, भाग-१, पृष्ठ ८४
९४ अथर्ववेद, ६.७३, १-३
९५ अथर्ववेद, ६.९४.१-३
९६ अथर्ववेंद, १.२९.१-६
९७ अथर्ववेद, ३.४.१-७
९८ अथर्ववेद, ३ सूक्त ३,४
९९ अथर्ववेद, ३.३.४
१०० अथर्ववेद, ३.३.५
१०१ अथर्ववेद, ३.४.३
१०२ अथर्ववेद, ३.४.३

तिरस्कृत करके हटाया जाता था।[१०३]

अथर्ववेद के साथ साथ यजुर्वेद के कुछ मंत्रों में भी प्रजा द्वारा राजा के वरण के उदा. मिलते है। सब देव लोग महान फल के लिये, सबसे श्रेष्ठ होने के लिये, इस व्यक्ति को प्रतिस्पर्धा से विरहित करते हैं।[१०४] राजा का निर्वाचन प्रजा इसी प्रयोजन से करती है कि वह सब प्रकार की आपत्तियों से प्रजा की रक्षा करे। वह सबसे ज्येष्ठ होकर रहे, अर्थात (सर्वोपरि हो) उसके नेतृत्व में जनता का प्रभुत्व कायम रहे और वह इंद्रो का भी इंद्र बनकर रहे।[१०५]

यजुर्वेद में वर्णित मंत्रों से यही स्पष्ट होता है कि प्रजा राजा को सर्वोच्च स्थान देने की इच्छुक है, वह उसके नेतृत्व में अपनी रक्षा, प्रभुत्व का भार राज्य को देती है, इसके साथ ही साथ इस मंत्र में सर्वोत्तम, सर्वोपरि, राजा की नियुक्ति उत्तम देवजनों द्वारा हो इसकी स्वीकृति व निर्देश मिलता है। वैदिक युग में प्रजा जिस राजा का वरण करती थी उसे यह उम्मीद रहती थी कि वह ध्रुव के रूप में स्थिर होकर सृष्टि पर्यन्त कार्य करे। उसका कार्यकाल किसी अवधि की सीमा रेखा तक कैद नहीं था। इसके लिये अथर्ववेद में एक मंत्र है - हे राज् तू सुप्रसन्न रूप से स्वराद् में दसवीं अवस्था तक शासन करता रहे।[१०६] यह दशामी से तात्पर्य ९० वर्ष की ऊपर आयु सीमा तक अर्थात राजा वृद्धावस्था तक राज्य का भार संभालता रहेगा। पर कभी कभी ऐसी स्थिति भी उपस्थित हो सकती थी जब राजा दशामी अवस्था तक राज्यकाज नहीं संभाल पाता था। प्रजा उसे निर्वासित भी कर सकती थी अर्थात कर्तव्य पालन के अभाव में गद्दी से उतार सकती थी।[१०७] और यदि वह अपने दोषों को स्वीकार करके प्रायश्चित करता तो प्रजा उसे पुनः गद्दी पर बैठाती थी। इसी प्रकार राजा क पदच्युत होने के पश्चात पदारूढ होने के लिये प्रयत्न करने का उल्लेख अथर्ववेद में है।[१०८] तैत्तिरीय संहिता, शतपथ ब्राह्मण आदि में भी अपने खोये हुये राज्य और ऐश्वर्य की पुनः प्राप्ति के लिये प्रयत्न करने का वर्णन है।[१०९] इस प्रकार वैदिक युग में राजा का चुनाव विशों की अनुमति पर निर्भर था। ब्राह्मण काल में विशों की सम्प्रभुता नहीं रही वह क्षत्र सजातों के अधिकार क्षेत्र में आ गई। समाज का वर्ण विभाजन इसका कारण थे। ये क्षेत्र सजात अपने में से श्रेष्ठ व्यक्ति को ही राजा चुनते थे। अथर्ववेद में 'पर्णमणि' का वर्णन मिलता है राजा रत्नियों के घर अभिषेक के पूर्व जाता था वे उसे 'पर्णमणि' देते थे यह पर्णमणि उसकी अनुकूलता का प्रतीक थी।[११०]

---

१०३ अथर्ववेद, ३.३.६

१०४ यजुर्वेद,

१०५ यजुर्वेद,९.४०

१०६ यजुर्वेद, क्षतात्किल त्रापत इत्युदग्रः क्षात्र रूप शब्द भुवेनषु इन्द्रः

१०७ अथर्ववेद, ३.८.२

१०८ अथर्ववेद, ८.१०

१०९ तैत्तिरीय संहिता २.३.१, शतपथ ब्राह्मण १२.९.३.३

११० अथर्ववेद, ३.५.७

उपर्युक्त समस्त प्रमाणों से ज्ञात होता है कि समाज का वर्णों में विभाजन हो जाने से राज्य सत्ता सजातों द्वारा अपने में से श्रेष्ठ और ज्येष्ठ व्यक्ति को राजा चुना गया और उसे अपने अधिकार सौंपे दिये गये। अब सत्ता क्षत्र सजातों के हाथों में न रहकर क्षत्र राजा के अधिकार में आकर वंश में प्रतिष्ठित हो गई। अभिषेक के लिये न केवल उसके पुत्र के लिये ही किंतु उसके पौत्र के अभिषेक की भी चर्चा की गई।

राजानं राजावितरम्[१११]

अथ य व इच्छेद द्विपुरूषं भूर्भुव: इति।

अथ च इच्छेत त्रिपुरूषं वाऽप्रतिमं वा भूर्भव: स्वरिति।[११२]

वैदिक साहित्य में हमें वंशानुगत राज्यों के प्रमाण भी प्राप्त होते हैं। वहम्रश्व, दियोदास, विजयन, सुदास, एवं दुर्गह, गिरिक्षित्त, पुरूकुत्स, त्रदस्यु, तथा मित्रातिथि, पुरूवरूण और उपमश्रवस् से वंशानुगत राज्यों का वर्णन उपलब्ध होता है। इस प्रकार निर्वाचन की प्रथा वैदिक कालों में भी प्राय: अव्यवहारिक हो चुकी थी क्योंकि ऋग्वेद में भी अधिकतर (राजवंध) राजपद अनुवांशिक दिखाई देते है। तृत्सुओं में चार पीढ़ी से और अधिक समय से ही पिता की राजगद्दी पर पुत्र ही बैठते आ रहे थे।[११३] सञ्जयों का राजा दुष्ट ऋतु पौसायन की कथा में दस पीढ़ी से प्राप्त राजा की कथा का उल्लेख है। प्रो. अल्तेकर[११४] का मत है कि इसमें संदेह नहीं कि उत्तरवैदिक काल में बहुत पहले ही राजा का पद अनुवांशिक या पैतृक बन गया था। इस प्रकार वैदिक युग में निर्वाचन प्रणाली के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं। किंतु बाद में समस्त ग्रंथों में निर्वाचन या वरण का स्थान अनुवांशिकता या पैतृक सिद्धांत ने ले लिया था। शतपथ ब्राह्मण में - दशमपुरूषम् राज्य का उल्लेख मिलता है जो इस बात का सूचक है कि वैदिक काल में राजपद पर नियुक्ति अनुवांशिक आधार पर होती थी।[११५]

किंतु समस्त कालों में राजपद का आधार राजोचित योग्यता प्रथम रूप से प्रमुख रही। अयोग्यता सिद्ध होने पर राजपद के छीन लेने के पर्याप्त प्रमाण सर्वत्र मिलते हैं। अयोग्यता के पश्चात ज्येष्ठता के सिद्धांत को भी सभी विचारकों ने एक मत से स्वीकार किया है। जहां चारित्रिक योग्यता को राजपद का एक महत्वपूर्ण तत्व माना है। वहीं शारीरिक योग्यता भी अतिअनिवार्य रूप से मान्य रही है। इन समस्त सिद्धांतो के अभाव में राजपद किसको दिया जाना चाहिये इस संबंध में भी पर्याप्त विचार हुआ है, प्राय: सभी प्राचीन विचारकों एवं ग्रंथों में स्त्रियों के द्वारा ऐसी दशा में शासन किये जाने के प्रमाण मिलते हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि परिवर्ती कालों में उत्तराधिकार का वर्णन प्राप्त तो होता है परंतु उसका मूल आधार वेदों में वर्णित है।

---

१११ ऐतरेय ब्राह्मण, ८:१७

११२ ऐतरेय ब्राह्मण, ८.७

११३ शतपथ ब्राह्मण, १२.९.३, १-१३

११४ अल्तेकर, अनंतसदाशिव, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृष्ठ ५९

115 Kingship was Sometimes hereditary suggested by the expression daspurusham Rajya, kingdom of ten generation accuring the Satpatha Brahman (XII, 9.9.1-3)

अभिभावक अथवा राजप्रतिनिधि :-

वैदिक युग से राष्ट्र या राजपद का मुखिया राजा होता था। राजा के पुत्र को पिता की मृत्यु के पश्चात राजपद दिया जाता था किंतु यह आवश्यक था कि राजपुत्र का वरण (विशः) प्रजा करे। योग्य पुत्र के अभाव में प्रजा को यह अधिकार था कि वह राजवंश के किसी भी योग्य व्यक्ति का निर्वाचन करे इस प्रकार वैदिक काल में राजपद निर्वाचित था ऋग्वेद[११६] में एक स्थान पर प्रजा द्वारा राजा के वरण का उल्लेख है। किंतु बाद के कालों में राजपद वंशानुगत होता गया और परम्परानुसार पिता की मृत्यु के पश्चात राजपद ज्येष्ठ पुत्र को प्राप्त होता था।

किंतु यदि (शासक) पुत्र नाबालिक है अथवा किसी कारण से शासन कार्य करने में असमर्थ है, तो ऐसी अवस्था में अविभावक या राजप्रतिनिधि की व्यवस्था की जाती थी अर्थात उसकी माता, चाचा आदि रिश्तेदार अविभावक (आज्ञापालक) की हैसियत से राज्यतंत्र को चलाते थे। कौटिल्य ने लिखा है - कि जब राजा की मृत्यु के उपरान्त कोई योग्य राजपुत्र न हो तो मुख्यमंत्री को अयोग्य राजपुत्र अथवा राजपुत्रों अथवा गर्भवती रानी को ही सिंहासन पर बैठा देना चाहिये और मंत्रियों एवं प्रतिष्ठित व्यक्तियों की बैठक बुलाकर कहना चाहिये - राज्य तुम्हारा निक्षेप (धरोहर) है; राजा का यह उत्तराधिकारी केवल प्रभुसत्ता चिन्ह(ध्वजमात्रोयम्) है; तुम ही वास्तविक प्रभु हो उसके बाद मुख्यमंत्री उस राजपुत्र की शिक्षा के लिये उचित व्यवस्था करे। यदि गर्भवती रानी के पुत्री जन्में तो उसका बेटा उत्तराधिकारी होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि जब तक उपयुक्त उत्तराधिकारी राजपद को धारण नहीं करता एक प्रकार की राजप्रतिनिधि परिषद् की व्यवस्था कायम रहनी चाहिये। इस प्रकार से राम के वनवास काल में भरत ने राजप्रतिनिधि के रूप में ही शासन भार सम्भाला था। इसीलिये यह प्रथा प्रस्थापित हुई कि राजा की नाबालिक अवस्था में एक प्रशासक मण्डल रहे, जिसकी अध्यक्षा राजमाता हो। इस प्रकार की राजव्यवस्था के उल्लेख जातक व नाटक, ग्रंथों और शिलालेखों में आते हैं।

कुछ दक्षिण हिन्दुस्तानी शिलालेखों में 'त्रैराज्य' का उल्लेख आता है। त्रैराज्यों में राजा युवराज व भंडुराज इन तीनों का अन्तर्भाव होता था। राजा के पश्चात राजवंश में जो सबसे वयोवृद्ध पुरूष था उसका निर्देशन भंडुराज पद से होता था। वही आवश्यक होने पर अभिभावक बनता था।

राजा जब नाबालिक रहता था तब अभिभावक या राजप्रतिनिधि के बिना राज्य-संचालन करना अशक्य था। राष्ट्रकूटवंशी प्रथम अमोघवर्ष की बाल्यावस्था में पातालमल्ल ने व गंगवंशी द्वितीय शिवमार के युद्धबंदी रहने के समय उसके भाई विजयादित्य ने बड़े कौशल व निस्स्वार्थ बुद्धि से

---

११६ ऋग्वेद, १०.१२४.८

अपना राजप्रतिनिधि का कर्तव्य निभाया था। किन्तु ऐसे भी राजप्रतिनिधि या अभिभावक होते थे जो चालुक्यवंशीय मंगलीश या यादववंशी कृष्ण के समान स्वयं राजा बनने की सफल कोशिश करते थे। इसलिये यह प्रथा प्रस्थापित हुई कि राजा की नाबालिक अवस्था में एक प्रशासक मण्डल रहे, जिसकी अध्यक्ष राजमाता हो। इस प्रकार की राजव्यवस्था जातक[११७] व नाटक[११८] ग्रंथों और शिलालेखों में आते हैं। प्राचीन भारत में नयनिका (ई. पू. १२५) प्रभावती गुप्ता (ई. पू. १८०) इत्यादि अनेक राजमाताएँ हुई, जिन्होंने अपने पुत्रों की बाल्यावस्था में शासन की बागडोर ठीक तरह से संभाली।

इसी प्रकार सातवाहन वंशीय शातकर्णि पराक्रमी शासक था। पुराणों में तो शातकर्णि को कृष्ण का पुत्र कहा गया है किंतु नानाघाट के लेख के आधार पर कुछ विद्वान इसे सिमुक का पुत्र मानते हैं। शातकर्णि की मृत्यु के समय उसके दोनों पुत्र शक्तिश्री व वेदश्री अल्प वयस्क थे, अतः उनकी माता नागनिका ने उनके संरक्षक के रूप में कार्य करते हुये शासन किया।[११९]

खारवेल का राज्याभिषेक, जब उसकी उम्र चौबीस साल हुई, तब हुआ, यद्यपि उसके पिता का देहांत पहले हो चुका था। किंतु इसके लिये पर्याप्त प्रमाण नहीं है कि हर एक राजपुत्र का राज्याभिषेक २४ साल की उम्र होने तक रोका जाता था। दक्षिण भारत में कारिकाल की आयु ५ साल की थी। जब उसका राज्याभिषेक हुआ। अविनीत कोंगुवर्मा का राज्याभिषेक उसकी गर्भावस्था में ही हुआ था। अभिषेक के समय नन्दिवर्मन पल्लवमल्ल की उम्र १८ साल की थी जब नाबालिक अवस्था में राज्य प्रतिनिधि - मण्डल राज्य संचालन करता था तब २४ साल की उम्र तक राज्याभिषेक रोकना आवश्यक नहीं होता था।

हिन्दू विधिनियम के अनुसार अभ्रातृक पुत्री को पिता की गद्दी पर बैठने का अधिकार न था। यह बात सत्य है कि भीष्म ने धर्मराज को सलाह दी कि युद्ध में मारे गये राजाओं की गद्दी पर पुत्र के अभाव में पुत्रियों को भी आसीन करने की अनुमति दी जाये।

कुमारो नास्ति येषां च कन्यास्तत्राभिषेचय[१२०]

परंतु साधारण मत इसके प्रतिकूल था अधिकांश विधान शास्त्री स्त्रियों को राज्य का उत्तराधिकार देने के विरूद्ध थे। उनका विचार था कि अपनी स्वाभाविक दुर्बलताओं के कारण वे भली भांति राजकाज चलाने में असमर्थ हैं।

---

११७ जातक, चतुर्थ भाग, पृष्ठ १०५, ४१७ (यहां कहा गया है कि वाराणसी के राजा सन्यासी हो जाने पर प्रजा ने रानी से ही राज्य का भार वहन करने का अनुरोध किया, यही साधारण प्रथा थी, "अन्नो राजा न होति")

११८ नाटक, प्रतिज्ञायौगंधरायण, अंक १, (कौशांवी के राजा उदयन के शत्रु के हाथ बंदी हो जाने पर उसकी माता ने शासन कार्य का संचालन किया)

११९ मित्तल ए. के., प्राचीन एवं मध्यकालीन भारत, पृष्ठ २०८-२०९

१२० महाभारत, १२.३२,३३

दुट्ठं तं जनपदं यत्थ इत्थि परिणायिका ।

अनवकासं यमित्थी राजा अस्स चक्कवत्ती ॥[१२१]

अत: कन्या के अतिरिक्त अन्य उत्तराधिकारी न रहने पर जमाता (जमाई) अपनी ससुर की गद्दी पर बैठता था । ऐसी अवस्था में उसकी पत्नी केवल नाममात्र की रानी नहीं रहती थी । किंतु पति के साथ प्रत्यक्ष राज्य संचालन भी कभी कभी करती थी । प्रथम चंद्रगुप्त और उसकी लिच्छवी-वंशीया रानी कुमारदेवी की संयुक्त मुद्रा से इस मत की पुष्टि होती है ।

दक्षिण भारत में विशेषकर चालुक्यों और राष्ट्रकूटों के समय में राजकुमारियां बहुधा पदों पर नियुक्त की जाती थी । यहां दो उदाहरण इस प्रकार हैं । प्रथम अमोघवर्ष की कन्या और एर्रगंग की पत्नी रवेकनिंयादि एदातोर नामक बड़े किले की शासिका थी (८५० ई.) । दूसका उदाहरण तृतीय जयसिंह की बड़ी बहिन अक्कादेवी का है जो १०२२ ई. में किनसुद जिले की शासिका थी । परंतु उत्तर भारत में इस प्रकार के उदाहरण नहीं मिलते ।

रानी के पद और अधिकार पर दृष्टिपात करे तो ज्ञात होता है कि वैदिक काल में उसकी गणना "रत्नियों" अर्थात उच्चअधिकारियों में होती थी । परंतु उसके अधिकार और कार्य के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है । विधान शास्त्री शासन में उसके लिये कोई विशिष्ट कार्य निर्धारित नहीं करते परंतु शासन कार्य पर उसके व्यक्तित्व और विचारों का प्रभाव थोड़ा बहुत अवश्य रहा होगा । कर्नाटक के अलूयवंशीय राजा अपनी रानी के साथ राज्याधिकारों में पूरा सहयोगी होकर राज्य करता था, ऐसा वर्णन आता है ।[१२२] किन्तु यह प्रथा समाज में रूढ़ न हो पाई । दक्षिण भारत में ऐसा अवश्य था क्योंकि कभी कभी रत्नियों द्वारा भूमि दान का और बड़े प्रांतों के राज्य कार्यभार का उल्लेख मिलता है।[१२३] इसके भी पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं कि आवश्यकता के समय काम आने के लिये राजकुमारियों का शासन कार्य और युद्ध विद्या की शिक्षा दी जाती थी ।

□□□

१२१ जातक, खण्ड -१. पृष्ठ १८५

१२२ महालिंगम, टी. वी., साऊथ इण्डियन पॉलिटी, पृष्ठ ३७

१२३ अल्तेकर, पोजीशन ऑफ वीमेन, पृष्ठ २४५

अध्याय-६

राज्याभिषेक और विभिन्न यज्ञ

राज्याभिषेक संस्कार प्राचीन काल से प्रचलित था। राज्याभिषेक का मूल उद्देश्य वैधानिक तथा नैतिक दृष्टि से मनोनीत राजा को राज्याधिकार प्रदान करना था। राज्याभिषेक के बिना कोई भी व्यक्ति वैध राजा नहीं माना जाता था, अतः सिंहासन पर आरूढ़ होने के पूर्व अभिषेक की क्रिया आवश्यक थी। वस्तुतः वैदिक युग में उत्तर पश्चिम भारत में छोटे-छोटे राज्यों का प्रादुर्भाव हुआ। कुछ राज्य अपने उत्तरदायित्व का भली-भाँति निर्वाह करते रहे होंगे, जबकि अनेक राजा स्वेच्छाचारी रहे होंगे। प्रजा द्वारा मनोनीत राजा अथवा वंशानुगत राजा को विधिवत राज्याधिकार प्रदान करने हेतु राज्याभिषेक कार्य का आरंभ हुआ। इस कार्य में वैदिक मंत्रों द्वारा यज्ञ एवं कर्मकाण्डों का विकास हुआ। इस प्रकार इस अध्याय में राज्याभिषेक की महत्ता, राजसूय, अश्वमेघ तथा इन्द्र का महाभिषेक इस विषय पर विषद वर्णन किया गया है।

राज्याभिषेक का महत्व-

राज्याभिषेक शब्द 'राज्य' एवं 'अभिषेक' शब्दों के योग से बना है। अभिषेक का अर्थ स्नान है। जिस प्रकार स्नान से मनुष्य स्वच्छ एवं पवित्र होता है। उसी प्रकार राज्य संबंधी स्नान से राजा में पवित्रता आती है। प्राचीन काल से ही राज्याभिषेक का संवैधानिक एवं सांकेतिक महत्व है। सिंहासन पर बैठने के पूर्व राजा का अभिषेक होता था। अभिषिक्त होने के बाद ही नया राजा यथार्थ में शासक होता था अथवा शासनाधिकारों से युक्त होता था। शतपथ ब्राह्मण [1] के अनुसार भारतीय आर्यों का सर्वप्रथम अभिषिक्त राजा 'पृथुवैन्य' था। विधिवत राजा बनने हेतु राजसूय यज्ञ अनिवार्य माना गया। दीक्षितसार का कथन है कि युवराज बनने के पूर्व अभिसिंचन अथवा कई संस्कारों की सम्पूर्ण प्रक्रिया पूरी की जाती थी। शतपथ ब्रह्मण के अनुसार[2] कुरू-पांचाल शासकों ने राजसूय यज्ञ का विधिवत सम्पादन किया था।[3]

राजा के अभिषेक संस्कार की प्रथा वैदिक काल में ही आरंभ हो गई थी। अभिषेक संस्कार की प्रक्रिया आरंभ में अधिक सरल थी, किंतु कालांतर में यह अधिक वृहद तथा कठिन हो गयी थी। यह प्रक्रिया धार्मिक थी। उत्तरकाल में इसका स्वरूप और कठिन होता गया। राज्याभिषेक के समय यज्ञ किया जाता था जिसके बिना कोई भी व्यक्ति राजपद का उचित एवं वैध अधिकारी नहीं कहलाता था। प्राचीन भारतीय राजनीति में राज्याभिषेक के सिद्धांत अथवा संस्कार का पालन नियमित रूप से

१. शतपथ ब्राह्मण, ५.१.१.१२
२. दीक्षितसार बी.आर.आर., हिन्दू एडमिनिस्ट्रेटिव इंस्टीट्यूशनश, पृष्ठ, १०७
३. शतपथ ब्राह्मण, ५.५.२.५

होता रहा। समय एवं परिस्थिति के अनुसार इसका बाह्य स्वरूप परिवर्तित हुआ किंतु इसका आंतरिक स्वरूप और इसमें अंतर्निहित विचार लगभग पहले जैसे ही बने रहे। वेदों में और लोगों के मतानुसार राजपद की प्राप्ति के लिये राज्याभिषेक अनिवार्य माना गया है।

ऐतरेय ब्राह्मण[४] से पता चलता है कि प्रारंभ में समीति एक पीढ़ी तक राजा का अभिषेक करती थी। यदि राजकुमार योग्य होता तब राजा के अभिषेक या उसके उत्तराधिकार की घोषणा साथ में ही जाती थी। अभिषेक के समय समीति की इच्छानुसार तीन पीढ़ियों तक में राज्य की घोषणा हो सकती थी।

''भूरिति यमिच्छेदिभयेव प्रत्यन्नमथादिति।
अथ यमिच्छेद द्विपुरुषं भुर्भव इति।
अत यमिच्छेद त्रिपुरुषं भुर्भुवस्वरिति।''

एक पीढ़ी के राज्य हेतु केवल 'भू' का, दो पीढ़ियों के राज्य हेतु भुर्भुवः का और तीन पीढ़ियों के राज्य हेतु भूर्भुव का आचरण होता था। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार[५] राजसूय का दूसरा नाम अभिषेक है।

''राज्ञ एवं राजसूयं। राजा वै राजसूयेनेष्ट्वा भवति।''

किंतु तैत्तिरीय ब्राह्मण में निर्दिष्ट वाजपेय यज्ञ के कुछ विधान अभिषेक में भी होने लगे। ऐसे शपथ जो कि वाजपेय यज्ञ के अंग हैं, अभिषेक में किया गया। इस प्रकार वाजपेय से कुछ विधान राजसूय यज्ञ के विधानों में मिल गये इन सम्पूर्ण विधानों के अनुष्ठान से राजा राजत्व को प्राप्त करता है। प्राचीन ग्रंथों में 'सर्वमेघ' यज्ञ करने का भी विधान है किंतु यह केवल अभिषिक्त राजा द्वारा ही किया जाता था। अपने बाहुबल से अदिति साम्राज्य की घोषणा इस यज्ञ में होती है। साधारण राजा हेतु इसका कोई उपयोग नहीं है।

बी.ए.सैलेटोर[६] का कथन है कि महाभिषेक समारोह राजसूय यज्ञ के समान ही था। अभिषेक से संबंधित यज्ञों में राजसूय, वाजपेय और इंद्रमहाभिषेक तीन मुख्य थे। इस विषय में मतवैभिन्नय है कि राजसूय यज्ञ बड़ा था या वाजपेय। लॉ के मतानुसार[७] एक समय वाजपेय राजसूय से कम महत्व का था; क्योंकि राजाओं के संबंध में वाजपेय के साथ राजसूय होता था और ब्राम्हण के

---

४. ऐतरेय ब्राह्मण, ८.७
५. शतपथ ब्राह्मण, ५.१.१.१२
६. सेलोटोर बी.ए., इण्डियन पॉलिटिकल थॉट एण्ड इन्स्टीट्यूशनश्स, पृष्ठ ३००
७. लॉ एन.एन., ऑसपेक्ट्स ऑफ एनशियेंट इण्डियन पॉलिटी पृष्ठ १८-१९

संबंध में वाजपेय के बाद बृहस्पतिसव अर्थात् राज्य का पुरोहित होने का त्यौहार होता था। परंतु शतपथ ब्राम्हण में वाजपेय को राजसूय से ऊँचा अथवा बड़ा बताया है, क्योंकि राजसूय यज्ञ से तो किसी शासक को राजत्व प्राप्त होता है किंतु वाजपेय से राजा सम्राट बनता है।

कात्यायन श्रोतसूत्र[८] के अनुसार "वाजपेय यज्ञ सम्राट साधारण राजा से उच्चतर स्थिति के राजा द्वारा किया जाता था; जबकि अन्य अधिकार युक्त लेखकों के मतानुसार इसे कोई भी कर सकता था। शतपथ ब्राह्मण के आधार पर ही दीक्षितार ने भी कहा है[९] राजसूय यज्ञ करने से शासक राजा बनता है और वाजपेय द्वारा सम्राट। सम्राट की तुलना में राजा का पद नीचा होता है राजसूय यज्ञ की केन्द्रीय विशेषता अभिषेक संस्कार है। वाजपेय राजसूय से उच्चतर है इसका साक्षी विधिदाता कात्यायन है। वाजपेय राजसूय के समान राजनीतिक समारोह (संस्कार) नहीं है। वाजपेय यज्ञ करने के अधिकारी ब्राह्मण तथा क्षत्रिय दोनों ही वर्ण हैं; परंतु राजसूय यज्ञ उसी प्रकार से केवल क्षत्रियों के लिये है, जिस प्रकार की बृहस्पति सव ब्राह्मणों के लिये हैं। राजा का उद्घाटन समारेह राजसूय ही है।"

इस विषय में डॉ.जयसवाल लिखते हैं-[१०] श्रुतियों में समाज के अध्यक्षों को दीक्षित अथवा उनका अभिषेक करने के लिये तीन समारोहों (संस्कारों) का उल्लेख है। उनमें सर्वप्रथम राजसूय अथवा राजा का उद्घाटन है; दूसरे वाजपेय, जिसका प्रयोग राजा को अभिषिक्त करने अथवा किसी उच्च अधिकारी, जैसे राज पुरोहित को अभिषिक्त करने के लिये प्रयोग किया जाता है; और तीसरे 'सर्वमेघ' सार्वभौमिक शासन के लिये यज्ञ है। जहाँ तक कि उत्पत्ति का संबंध है संभवतया वाजपेय का स्वरूप अंश में भी राजनीतिक न था, क्योंकि इसे कुछ ओलम्पिक (खेलों) की जीत के रूप में आयोजित किया गया था। इसे बाद में शाही तथा धार्मिक दीक्षाओं एवं अभिषेकों के लिये अपनाया गया। सर्वमेघ एक असाधारण समारोह है, जिसे केवल सम्राट जो पहले से राजा हो, मनाते हैं। इस समारोह में एक राज्य भारत के भूमिगत आदर्श का अस्तित्व सिद्ध होता है। फिर भी अभिषेक का साधारण समारोह राजसूय है।"

राज्याभिषेक संस्कार प्राचीन समय से ही प्रचलित था और उसका वैधानिक महत्व है। राज्याभिषेक को वैदिक काल में राजसूय कहते थे; उसका वर्णन ब्राह्मण ग्रंथों में ही पाया जाता है इसके अलावा पहले यह अनेक सदियों से प्रचलित रहा है। प्राथमिक धार्मिक विधि, राज्याभिषेक व उत्तरकालीन समारंभ इस प्रकार राजसूय तीन भाग थे। प्राथमिक धार्मिक विधि में रत्निहवि का मुख्य

---

८. दीक्षितसार व्ही.आर.आर., हिन्दू एडमिनिस्ट्रेटिव इन्स्टीट्यूशन्स, पृष्ठ ८२

९. दीक्षितार व्ही.आर.आर., हिन्दू एडमिनिस्ट्रेटिव इन्स्टीट्यूशन्स, पृष्ठ ८२

१०. जयसवाल के.पी., हिन्दू पॉलिटी, पृष्ठ १९२

रूप से उल्लेख आवश्यक है रत्नि राजा के सलाहकार होते थे। ग्रंथों में लिखा है कि रत्नि-हवि के लिये राजा को रत्नियी के घर जाना आवश्यक था। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि राजा अपने अधिकारी व सलाहकारों के साथ प्रेम व विश्वास का संबंध स्थापित करना आवश्यक समझता था व उनकी सम्मति राजगद्दी पर बैठने के लिये आवश्यक थी।

राज्याभिषेक दूसरे दिन किया जाता था। राजा का अभ्यंजन किया जाता था और उसे व्याघ्रचर्माच्छादित सिंहासन पर बैठाकर पवित्र नदियों के जल से अभिषेक करते थे। उस समय जिन मंत्रों का उच्चारण किया जाता था। उसमें भगवान सूर्य से प्रार्थना थी कि वह राजा को तेज, पुंज व शक्तिशाली बनाये, इन्द्र से प्रार्थना थी कि वह उसको सुशासक बनाये और बृहस्पति, मित्र व वरुण से विनती थी कि वे राजा को वाग्मी, सत्यप्रेमी और धर्म रक्षक बनाये।

उत्तरकाल में राज्याभिषेक में क्षत्रिय व वैश्य भी भाग लेने लगे। ब्राह्मण क्षत्रिय व वैश्य वर्ण नागरिकों में महत्व के थे। उन तीनों को राज्याभिषेक विधि में लेकर यह व्यक्त किया जाता था कि राजा के अभिषेक के लिये सर्वद्विजातियां सहमत हैं। महाभारत में तो शूद्र को भी अभिषेक विधि में स्थान दिया गया है।

राज्याभिषेक में राजा को एक शपथ लेनी पड़ती थी कि वह कानून के अनुसार राज्य चलाएगा व प्रजा के हितों के लिये प्रयत्नशील रहेगा। राजा जो शपथ लेता था उसमें पुरोहित से द्रोह न करने की प्रतिज्ञा करता था। अभिषेक के उपरांत उसे दैवीय शक्ति प्राप्त हो जाती थी। महाभारत में राजा को राज्याभिषेक के समय नीति-शास्त्रनिर्दिष्ट धर्माचरण करने की शपथ लेने का विधान है।[११]

राज्याभिषेक की महत्ता को महाभारत में भी दृष्टांत किया जा सकता है। इसके बिना कोई भी राजा वैध नहीं माना जाता था, अतः सिंहासनासीन होने के पूर्व अभिषेक की प्रक्रिया आवश्यक थी और तभी वह अपने अधिकारों व कर्त्तव्यों का प्रयोग कर सकता था। धर्मपुत्र राजा युधिष्ठर ने अभिषेकोपरांत प्रजा को विदा कर राजकार्य में प्रवृत्त होकर भीमसेन को युवराज नियुक्त किया। उसने राज्य की रक्षा के विषय मे विचार निमित विदुर को, कर्तव्य और अकर्तव्य विषयों, आय व्यय के निमित्त संजय को, सेना के सब कार्यों के निमित्त नकुल को, और दुष्टों के दमन हेतु अर्जुन को तथा दैविक कार्यों के लिये धौम्य मुनि को नियुक्त किया। सबको यथायोग्य कार्यभार सौंपकर धर्मपूर्वक प्रजापालन करते हुए युधिष्ठिर ने सबका सम्मान के साथ प्रतिपालन किया।

११. ऐतरेय ब्राह्मण, ८.१५

राज्याभिषेक समारोह में अधिकार ग्रहण घोषणा के समय आविद मंत्रों का उच्चारण होता है,[१२] यथा- ''हे पुरुषों, तुम्हें इस महान् रक्षा (या रक्षक) की सूचना दी जाती है; गार्हपत्य अग्नि को सूचना दी जाती है, सुविख्यात इंद्र को सूचना दी जाती है, व्रत का धारण करने वाले मित्र और वरूण को सूचना दी जाती है, धन के देवता पूषा को सूचना दी जाती है, कल्याणकारी आकाश और पृथ्वी को सूचना दी जाती है। अदिति को सूचना दी जाती है। ''शतपथ ब्राह्मण'[१३] के अनुसार ये घोषणाएँ कुछ विशिष्टताओं का सूचक होती है अग्नि ब्राह्मणों का सूचक है, इन्द्र राज्य के प्रमुख पुरुषों का सूचक है, पूषा पशु जगत का सूचक है और इसी प्रकार और सब भी किसी न किसी के सूचक हैं। दूसरे आविदों का चाहे जो कुछ भी वास्तविक महत्व हो, पर इसमें संदेह नहीं कि निर्वाचित राजा के संबंध का पहला आविद या घोषणा लोगों अथवा प्रजा के प्रति होती है। शतपथ ब्राह्मण में ये आविद घोषणाएँ राज्याभिषेक के किये अनुमति प्राप्त करने के उद्देश्य से होती थी-'' तैरनुमतः सूयते'' इस प्रकार अनुमति पाकर ही राजा का राज्याभिषेक होता है। अतः राजा सभी देवी-देवताओं की अनुमति प्राप्त करता था।

पुरोहित राजा के प्रति शुभकामनाएँ करते हुए कहता था, ''तुम वीरता के केन्द्र हो, तुम किसी की हिंसा मत करना। राजा का अभिषेक प्रजा के रंजन के लिये होता है। राजा उत्तर में कहता है-मेरी शोभा प्रजा का शीश है उसका यशमेरा मुख है और तेजवान व्यक्ति ही मेरे प्राण है मेरी वाणी सदा प्रजा हित में रत वाक्यों का उच्चारण करती रहे। मेरी ऊंगलियाँ प्रजा का आनंद और मेरा मन प्रजा का उत्साह बने। प्रजा की सहन शक्ति ही मेरा मित्र है।'' इस प्रकार राजा के संभाषण से स्पष्ट हो जाता है कि राजा अपने दायित्व का पूरी तौर से अनुभव करके प्रजा हित को ही सर्वोपरि समझता था। राजा इस कथन द्वारा अपने दायित्व को संभालता था जिसका कि अप्रत्यक्ष उत्तर यह था कि वह बल, सुख, धन, जन, तेज, ज्ञान और विद्या आदि के बढ़ाने के लिये सदैव तत्पर रहेगा।

राजा अभिषेक के समय कुछ शपथ ग्रहण करता था वह कहता था[१४] ''जिस रात्रि में मेरा जन्म हुआ है और जिस रात्रि में मेरी मृत्युहोगी उसके मध्य में किये गये मेरे सारे पुण्य नष्ट हो जायें, यदि मैं आपसे (प्रजा से) विरुद्ध होता हूँ।'' राजा इस प्रकार के नैतिक नियमों में आबद्ध था कि उसके द्वारा प्रजा के अहित में किसी भी प्रकार के कार्य करने की संभावना न थी। राजा को उसकी शपथ हर समय उसके कर्तव्यों की याद दिलाया करती थी।

---

१२. वाजसनेयी संहिता, १०.९

१३. शतपथ ब्राह्मण, ३.५. ३१-३७

१४. ऐतरेय ब्राह्मण, ८.१५

वैधानिक दृष्टि से यह बात सबसे महत्व की है कि राज्य के चारों वर्णों के द्वारा राजा की रक्षा होती है। अपने पद पर प्रजा द्वारा रक्षित होकर वह शासन कार्य करता है हिन्दू राजनीति में यह एक सर्वमान्य और निश्चित सिद्धांत था-

"राष्ट्रेण राजा व्यसने परिरक्ष्यस्तथा भवेत॥"[१५]

राजा को चारों दिशाओं से इस प्रकार का आर्शीवाद लेना पड़ता था कि वह सर्वदा रक्षित होता रहेगा। "हे राजन्! तू पूर्व में आरोहण कर, वसंत ऋतु और ब्राह्मण तेरी, उस बहुमूल्य कोष की रक्षा करें। तू दक्षिण में आरोहण कर; क्षत्र तेरी, उस बहुमूल्य कोष की रक्षा करें। तू पश्चिम में आरोहण कर; विश तेरी उस बहुमूल्य कोष की रक्षा करें। तू उत्तर में आरोहण कर; फल (शूद्र) तेरी, उस बहुमूल्य कोष की रक्षा करें। इस प्रकार शतपथ ब्राह्मण में उल्लेख है कि क्रमशः पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर से क्रमशः ब्रह्म, क्षण, द्रविण और फल (शूद्र) आदि विड़ उसकी रक्षा करते थे। राजा का सौ छिद्रों वाले सुवर्ण पात्र से अभिषेक किया जाता था। ये सौ छिद्र राजा के शतायु होने की कामना की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति प्रतीत होती है। इन्हीं कर्मकांडों में राजा की लकड़ी की चौकी (आसंदी) पर बैठता था। वह वाराहचर्म के जूते पहनता था। चार अश्वों वाले रथ पर आरूढ होकर कुछ दूर जाता था। तैत्तिरीय संहिता में उल्लेख है कि राज्याभिषेक के अंतर्गत स्थारूढ राजा सर्वप्रथम सूर्य के दर्शन करता है फिर अपनी प्रजा की ओर देखता है। संभवतः सूर्य की ओर राजा द्वारा देखना उसकी कृपा एवं प्रकाश प्राप्त करना था जिस प्रकार सूर्य सृष्टि के प्रत्येक जीव को समान रूप से प्रकाश देता है उसी प्रकार राजा के लिये सभी प्रजाजन समान है। शतपथ ब्राह्मण में यह वर्णन प्राप्त होता है।[१६] जयसवाल अपने विचार व्यक्त करते हुये कहते हैं[१७] कि राज्य एक मानव संस्था थी और इसमें उसी का हित प्रधान था अभिषेक के द्वारा ही राजा का निर्वाचन प्रजा द्वारा होता था, राजपद धारण करते समय राजा को कुछ शर्तों का पालन करना आवशयक था, इस पद पर रहने वाला राजा सभी के सहयोग से काम करता था और उसे सभी की सहानुभूति लेनी होती थी। राजा एक प्रकार से राज्य (जो प्रजा की सम्पत्ति थी) का रक्षक समझा जाता था। अभिषेक होने के पश्चात् राजा किसी भी प्रकार निरंकुश नहीं हो सकता था। राज्य धर्म द्वारा शासित होता था और राज्य में प्रजा का विचार मुख्य समझा जाता था। अभिषेक के उपरांत राजा को इन नियमों के अंतर्गत रहकर ही कार्य करना होता था।

वेदों में भी राज्याभिषेक के विषय में वर्णन मिलता है। यजुर्वेद के अनुसार[१८] कि बड़े भारी क्षात्रबल के लिये, बड़े भारी सर्वश्रेष्ठ राजपद के लिये, बड़े भारी जनों के ऊपर राजा हो जाने के लिये

---

१५. महाभारत शांतिपर्व १३०.३२

१६. शतपथ ब्राह्मण ५.३, ५.२५

१७. जयसवाल के.पी., हिन्दू राजतंत्र, खण्ड २, पृष्ठ ६६-६७

१८. यजुर्वेद, ९.३९६

और परम ऐश्वर्यवान राजा के ऐश्वर्य प्राप्ति के लिये, देवगण शत्रुओं से रहित इस योग्य पुरुष को अभिषिक्त करें। इस अमुक पिता के पुत्र, अमुक माता के पुत्र को इस प्रजा के लिये राज्याभिषिक्त किया जाता है अर्थात् प्रजापालन राजा का परम कर्त्तव्य था।

इमं देवा असपत्नॅंऽ सुवध्वं महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठयाय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय।
इमममुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रमस्यै विश एष वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानाॅंऽ राजा॥

यजुर्वेद में एक स्थान पर कहा गया है कि हे राजन्! तुझको चंद्रमा के समान प्रकाश से, अग्नि के समान तेज से और इंद्र बल से अभिषेक करता हूँ तू क्षत्रियों का अधिराज रह और प्रजा के नाश करने बाकी सब विपत्तियों को पार करके प्रजा की रक्षा कर।

सोमस्य त्वा द्युम्नेनाभि षिञ्चाम्य ग्रेर्भ्राजसा सूर्यस्य वर्चसे न्द्रस्येन्द्रियेण।
क्षत्राणां क्षत्रपतिरेध्यति दियून पाहि।।[१९]

इसी प्रकार अमुक पिता के पुत्र अमुक माता के पुत्र इसको प्रजा के निमित्त अभिषिक्त करो। हे अमुक प्रजाजनों यह तुम लोगों का राजा है अभिषेक के समय राजा में देवताके गुण आ जाते थे।[२०] सविता देव के शासन में, दोनों अश्विनी कुमारों के बाहुओं से, पूषा देवता के दोनों हाथों से, सरस्वती की वाणी से, नियंता प्रजापति के निययन से और अग्नि के साम्राज्य से तुझ पर अभिषेक करता हूँ।[२१]

अभिषेकोपरांत राजा कहता है हे प्रजाजनों! राज्य में अभिषेक को प्राप्त हुए मेरी शोभा या धन ऐश्वर्य शिरस्थानी है, यश मुख के समान है, न्याय के प्रकाश के समान मेरे देश और दाढ़ी मूँछ हैं, मेरा प्राण दीप्तमान राष्ट्रजीवन के लिये अमृत हैं, सम्राट का पद आँख के समान साक्षी रूप है, तथा विविध विद्यवान सभासदों के प्रकाशमान राज सभा स्रोत के समान राज्य के समस्त व्यवहारों को सावधानतापूर्वक श्रवण करने वाला है। इससे राज्याभिषेक की महत्ता पर स्पष्ट प्रभाव पड़ता है।

शिरों में श्रीर्यशो मुखं त्विषिः केशाश्च श्मश्रूणि।
राजा में प्राणो अमृतॅंऽ सम्राट् चक्षुर्विराट् श्रोत्रम्।।[२२]

---

१९. यजुर्वेद, १०. ४१३
२०. यजुर्वेद, १०.४१४
२१. यजुर्वेद, १७.९८६
२२. यजुर्वेद, २०.११२६

यजुर्वेद [२३] में आगे कहा गया है हे श्रेष्ठ पुरुष ! सबके प्रिय तुझको प्रजा के पालन की प्रीति के लिये अभिषिक्त करता हूँ, इन्द्र और अग्नि के लिये योग्य ऐसे तुमकों अभिषिक्त करता हूँ, वायु के लिये योग्य तुझको अभिषिक्त करता हूँ, समस्त देवों के लिये तुझको अभिषिक्त करता हूँ। सम्पूर्ण देवताओं के लिये प्रीतिपात्र तुझको अभिषिक्त करता हूँ। जो पुरुष अश्व को मारना चाहता है, वरुण उसको विनष्ट करे, ऐसा पुरुष शत्रु है उसको देश से निकालकर दूर कर दिया जाये, और शत्रु पुरुष को कुत्ते के समान दूर रखा जाये। अथर्ववेद में वर्णन है।[२४] राजपद पर उसी व्यक्ति को बैठाया जाता है जो विशेष प्रभावशाली होता है, और सब जनता के विशेष सुखोपभोग प्राप्त कर देने का कार्य करता है, वही लोगों का अधिपति होता है। जो मृत्यु सब प्राणियों का अंत करने वाला है वह उस राजाका शासक या दंडधारी होकर उसकी सहायता करता है। इस प्रकार का जो प्रतापी पुरुष हो वही प्रजा की अनुमति से राज्य शासन चलावे। अर्थात् निम्न गुण राजपद हेतु योग्य व्यक्ति में होने आवश्यक थे तभी उसका अभिषेक कियाजाता था और तभी वह समस्त कार्यों का सुचारू रूप से संचालन कर पाता था। इसी प्रकार[२५] विभिन्न नदियों का जल, आकाश, समूह के जल से जो अभिषेक की बात कही गई है उसका तात्पर्य बड़ा गंभीर था। राजा का राज्य समुद्र तक फैला हुआ होना चाहिये। इससे ज्ञात होता है कि जो राज्य समूह तक फैले हुए नहीं होते, उसका व्यापार ठीक तरह से नहीं होता इसीलिये समुद्र के किनारे तक राज्य का विस्तार होना देशोन्नति के लिये आवश्यक था। इसी विचार को स्फूर्ति देने हेतु अर्थववेद के ही एक मंत्र में कहा गया है-

"या आपो दिव्याः पयसा मदन्त्यन्तरिक्ष उव वा पृथिव्याम्।
तासां त्वा सर्वासामपामभि पिश्रामि वर्चसा।"[२६]

अर्थात् उन सब जलों से मैं तुम्हारा अभिषेक करता हूँ, ताकि तुम इनके तेज से युक्त हो।

इस प्रकार वेदों में राज्याभिषेक का विशद वर्णन प्राप्त होता है सर्वप्रथम यह परंपरा वेदों से ही उद्भूत हुई राज्याभिषेक का अत्यंत महत्व इस कारण से है। क्योंकि अभिषेकोपरांत ही यह राजपद प्राप्त करता था, उसमें दैवीय गुणों का समावेश होता है और वह अपनी दैवीय शक्तियों के माध्यम से प्रजा की रक्षा करने में समर्थ हो पाता था।

इसके अतिरिक्त विभिन्न कालों में अभिषेक का वर्णन प्राप्त होता है। शुक्रादि कुछ ग्रंथकारों ने युवराज्याभिषेक का भी उल्लेख किया है। गुप्त साम्राज्य में यह प्रथा प्रचलित थी, ऐसा समुद्र गुप्त की

२३. यजुर्वेद, २२.१२७७

२४. अर्थववेद, ४.८.१

२५. अर्थववेद, ४.८.२ से ४

२६. अर्थववेद, ४.८.५

इलाहाबाद प्रशस्ति से ज्ञात होता है। जब राष्ट्रकूट वंश का तृतीय गोविंद युवराज चुना गया तब उसका
भी युवराज्याभिषेक हुआ। कलचुरी राजा कर्ण ने स्वयं अपने पुत्र का युवराज्याभिषेक किया था। वेंगी
के चालुक्य वंश में द्वितीय भीम व तृतीय विजयादित्य का युवराज्याभिषेक हुआ था। उस समय उनको
एक कंठिका अभिषेक चिन्ह के रूप में दी गई थी।

राज्याभिषेक के पश्चात् स्थाषिष्ठत राजा का जुलूस निकलता था। जुलूस के बाद दरबार
होता था जिसमें सर्व वर्गों के महाजन आकर अभिवादन करके राजनिष्ठा की शपथ लेते थे। इसके
पश्चात् खेल या रथों की दौड़ होती थी। रथ दौड़ में ऐसी व्यवस्था होती थी कि राजा ही सबसे आगे
आये।

पौराणिक काल में राज्याभिषेक में काफी हेरफेर हो गया। वाजपेय-यज्ञ रथ दौड़ें व रत्नहवि
लुप्त हो गये। राजा का शरीर अनेक प्रकार की मृत्तिका से मर्दित करने की प्रथा प्रचलित हुई। और
नदियों, समुद्र आदि के जल से अभिषेक होने लगा।[२७] पौराणिक धर्म इस समय तक इतना लोकप्रिय
हो चुका था इसीलिये पुराणों में विहित अनेक दान राज्याभिषेक के समय दिये जाते थे। राष्ट्रकूटवंशीय
इन्द्र राजा ने अभिषेक में समय ४०० ग्राम ब्राह्मणों को दान में दिये थे।

विजयनगर के कृष्णदेवराय ने अभिषेक के समय अनेक महादान दिये, व सोना, चाँदी
इत्यादि से अपने को तौल कर दान किया। इस प्रकार परवर्ती कालों में भी राज्याभिषेक विधि के विशद
वर्णन तथा कर्मकांडों से ज्ञात होता है कि उस समय भी राज्याभिषेक का अत्यंत महत्व था।

रामायण महाभारत काल के आने पर भी यह पूर्ववत् ही चलती रही। युधिष्ठिर ने अपने
राज्याभिषेक के समय अपने राजमंत्रियों का पूजन किया था। राम के राजतिलक के समय ब्राह्मण,
भूमिपति और वैश्य आदि को आमंत्रित किया गया था, इस प्रकार का उल्लेख मिलता है महाभारत में
इस राजकीय प्रतिज्ञा को 'श्रुति' के नाम से अभिहित किया जाता था। राजा का इस तरह सभी प्रकार
से प्रजा का कल्याणकारी होना अपेक्षित था उससे यह आशा की जाती थी।

समविधान ब्राह्मण [२८] में राज्याभिषेक हेतु शुभ मुहूर्त पर बल दिया गया है। अंत में यह
कहा जा सकता है कि विभिन्न युगों में राज्याभिषेकीय कर्मकाण्डों में कुछ अंतर होता रहा। इन
कर्मकाण्डों में विविधता होते हुए भी मूल भावना यही रही होगी कि राजा को देवताओं का सतत
आर्शीवाद एवं गुण प्राप्त हो। वह प्रजा में प्रत्येक वर्ग का समादर करे। राष्ट्र की धरती के कण-कण में
राजा का अनुराग हो। अपनी सुयोग्यता और दूरदर्शिता से प्रजा का पालन एवं कल्याण करता रहे। बुद्धि

२७. ऐतरेय ब्राह्मण, १२-५८, ११५-६

२८. सामविधान ब्राह्मण, ३.५ १-३

एवं पराक्रम से राष्ट्र की रक्षा तथा सीमाओं में वृद्धि करे। राज्याभिषेकीय कर्मकाण्ड राजाओं की निरंकुशता पर अंकुश लगाने के साथ-साथ उसमें सत्संस्कारों द्वारा श्रेष्ठता का आरोपण करते रहे होंगे। इस प्रकार राज्याभिषेक का महत्व स्वयं ही स्पष्ट हो जाता है।

यज्ञ-

यज्ञ शब्द की निष्पत्ति ''यज्'' धातु से भाव मे नङ प्रत्यय के संयोग से हुई है। यज् धातु के तीन अर्थ हैं, देवपूजा, संङ्गतिकरण और दान। वैदिक काल से ही यज्ञ की परंपरा चली आ रही है। ऋग्वेदीय ब्राह्मणों में यज्ञ को सर्वश्रेष्ठ कर्म [२९] प्रतिपादित करते हुए, विभिन्न सांसारिक कामनाओं की पूर्ति का मुख्य, साधन माना गया है। [३०] दीर्घायु, तेज ब्रह्मवर्चस, स्वर्ग, श्री, यश, पराक्रम, भोजन [(३१)], पशु, अन्न [३२], कल्याण [३३], प्रजा [३४] आदि कामनाओं की पूर्ति यज्ञ से ही संभव थी। पृथ्वी का एकमात्र सार्वभौम शासक होने के लिये राजसूय और अश्वमेघ आदि यज्ञों का संपादन किया जाता था।[(३५)] यज्ञों के माध्यम से पाप मोचन की कामना का उल्लेख अनेक जगह हुआ है। [३६] जिस प्रकार सांप अपनी पुरानी केंचुली से छूट जाता है,, तथा इषीका मूंज से छूट जाती है, उसी प्रकार शाकला से हवन करने वाला व्यक्ति समस्त पापों से मुक्त हो जाता है। [३७] इस प्रकार राजसूय यज्ञ, अश्वमेघ यज्ञ तथा ऐन्द्रमहाभिषेक का विधिवत वर्णन आगे किया गया है।

राजसूय या अभिषेक समारोह-

राजसूय का वर्णन करते हुए बान्धोपाध्याय ने यह स्वीकार किया है कि राजसूय केवल राजाओं के लिये था। यह एक पेचीदा समारोह था जिसमें एक के बाद दूसरा तीसरा कई संस्कार सम्मिलित थे और जो लगभग दो वर्ष में होते थे। ब्राम्हण ग्रंथों, वाजसनेयी संहिता, श्रोत सूत्रों में सात विशिष्ट यज्ञ सम्मिलित थे। पहला-अग्निस्टोम, जो पांच दिन में पूरा होता था। इसके बीच में राजा

---

२९. कौशितकीय ब्राह्मण , २५.११

३०. कौ.ब्रा., १३.१, ४.११, २.१ ऐतरेय ब्राह्मण २५.२

३१. ऐतरेय ब्राह्मण, १.५

३२. कौ.ब्रा., ४.५

३३. कौ.ब्रा., ४.५

३४. ऐतरेय ब्राह्मण १७.७

३५. ऐतरेय ब्राम्हण, अध्याय ३६,३८ तथा ३९।

३६. ऐतरेय ब्राम्हण, २६.१.२

३७. कौ.ब्रा. १८.७

को बड़े समारोह के साथ दीक्षित किया जाता था, उसके उपलक्ष्य में राजपुरोहित को पूजा-उपहार भेंट किये जाते थे, और राजा तथा पुरोहितों के बीच विवाद दूर करने के लिये एक अनुबंध होता था। दूसरा अभिषेचन- राजा के ऊपर सत्तरह प्रकार के तरल पदार्थों को छिड़कना, राजा बनने की औपचारिक घोषणा करना विजय तेलादि (उबटन) मलना, गाय-आक्रमण, उन्मुक्ति धारण करना और यज्ञमय तलवार देना आदि इसमें सम्मिलित थे। तीसरा-दासपेय अर्थात् सोम का प्याला पीने का समारोह। चौथा-केशवपाणीय-बाल काटना। पांचवा-अतिरात्र यज्ञ। छठवां-ब्युस्टि द्विरात्र। सांतवा शाही सत्ता का प्रयोग। इस प्रकार इस पेचीदा समारोह का धार्मिक रीतियों (कर्मकाण्ड) के सामाजिक और राजनीतिक कार्यों से संबंध था। इसका मुख्य उद्देश्य देवताओं को प्रसन्न करना और उनका आर्शीवाद पाना था। जिससे बुराई को दूर भगाया जा सके और शाही सत्ता के प्रयोग को नैतिक अनुशस्ति प्राप्त हो सके।[३८]

डॉ. जयसवाल ने राजसूय यज्ञ अथवा अभिषेक समारोह को तीन मुख्य भागों में बांटा है-पहले कई प्रारंभिक अनुष्ठान, दूसरे में, अभिषेचन संस्कार और तीसरे भाग में जो उसके बाद के संस्कार सम्मिलित थे। इन तीनो में सबसे अधिक अभिषेक संस्कार था।[३९] अब हम अभिषेक विधि का विस्तारपूर्वक वर्णन करेंगे।

वैदिक युग में समाज में, ब्राह्मणों एवं मंत्रियों का पृथक वर्ग के रूप में विकास नहीं हुआ था। वैदिक युगीन धार्मिक कर्मकांड अत्याधिक सरल एवं सुविधाजनक थे। अतः उन्हें सम्पन्न कराने के लिये विशेष पुरोहित वर्ग की सुविधा नहीं थी। प्रत्येक आर्य स्वयं योद्धा भी जो कि आवश्यकता पड़ने पर शासकों का प्रयोग कर सकता था। अतः समाज में रथी तथा रथकार शिल्पी आदि भी महत्वपूर्ण स्थान रखते थे और राजा को वरण करने में उनका सहयोग रहता था। ये ही राजकृतः कहलाते थे। इन्हीं के द्वारा राजा का वरण किया जाता था।

अभिषेक के पूर्व राजा के प्रति राजन्य, सेनापति, ग्रामणी, सूत, रथकार, आदि विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधि राजचिह्न के रूप में 'पर्णमणि' प्रदान करते थे जो कि एक पत्ते के रूप में होती थी। अपने में निहित राजशक्ति का आभास दिलाने के लिये राजा इस 'पर्ण' शाखा को धारण करता था। अतः अर्थववेद में राजा यह प्रार्थना करता है- हे 'पर्ण' है दीवान, रथकार और मनीषी कर्मार और मेरे चारों और उपस्थित सब जन मेरी रक्षा करें। ये पर्ण ये सूत ये ग्रामणी और राजकृत राजा व मेरे चारों ओर उपस्थित सब जन मेरी सहायता करें। इस मंत्र से स्पष्ट होता है कि ये 'पर्ण' ऐसा राजचिन्ह है

३८. बान्धोपाध्याय एन.सी., डवलपमेंट ऑफ हिन्दू पॉलिटी एण्ड पॉलिटिकल थियोरीज़, भाग १, पृष्ठ १४७-४८

३९. जयसवाल के.पी., हिन्दू पॉलिटी, पृष्ठ १९३-९७

जिसे सम्बोधित कर राजा अपने राज्य के समस्त प्रमुख पुरुषों व साधारण जनों से सहयोग की अपेक्षा करता है पर्ण प्रदान एक प्रकार से प्रजा की अनुमति का भी सूचक है।

ये धीवानो रथकाराः कर्मारा ये मनीषिणः।
उपस्तीन्पर्ण मह्यं त्वं सर्वान्कृण्वभितो जनान्।।
ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्यऽश्च ये।
उपस्तीन्पर्ण मह्यं त्वं सर्वान्कृण्वभितो जनान्।।[४०]

पर्ण प्राप्त करने के उपरांत और अभिषेक से पूर्व राजा उनके घरों में जाता था और उन्हें उपहार देता था पर्णमणि देने के अधिकारी ये रत्निय उपहार के योग्य थे अभिषेक के पूर्व राजा पर्णमणि से कहता है- पर्णमणि ! मुझमें क्षात्रवल और धारण कर। मैं राष्ट्र में व्याप्त पुरुषों में उत्तम निज बनकर रहूँ।

राज्य के कुछ महत्वपूर्ण व्यक्तियों को रत्निय कहा गया है रत्निय को भी पर्ण मणि प्रदान करने का अधिकार था राजा उनके घरों में जाकर उन्हें हवि प्रदान करता था। इससे इन अधिकारीगणों का महत्व और भी अधिक बढ़ जाता है। इस सम्मान से उनके हृदय में राजा के प्रति श्रद्धा और प्रेम हो जाता था।

वैदिक युग में राजा अभिषेक के लिये व्याघ्र चर्म पर बैठाया जाता है अथर्ववेद के एक मंत्र के अनुसार-तू स्वयं व्याघ्र है इस व्याघ्र चर्म पर बैठकर सब विशाल दिशाओं में पराक्रम कर और समस्त प्रजाएं तुझे चाहें।

व्याघ्रो अधि वैयाघ्रे वि क्रमस्व दिशो महीः।
विशस्त्वा सवा वाञ्छन्त्वापो दिव्याः पयस्वतीः।।[४१]

इसी प्रकार जब राजा सिंहासन पर आरूढ़ हो जाता था तब उसका समस्त जलों से अभिषेक किया जाता था। ये समस्त अभिषेक जल उस राष्ट्र की समस्त नदियों व जलाशयों से लाये जाते थे। अथर्ववेद के अनुसार-अंतरिक्ष और इस पृथ्वी पर जो दिव्य जल अपने सत्व रस से तृप्त हैं उन समस्त जलों से हम तेरा अभिषेक करते हैं। अथवा हम तुम्हें समस्त जलों के वर्चस से अभिसिंचित करते हैं।

मा आपो दिव्याः पयसा मदन्त्यन्तरिक्ष उव वा पृथिव्याम्।
तासां त्वा सर्वासामपामभि षिञ्चामि वर्चसा।। (४२)

---

४०. अथर्ववेद, ३.५, ६-७

४१. अर्थववेद, ३.५, ४.८.४

४२. अर्थववेद, ४.८.५

इसके पश्चात् अर्थववेद में ही विराट् या राजा को सिंहासन (आसंदी) पर बैठाये जाने का उल्लेख भी प्राप्त होता है। इससे ज्ञात होता है कि राजा सिंहासन पर बैठाया जाता था।

स संवत्सरमूर्ध्वोऽतिष्ठत् तं देवा अनुव्रन् व्रात्य किं नु तिष्ठसीतिं॥ [४३]

अभिषेक के समय राजा से कहा जाता था कि वह राज्य तुम्हें कृषि के लिये, क्षेम के लिये, समृद्धि के लिये और पुष्टि के किये सौंपा गया है, तुम इसके संचालक निमायक और धुव्ररुपेण धारणकर्ता हो।

इयं ते राट्। यन्ताऽसि, यमनो ध्रुवोऽसि धरूणः।
कृष्यैत्वां, क्षेमाय त्वा, रय्ये त्वा पोषाय त्वा॥[४४]

इसी प्रकार यजुर्वेद में भी कहा गया है जब राजा सिंहासन पर बैठता था। उस समय घोषणा की जाती थी कि यह राष्ट्र तेरी शासन शक्ति है यह तुमको कृषि के लिये, जनता के कल्याण के लिये समृद्धि के लिये और सब प्रकार के पोषण के लिये किया जाता है।

इयं ते राड्। यन्नताऽसि यमनो ध्रुवोऽसि धरुणः।
कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा, रय्यै त्वा पोषाय त्वा॥[४५]

इसका अभिप्राय यह है कि राजा को राष्ट्र धरोहर के रूप में दिया जाता था वह इसकी रक्षा और पुष्टि करे। राज्य भोग विलास के लिये नहीं था, अपितु जनता की सुख समृद्धि का प्रबंध करने के लिये था। राजत्व की प्राप्ति के लिये चिन्ह स्वरूप राजा को पर्णमणि दी जाती थी। वह पर्णमणि शत्रुनाशक, बलवर्धक और समृद्धिकारी मानी गई है। [४६]

ऐतरेय ब्राह्मण में वर्णनहै कि राजा को १७ स्थानों से लाए हुए जल से स्नान कराया जाता है। इसमें सर्वप्रथम सरस्वती नदी के जल से (अभिषेक) स्नान कराया जाता था क्योंकि वह बहती हुई जलधारा की प्रतिनिधि है। इसके बाद समुद्र, नदी, कुंए और तालाबों आदि का जल किया जाता था। ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य तीनों मिलकर स्नान कराते थे। इस अवसर पर राजा राष्ट्र से प्रतिज्ञा करता था कि -जिस रात्रि को मेरा जन्म हुआ है और जिस रात्रि को मैं मरुंगा, इन दोनों के बीच में मैंने जितने भी यज्ञ कर्म और दानादि पुण्य किये हैं, उनसे तथा स्वर्गलोक, आयु और संतान इन सबसे वंचित हो जाऊं, यदि मैं तुमसे द्वेष करूँ।[४७]

---

४३. अर्थववेद १५.३.१

४४. शतपथ ब्राह्मण ५.२.१.२५

४५. यजुर्वेद, ९.२२

४६. अर्थववेद, १.५.१ से ८ तक

४७. ऐतरेय ब्राह्मण, ८.१५

इस प्रकार उपर्युक्त प्रमाणों से स्पष्ट हो जाता है कि प्रजा अपने संरक्षण और समृद्धि के लिये राजा का अभिषेक करती थी और बदले में राजा भी अपनी प्रजा की अपेक्षाओं की पूर्ति करने का अनुबंध करता था कि राजा प्रजा के प्रति उत्तरदायी या निरंकुश नहीं है।

ब्राम्हण ग्रंथों में राजा की राज्याभिषेक विधि का विस्तृत वर्णन मिलता है शतपथ ब्राम्हण में लिखा है। राजा पृथ्वी से कहता है कि तुम मेरी हिंसा न करो ओर मैं तुम्हारी। इसका अभिप्राय यह है कि दोनों एक दूसरे के हितैषी हों। [४८] शतपथ ब्राम्हण में ही आगे लिखा है कि राजा द्वारा राजसूय यज्ञ करना अनिवार्य है, राजा वाजपेय से सम्राट बनता है, राज्यहीन है, साम्राज्य श्रेष्ठ हैं अतः सम्राट बनने की कामना करें। [४९] राजा के राज्याभिषेक करने वालों में वैदिक युग में राजकर्तारः थे उन्हीं को उत्तरवैदिक युग में अर्थात् ब्राम्हण काल में रत्निय की संज्ञा प्रदान दी गई है। इन रत्नियों को राजा द्वारा हवि प्रदान की जाती थी जिनमें ग्रामणी भी प्रमुख थे इन ग्रामणियों का उल्लेख शतपथ ब्राम्हण में निम्न प्रकार से किया गया है-ये ग्रामणी प्रायः सर्वसाधारण जनता आदमी होते थे इसी कारण शतपथ ब्राम्हण में इन्हें वैश्य कहकर संबोधित किया गया है। [५०] रत्नियों में पालागल ऐसे ही रथकर होते थे जो कि एक शिल्प से भी संबंध रखते थे राजकीय संदेशों को भी एक स्थान से दूसरे स्थान लाने ले जाने का कार्य भी यह राजकर्मचारी करते थे। उनके पास चमड़े का एक तरकश भी रहता था। यह आत्मसुरक्षा हेतु रहता होगा। राजनैतिक दृष्टि से ऐसे रत्नी की अत्यंत उपयोगी भूमिका रही होगी। [५१]

राजा को वरण करते समय रत्नियों की संख्या में थोड़ा विभेद पाया जाता है। तैत्तिरीय संहिता में इनकी संख्या ग्यारह-ब्राह्मन, राजन्य, महिषी, परिवृत्तिक, सेनानी, सूत, ग्रामणी, क्षत्तृ, संग्रहीत, भागदुध, आक्षावाप बताई गई है। शतपथ ब्रा. में इनकी संख्या बारह है। काठक संहिता में भी इनकी संख्या बारह बताई गई है। [५२] मैत्रायणी संहिता में चौदह (ब्रह्म, राजन्य, महिषी, परिवृक्ति, सेनानी, संग्रहीत, क्षत्तृ, सूत, वैश्य, ग्रामणी, भागदुध, तक्षन्, रथकार, अक्षावाप गोविकर्तृ) बताई गई है। तैत्तिरीय ब्राम्हण में बारह (ब्रह्मन्, राजन्य, महिषी, वावाता, परिवृक्ति, सेनानी सूत, ग्रामणी, क्षत्तृ, संग्रहीत, भागदुध, अक्षावाप) बताई गई है। [५४]

---

४८. शतपथ ब्राम्हण, ५.४.३.२०

४९. शतपथ ब्राम्हण, ५.२.१.३.१

५०. शतपथ ब्राम्हण, ५.२.५.६.१

५१. शतपथ ब्राम्हण, ५.२.५.१

५२. तैत्तिरीय संहिता, १.८.९

५३. काठक संहिता, १५.४

५४. शर्मा, रामशरण प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ, पृष्ठ १३८

तैत्तिरीय ब्राम्हण में जहाँ 'वावाता' को स्थान दिया है वहीं काठक संहिता में 'गौव्यच' इसकी पूर्ति करती है। शतपथ ब्राम्हण में बारह रत्निम् है यहां वावाता और परिवृक्ता के स्थान पर 'गौविकर्तन' और 'पालागल' को भी स्थान दिया गया है।[५५] शतपथ ब्राम्हण में वर्णित बारह रत्निम् इस प्रकार हैं-पुरोहित, यजमान, राजमहिषी, सेनानी, सूत, ग्रामणी, क्षत्तृ, संग्रहीत, भागदुध, अक्षावाप, गोनिकर्तन, पालागल। इस प्रकार राजा को वरण करने वाली रत्नियों में राजमहिषी का उल्लेख मिलता है, क्योंकि प्राचीन धार्मिक परंपरा में पत्नी के अभाव में कोई भी कार्य में राजा सम्पूर्णता प्राप्त नहीं कर सकता था। और पत्नी तो अर्धांगिनी स्वरूप है अतः उसके अभाव में कोई भी कार्य पूर्ण नहीं समझा जाता था।[५६] रत्नियों को हवि प्रदान किये जाने के पश्चात् राजा द्वारा उन रत्नियों की पूजा की जाती और उस समय राजा द्वारा कहा जाता था-हम तुम्हारे लिये ही अभिषिक्त होते हैं और तुम्हें अपना अनुगामी (अनुपक्रमी) बनाते हैं।[५७] रत्नियों की पूजा के पश्चात् राजा द्वारा देवताओं को बलि देना अनिवार्य समझा गया है। क्योंकि राजा में अनेक देवताओं के गुणों का समाहित रूप रहता है इस बलि प्रदान करने का प्रमाण भी शतपथ ब्रम्हाण के अंतर्गत प्राप्त होता है।[५८] रत्नियों और देवताओं की क्रमशः 'हवि' एवं 'बलि' द्वारा पूजा करके राजा का राज्यभिषेक राज्य की समस्त नदियों, जलाशयों, कुंओं इत्यादि के जल से किया जाता था। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार-ये जल सरस्वती नदियों [५९] जलाशयों [६०] कुंओं [६१], और समुद्र व वर्षा के जल आदि से ग्रहण किये जाते थे।[६२]

राज्याभिषेक के लिये प्रस्तावित राजा राष्ट्र के विविध स्रोतों को प्राप्त जल से स्नान कराने का उल्लेख वेदों में भी प्राप्त होता है। यजुर्वेद के अनुसार-

अपो देवा मधुमतीरगृभ्णन्नूर्जस्वती राजस्वश्चितानाः।
याभिर्मित्रावरुणावभ्यषिञ्चन्याभिरिन्द्रमनयन्नत्यरातीः।।''[६३]

अर्थात् जो दिव्य गुणों वाले जल, अन्तरिक्ष और पृथ्वी में अपने सारभूत रस से सबको तृप्त करते हैं, उन सब ज़लों के तेज स्नान से मैं तुझे स्नान कराता हूँ। अथर्ववेद के अनुसार-

या आपो दिव्याः पमसा मदन्त्यन्तरिक्ष उव वा पृथित्याम्।
तासां त्वा सर्वासामपामभिषिञ्चामि वर्चसा।।[६४]

---

५५. शतपथ ब्राम्हण, ५.३.१
५६. शतपथ ब्राम्हण, ५.२.१.१०
५७. शतपथ ब्राम्हण, ५.३.१.१
५८. शतपथ ब्राम्हण, ५.३.३.२-९
५९. शतपथ ब्राम्हण, ५.३. ४.३
६०. शतपथ ब्राम्हण, ५.३. ४.१२
६१. शतपथ ब्राम्हण, ५.३. ४.१५
६२. शतपथ ब्राम्हण, ५.३. ४.१०, ५.३. ४.१३
६३. यजुर्वेद, १०.१
६४. अर्थववेद, ४.८.५

अर्थात् जिन गुणों को दिव्य जलों में ग्रहण कर रखा है, जो मधु से संयुक्त है, जो रस सिक्त हैं, जो राजाओं का निर्माण करने वाले हैं, जिनसे मित्र और वरूण का अभिषेक किया जाता है। जिनके द्वारा अभिषेक समारोह करके सम्राट को (इन्द्र) शत्रुओं से पार पहुंचा देते हैं, उन जलों को मैं स्नान के लिये लेता हूँ।

प्रथम मंत्र में अन्तरिक्ष के जल से तात्पर्य वर्षा के जल से है। पृथिवी के जलों के अंतर्गत समुद्र, नदियों, जलाशयों एवं कूपों के ढाल आते हैं। द्वितीय मंत्र में जल की श्रेष्ठता का उल्लेख है अथर्ववेद के एक मंत्र के अनुसार राज्याभिषेकीय स्नान में राजा को जल की प्रशंसा के मंत्रों का उच्चारण करना चाहिये।

येनेन्द्राय समभरः पयांस्युत्तमेन ब्राह्मणा जातवेदः।
तेन त्वमग्न इह वर्धयेमं सजातानां श्रेष्ठय आ धेह्येनम्।।[६५]

दूध[६६] घी[६७] और जो अन्य द्रव्य पदार्थ हैं उन्हें भी राजा के अभिषेक हेतु प्रयोग में लाया जाता था अभिषिक्त हुआ राजा कहता है-मैं जन का भरण करने वाला हो सकूँ इसीलिये राष्ट्र को देने वाले जलों मुझे राष्ट्र प्रदान करो।[६८] राजा के इस प्रकार कह लेने पर रत्नियों द्वारा (राजा के अभिषेक कर्ताओं) यह कहा जाता था-यह राष्ट्र जन का धारण करने वाले हो सके अतः राष्ट्र के देने वाले जल इसे राष्ट्र प्रदान करें।[६९] सबसे पहले राजा का अभिषेक प्रजाजनों द्वारा किया जाता है।[७०] प्रजाजनों द्वारा अभिषेक कर दिये जाने के बाद राजा को मित्रावरूण की वेदी के सम्मुख रखे गये शार्दूल चर्म पर बैठाया जाता है।[७१] वैदिक युग में राजा को व्याघ्र चर्म पर बैठाये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है। उत्तर वैदिक युगीन ब्राम्हण काल में शतपथ ब्राम्हण में वर्णित शाईल चर्म का तात्पर्य इसी व्याघ्र चर्म से है। यहां शाईल का अभिप्राय व्याघ्र से है। राजा के शाईल चर्म पर आसीन हो जाने के पश्चात् उसका अभिषेक ब्राम्हण स्व (राजा के अपने ही कुल का कोई व्यक्ति)[७३] राजन्य[७४] और वैश्य [७५] द्वारा क्रमशः किया जाता था। राजा के अभिषेक कार्य में शूद्रों को कोई स्थान प्राप्त नहीं था। तैत्तिरीय संहिता में 'स्व' के स्थान पर 'जन्म' का वर्णन है। [७६] जिसका अभिप्राय राजा के अपने कुल के व्यक्ति से ही है,

---

६५. अर्थववेद, १.९.३
६७. शतपथ ब्राम्हण, ५.३ ४.२०, ५.३. ४.१७
६९. शतपथ ब्राम्हण, ५.३. ४.१९
७१. शतपथ ब्राम्हण, ५.३, ५.१
७३. शतपथ ब्राम्हण,५.३. ५.१२
७५. शतपथ ब्राम्हण, ५.३. ५.१४
६६. शतपथ ब्राम्हण, ५.३. ४१.९
६८. शतपथ ब्राम्हण, ५.३. ४.१९
७०. शतपथ ब्राम्हण, ५.३. ५.१
७२. शतपथ ब्राम्हण, ५.३. ५.११
७४. शतपथ ब्राम्हण, ५.३. ५.१३
७६. तैत्तिरीय संहिता, १.७.८

राजा के राज्याभिषेक के पश्चात् उसे वस्त्र प्रदान किये जाते थे, वह ऊष्णीय आदि विविध वस्त्रों को धारण करता था।[७७] वस्त्रों को धारण करने के उपरांत राजा को तीन बाण एवं धनुष दिये जाते थे जो उसकी क्षात्र शक्ति के परिचायक थे।[७८] जो ये धनुष बाण राजा को दिये जाते थे, ये क्रमशः पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ के सूचक थे। जिससे तात्पर्य यह है कि राजा का कार्य है इन तीनों लोकों में सुरक्षा की व्यवस्था कर सके जो कि राजा का सबसे महत्वपूर्ण कार्य था इस प्रकार राजा के अभिषेक की विधि पूर्ण हो जाती थी।

राजा की अभिषेक विधि पूर्ण हो जाने के पश्चात् इसकी सर्वत्र घोषणा की जाती थी, इस अभिषेक की घोषणा मुख्य रूप से गृहपति, अग्नि, वृद्धश्रवा इन्द्र मित्रावरणौ, देवता, विश्वेदेवा पूषा, धावापृथिवी और अदिति आदि देवताओं को संबोधित करके की जाती थी। [७९] इनकी अनुमति में प्रजा की अनुमति के संकेत हैं इनके अनुमोदन पर ही अभिषेक की मान्यता होती है। घोषणा के पश्चात् राजा सिंहासन से नीचे उतरता है, सुअर के बने हुए चमड़े के जूते पहनता है। [८०] और रथ पर बैठकर दूर-दूर तक भ्रमण करता है और लौटकर उसी आसन पर बैठ जाता है। तब उसकी पीठ पर धीरे-धीरे दण्ड से प्रहार किया जाता है।[८१] इसका तात्पर्य यह है कि राजा भी दण्ड के अधीन है वह उससे परे नहीं है किंतु शतपथ ब्राम्हण में लिखा है कि यह दण्ड प्रहार राजा को अदण्ड्य कर देता है। [८२] इसके अतिरिक्त दण्ड प्रहार क्षत्रियों या ब्राम्हणों की प्रभुता का द्योतक है।

मातृभूमि के नमस्कार करने के पश्चात् प्रजागण राजा को नमस्कार करते हैं। वह ब्राम्हणों को ब्राम्हण शब्द संबोधित करता है। वे उसे कहते हैं-तुम ब्राम्हण हो, वरूण हो, विशों की सामूहिक शक्ति से सम्पन्न हो।[८३] ब्राम्हणों के इस कथन से राजा को न्याय और संविधानिक अधिकार प्राप्त होते हैं। पुरोहित द्वारा तलवार प्रदान कर उसे बलवान बनाया जाता था यह सारे कार्य सम्पन्न हो जाने के पश्चात् राजा को राज्य की जनता के तीन वर्गों (ब्राम्हण) पुरोहित राजमाता (सूत रथपति, व ग्रामणी) और अन्न सजात लोगों द्वारा अपनी अधीनता, निष्ठा, भक्ति के परिचय हेतु तलवार प्रदान किये जाने का उल्लेख है इस कार्य को करते समय यह मंत्र कहा जाता था-विविध वर्गों की भक्ति एक ऐसा व्रज है जो राजा को, जो स्वयं (व्यक्तिगत रूप से) बल विहीन होता है, बलवान बना देता है।[८४] इसी प्रसंग से संबंधित शतपथ ब्राम्हण में एक और मंत्र अत्यंत महत्वपूर्ण है। जब किसी व्यक्ति को राजसूय यज्ञ

---

७७. शतपथ ब्राम्हण, ५.३.५. २०-२३

७८. शतपथ ब्राम्हण, ५.३.५. २७-२९

७९. शतपथ ब्राम्हण, ५.३.५. ३१-३७

८०. शतपथ ब्राम्हण, ५.४.३.१९

८१. शतपथ ब्राम्हण, ५.४.४.७

८२. शतपथ ब्राम्हण, ५.४.४.७

८३. वाजसनेयी संहिता, १०.२८; तैत्तिरीय संहिता १.७.१०, श. ब्रा. ५.४.४.१५

८४. शतपथ ब्राम्हण, ५.४.४.१५

करके राजा बना दिया गया है तो उसके संबंध में कहा गया है कि जिसका अभिषेक हो गया है, वह अब महान हो गया है, पृथ्वी उससे भय खाती है, पर वह भी भय खाता है कि पृथ्वी कहीं पद भ्रष्ट करके उसको अनादर न करें। इसीलिये वह पृथिवी के साथ मैत्रीपूर्ण संबंध स्थापित करके रखता है क्योंकि न माता पुत्र की हिंसा करती है और न पुत्र माता की।[८५] परंतु राजा प्रार्थना भी करता है कि हे पृथिवी तू मेरी माता है। न तू मेरी हिंसा कर, न मैं तेरी हिंसा करूं।

राजा का पद एक ही वंश में रहे, अतः यह प्रवृत्ति इस युग में आरंभ हो गई थी कि राजा के पश्चात् उसके पुत्र को ही राजपद प्राप्त हो।[८६] इस प्रकार राज्याभिषेक की घोषणा के पश्चात् राजा द्वारा जो शपथ ग्रहण की जाती थी। उससे स्पष्ट होता है कि वैदिक राजनीति में प्रजा हितों का विशेष ध्यान रखा जाता था। नैतिक रूप से राजा कोई भी ऐसा कार्य नहीं कर सकता था। जिससे प्रजा को कोई कष्ट हो, शपथ से स्पष्ट हो जाता है कि राजा को अपनी सीमित सत्ता का ध्यान रहता था।

राज्य में चाहे किसी भी प्रकार की शासन प्रणाली हो-साम्राज्य, भौज्य, स्वराज्य, वौराज्य, पारमेष्ठ राज्य, महाराज्य, अधिपत्य, समन्तपर्यायी, और सार्वभौम परंतु शासन शक्ति जिस भी व्यक्ति के हाथों में दी जाती थी, यह शपथ ग्रहण करना राजा के लिये आवश्यक था।[८७] जयसवाल के अनुसार शपथ संविदात्मक है जिससे कि ज्ञात होता है कि जिसकी आलोचना करने पर राजा राजत्व से ही नहीं, अपितु वायु, सुकृत और संतति से भी वंचित हो जाता है।[८८]

इस विषय में अल्तेकर का मत है कि शपथ प्रजा के प्रति न होकर शपथ दिलाने वाले के प्रति है, जिसमें राजा की सुरक्षा समृद्धि के लिये दैवीय शक्ति का आह्वान किया है वर्गीय ब्राम्हण (पुरोहित) को समस्त प्रजा का प्रतिनिधि नहीं माना है। उस युग में समीति का नियंत्रण और निर्वाचन पद्धति का भी महत्व होगा। जबकि हम शपथ को मात्र पुरोहित के लिये न समझकर प्रजा के लिये समझेंगे।[८९]

शपथ ग्रहण करने के पश्चात् राजा चारों दिशाओं, पूर्व पश्चिम उत्तर, दक्षिण की ओर मुख करके दिशाओं द्वारा अपनी रक्षा का आर्शीवाद प्राप्त करता था। (पूर्व दिशा में उसे व्रश, दक्षिण दिशा में क्षत्र, द्रविण, पश्चिम से विड् द्रविण (सर्व साधारण प्रजा के धन) और उत्तर दिशा में फल द्रविण (सम्भवतः शूद्र धन) के रक्षित होने का आश्वासन प्राप्त होता था।[९०] दिशाओं के अभिमुख हो

---

८५. शतपथ ब्राम्हण, ५.४.३.२०
८६. ऐतरेय ब्राम्हण, ८.१२
८७. ऐतरेय ब्राम्हण, ८.१५
८८. जयसवाल के.पी., हिन्दू पॉलिटी, पेज २१०
८९. अल्तेकर अनंत सदाशिव, स्टेट एण्ड गर्वनमेंट इन एनशियेंट इंडिया, पृष्ठ ११७
९०. शतपथ ब्राम्हण, ५.३.५ ३-६

आरोहण का तात्पर्य था कि राजा के सम्मुख क्षेत्र और समाज के चारों वर्गों की धन सम्पत्ति की रक्षा हो सके। उसके पश्चात् राजा एक ऐसे स्वर्ण पत्र (रूकम) द्वारा अभिषेक किया जाता था जिसमें सौ छिद्र होते थे ये छिद्र राजा के शतायु होने के परिचायक थे। [९१]

इस प्रकार ब्राम्हण एवं संहिता काल या उत्तरावैदिक युग में राजा के राज्याभिषेक की लम्बी और विविधता पूर्ण प्रथा प्रचलित थी। राजा की मृत्यु के पश्चात् भी शासन करने का उल्लेख है उसके पुत्र द्वारा पैतृक शासन करने पर भी शासन करने का उल्लेख है और एक राजा की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र द्वारा पैतृक शासन करने पर परम्परानुसार शासन करने का विधान है।

महाकाव्य काल में भी राजा के अभिषेक का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। वाल्मीकि रामायण में श्रीराम के राज्याभिषेक का विस्तृत वर्णन है वन से लौटने के पश्चात् नाना प्रकार की वस्तुएँ वशिष्ठ और वामदेव द्वारा स्वर्ण आदि, धातुरत्न, औषध, उज्जवल माला, खील, शहद, वस्त्र रथ, अस्त्र-शस्त्र, चर्तुवर्गी सेना, चंबर, पंखा, क्षत्र, ध्वज, एक सौ सात कुंभ, आदि लाने का आदेश दिया गया। यह भी कहा गया कि अंतःपुर और नगर के समान्त द्वार चंदन, माला एवं सुगंधिक धूप से सुसज्जित हों, स्थान-स्थान पर वंदन लगे हो, राजमार्ग पर छिड़काव हों, सब गौएँ सज-धज कर राजा भवन के दूसरे कक्ष में टिकें, देवालयों और चौराहों में भोज्य पदार्थों माला आदि भेजे जायें, और अश्वधारी वीर अपनी वेशभूषा में महाराज के आंगन में प्रवेश करें। अभिषेक के लिये वानरों द्वारा चारों समुद्र और विभिन्न नदियों से लाये हुए पवित्र जल से सिंहासन पर बैठाये गये, सीता सहित राम का, वशिष्ठ, जावालि, काश्यप, कात्यायन, गौतम, वामदेव आदि महीषियों क्रित्विजों, आमात्य, पुरवासी तथा वणिक, जनों ने प्रसन्न मन से अभिषेक किया। अभिसिंचन के पश्चात् वशिष्ठ जी ने राम के मस्तक पर मुकुट धारण किया अन्य ऋत्विजों ने राम को अन्य आभूषणों से सुसज्जित किया। शत्रुघ्न ने केवल सूचक श्वेत पत्र, सुग्रीव और विभीषण ने श्वेत चंबर ग्रहण किया। गंधर्वो ने गान किया अप्सराओं ने नृत्य किया। इस अवसर पर ब्राम्हणों को घोड़े, गाय बैल और अशर्फियां तथा युद्ध सखा व सेनापतियों को बहुमूल्य रत्न व पुरस्कार राम द्वारा प्रदान किये गये। [९२]

इस प्रकार वैदिक युगीन परम्परानुसार महाकाव्यकाल में भी राम का राज्याभिषेक विभिन्न नदियों एवं समुद्रों के जल से किया गया और अभिषेकोपरांत ब्राम्हण और सेनापति आदि को पुरस्कार जो वैदिक काल में 'हवि' के रूप में दी जाती थी इसके देने का उल्लेख मिलता है।

महाभारत में भी अनेक राजाओं के सिंहासनरूढ होने का वर्णन मिलता है, जिसमें तत्कालीन राज्याभिषेक एवं विधि पर पर्याप्त प्रकाश मिलता है। सिंहासनसीन होने के पूर्व सर्वप्रथम

९१. शतपथ ब्राम्हण, ५.३.५.१३

९२. वाल्मीकि रामायण, युद्धकाण्ड, सर्ग ७४-४

राजा अपने राज्य के भली प्रकार संचालन के लिये आमात्यों एवं अन्य सभासदों के साथ प्रेम एवं सहृदयता के संबंध स्थापित करता है। इसका प्रमाण हमें सभापर्व में मिलता है जब राजा युधिष्ठर सभासदों की पूजा करते हैं। [९३]

वैदिक काल में अभिषेक के समय मात्र ब्राम्हण की उपस्थिति मान्य थी किंतु जातिगत बंधन शिथिल होते-होते ब्राम्हणकाल तक क्षत्रियों एवं वैश्यों को भी इस शुभ अवसर पर सम्मिलित कर लिया गया। महाभारत कार का दृष्टिकोण और अधिक उदारतापूर्ण हो गया। उन्होंने शूद्र को भी अभिषेक संबंधी कर्मकाण्ड में उपस्थित होने योग्य माना है। [९४]

समाज में स्त्री वर्ण को भी अभिषेक के समय उपस्थित रहने का अधिकार था।[९५] इस प्रकार महाभारत कालीन परम्परा में सबकी उपस्थिति इस बात की परिचायक है कि राजा का अभिषेक सर्व सम्मति से हुआ था। महाभारत में राजा का अभिषेक निर्धारित तिथि के अनुसार सम्पन्न होता था समस्त आनंदिता व्यक्तियों के मध्य राजा विराजता था। [९६] सबसे पहले उसे श्वेत पुष्प, स्वास्तिक, अक्षत, भूमि, स्वर्ण रजत एवं मणि का स्पर्श कराया जाता था। उसके पश्चात् पुरोहित अभिषेक के संबंधित समस्त वस्तुएँ-जैसे मिट्टी, स्वर्ण, तरह-तरह के रत्न, सोना, चांदी, तांबे और मिट्टी के बने जलपूर्व कलश, फूल माला, कुशा, गौरस, शमी, पीपल और पलाश की समिधाएँ, मधु, घृत, मूलर की लकड़ी का स्रुवा तथा स्वर्ण मण्डित, शंखादि लेकर उपस्थित होता था। जिस वेदी पर राजा का अभिषेक किया जाता था। उसे पुरोहित द्वाराही निर्मित किया जाता था। वेदी पर राजा रानी सहित उपस्थित होता था। तत्पश्चात् पुरोहित वेदों पर अग्नि को स्थापित करके उसमें अभिषेक मंत्रों के साथ आहूति देता था। मंत्रोचारण करते हुए सर्वप्रथम पुरोहित पवित्र जल से उसका अभिषेक करता था तदनन्तर प्रकृति वर्ग के अन्य सभी लोग राजा का अभिषेक करते थे। अंत में राजा द्वारा ब्राम्हणों से आर्शीवचन कराकर उन्हें यथायोग्य दक्षिणा दिये जाने का उल्लेख है। [९७]

अभिषेक के उपरांत शपथ या प्रतिज्ञा करने का उल्लेख महाभारत में मिलता है राजा पृथु सिंहासन पर आसीन होते समय ऋषिगण उनसे प्रतिज्ञा करवाते हैं कि वह मन वाणी और कर्म से भूतलवर्ती वेद का निरंतर पालन करेगा, वेद में दण्डनीति से संबंधित जो नित्य धर्म है उनका निःशक पालन करेगा और कभी स्वच्छन्द नहीं होगा। [९८] इस प्रकार महाभारत में राज्याभिषेक के समय नीति

९३. सभापर्व, १३,४,२६,२९
९४. सभापर्व, अध्याय ३६
९५. महाभारत शांतिपर्व, ४०.६१
९६. महाभारत शांतिपर्व, ४०.१-५
९७. महाभारत शांतिपर्व, पूरा ४० वाँ अध्याय
९८. महाभारत शांतिपर्व, ५९.१२२, ११३

शास्त्र द्वारा निर्दिष्ट धर्माचरण में प्रवृत्त रहने की शपथ राजा द्वारा किये जाने का प्रमाण वेद है। इसके अतिरिक्त उसे यह भी प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी कि ब्राम्हण उसके द्वारा सदैव अवहत रहेंगे तथा वह सम्पूर्ण जगत को वर्णसंकरता और धर्मसंकरता से बचाएगा। [९९]

महीषियों को आज्ञानुसार राजा द्वारा कार्य किये जाने की शपथ राजा द्वारा ली जाती थी।[१००] इस प्रकार हम कह सकते हैं कि परवर्ती कालों में राज्याभिषेक के प्रक्रिया की परम्परा में थोड़ा बहुत अंतर आ गया था परंतु राज्याभिषेक के मूल बिन्दु वेदों में भी प्राप्त होते हैं।

अश्वमेघ यज्ञ-

अश्वमेघ यज्ञ की उत्पत्ति अति प्रारंभिक काल में हुई थी और बाद में इसे सबसे महान् यज्ञ समझा जाने लगा। प्राचीन काल में सार्वभौम राजाओं ने इस यज्ञ को किया था। शतपथ ब्राम्हण में इसे उत्सन्न यज्ञ बताया गया है। राजसूय यज्ञ की भाँति यह एक पेचीदा यज्ञ था; परंतु राजसूय यज्ञ कोई भी यज्ञ राजा या सामंत कर सकता था, अश्वमेघ यज्ञ राजाओं के राजा द्वारा किया जाता था। अश्वमेघ यज्ञ दिग्विजय करके किया जाता था, परंतु इसका फल वाजपेय यज्ञ के समान होता था। शतपथ ब्राम्हण के अनुसार-अश्वमेघ राष्ट्रीय यज्ञ है।

"राष्ट्र वा अश्वमेघः"

इससे पता चलता है कि अश्वमेघ यज्ञ राष्ट्र की समृद्धि का यज्ञ है। सम्राट अपने राष्ट्र की स्थिरता हेतु अश्वमेघ यज्ञ करता था। रामायण में कहा गया है कि इसके करने वाला सभी पापों और बुरे कर्मों से पवित्र हो जाता था-

अश्वमेघो महायज्ञः पावनः सर्वपात्मनाम्।
पावनस्तव दुर्धर्षी रोचतां रघुनन्दन।।

प्राचीन काल में विश्व विजय के बाद अश्वमेघ यज्ञ किया जाता था। एगलिंग के अनुसार-यह राज्य का एक महान कार्य था जिसमें धार्मिक और याज्ञिक तत्वों को घनिष्ठता तथा चतुराई से मिलाया गया था। और जिसके कार्यक्रम में विभिन्न लौकिक समारोह सम्मिलित थे। [१०१] राजनीतिक सर्वोच्चता का प्रदर्शन करने के अतिरिक्त कई दृष्टि से भी यह यज्ञ किया जाता था, तथा इन यज्ञों को करने का लक्ष्य रखा जाता था जिन्हें यज्ञ द्वारा प्राप्त किया जाता था। धन, शक्ति, पुत्र, पापों से स्वतंत्रता आदि के लिये भी इससे संबंधित वेदों में प्रार्थना की जाती थी ऐसा वर्णन प्राप्त होता है।

---

९९. महाभारत शांतिपर्व, ५९.११४

१००. शांतिपर्व, ५९.१०८

१०१. दीक्षितसार, बी.आर.आर., हिन्दू एडमिनिस्ट्रेटिव इन्सटीट्यूशन्स, पृष्ठ ९१।

तैत्तिरीय ब्राम्हण के अनुसार, जैसा कि सायणाचार्य का निर्वाचन है, इस यज्ञ की मुख्य विशेषताएँ ये थीं- (१) राज्य में सभी प्रकार के धन की उपस्थिति (२) सभी प्रकार के कल्याण का अस्तित्व (३) प्रचुर खाद्य पदार्थ (४) पशुओं से प्रचुर घी दूध आदि का उत्पादन, (५) उसके हितों का निरंतर प्रवाह, (६) उसका गौरव (७) देश के ब्राम्हणों को ख्यति प्राप्त करने की इसकी शक्ति (८) पाप दूर करने की शक्ति (९) सम्पत्ति का अर्जन इत्यादि।

अश्वमेघ यज्ञ में एक वर्ष पंद्रह दिन लगते थे परंतु इससे संबंधित आवश्यक कर्मकाण्ड अंतिम तीन दिन में पूरा किया जाता था, शेष समय तैयारी का काल रहता था। अश्वमेघ यज्ञ का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है-इससे संबंधित अभिरुचि का केन्द्र यज्ञ या अश्व होता था, जिसे पास पड़ौस के प्रदेश में छोड़ा जाता था और जिसके लौट आने पर समारोह पूर्वक बलि किया जाता था। यजुर्वेद के अनुसार इसका आरंभ अश्व को सोने के आभूषण पहनाकर होता था। अश्व की रक्षा की जाती थी, उसको स्नान कराया जाता था, जिसके बाद यज्ञ कर्मकाण्ड पूरे किये जाते थे। सूर्य तथा अग्नि सहित अनेक देवताओं को पशुओं की बलि दी जाती थी। अश्व की प्रशंसा की जाती थी। और कान में मंत्र कहकर उसकी रक्षा के लिये देवताओं से प्रार्थना की जाती थी। राजा अपने राज्य और समुदाय की समृद्धि के लिये प्रार्थना करता था।

इन समारोहों के पश्चात् अश्व को छोड़ दिया जाता था। एक वर्ष तक बाहर जाने के काल में रोजाना संस्कार किया जाता था। ग्यारहवें माह में अश्व के लौटने के पश्चात् उसे नहलाया जाता था और उसे एक अस्तबल में रखा जाता था। अन्य सभी आवश्यक संस्कारों के करने के बाद अश्व को हीरों से सजाया जाता था, और कुछ अन्य कर्मकाण्ड के बाद उसे बलि किया जाता था। यजमान की स्त्री उसके मृत शरीर के चारों और परिक्रमा करती थी। कुछ अन्य कर्मकाण्ड और मंत्रों के उच्चारण के पश्चात् महिषी उसके शरीर के पास लोटती थी, जिसका लक्ष्य यह था कि उसके सद्गुणी व शक्तिशाली पुत्र का जन्म हो। ब्राम्हण और उत्तर ब्राम्हण काल में इसका काफी महत्व रहा है। महाकाव्य साहित्य में अश्व विजेता राजा की प्रभुसत्ता का चिन्ह बन गया और उसके बाहर घूमने के दौरान जो कोई अश्व को पकड़ता था उसे राजा की सत्ता का शत्रु समझा जाता था। इसका फल युद्ध होता था, यदि उसमें अश्व को पकड़ने वाला जीत जाता था तो वह अश्व छोड़ते वाले का स्थान पाता था।

महाकाव्य युग में भी अश्वमेघ यज्ञ का विशद वर्णन प्राप्त होता है वाल्मीकि रामायण में वर्णन है कि राजा दशरथ के वंश को चलाने वाला कोई पुत्र नहीं था। निरंतर चिंता के पश्चात् एक दिन उनके मन में प्रश्न उठा कि पुत्र प्राप्ति के किये मैं क्यों न अश्वमेघ का अनुष्ठान करूँ।

चिन्तयानस्य तस्यैवं बुद्धिरासीन्महात्मनः।
सुतार्थं वाजिमेधेन किमर्थं न यजाम्यहम्।।[१०२]

राजा दशरथ ने अपने मंत्रियों व पुरोहितों से परामर्श किया तथा शीघ्रतापूर्वक सुमन्त्र ने मुनियों को वहाँ बुलाया। सुयज्ञ, वामदेव, जाबालि, काश्यप, कुल पुरोहित, वशिष्ठ तथा और भी जो श्रेष्ठ ब्राम्हण थे, उन सबकी पूजा करके धर्मात्मा राजा दशरथ ने धर्म और अर्थ से युक्त मधुर वचन कहा-महाषिर्यो! मैं संदा पुत्र के लिये विलाप करता रहता हूँ। उसके बिना इस राज्य आदि से मुझे सुख नहीं मिलता; अतः मैंने यह निश्चय किया है कि मैं पुत्र प्राप्ति के लिये अश्वमेघ द्वारा भगवान का भजन करूं।

मम लालप्यमानस्य सुतार्थं नास्ति वे सुखम्।
तदर्थं हयमेधेन यक्ष्यामीति मतिर्मम।।[१०३]

राजा दशरथ ने कहा! मेरी इच्छा है कि शास्त्रोक्त विधि से इस यज्ञ का अनुष्ठान करूँ, अतः किस प्रकार मुझे मेरी मनोवाञ्छित वस्तु प्राप्त होगी इसका विचार आप लोग यहाँ करें।

राजा के ऐसा कहने पर वशिष्ठ अदि ब्राम्हणों ने बहुत अच्छा कहकर उसके मुख से कही गई बात की प्रशंसा की। फिर वे सभी अत्यंत प्रसन्न होकर राजा दरशथ से बोले-महाराज! यज्ञ सामग्री का संग्रह किया जाये भूमंडल में भ्रमण के लिये अश्व छोड़ा जाये तथा सरयू के उत्तर तट पर यज्ञ भूमि का निर्माण किया जाये। तुम यज्ञ द्वारा सर्वथा अपनी इच्छा के अनुरूप पुत्र प्राप्त कर लोगे; क्योंकि पुत्र के लिये तुम्हारे हृदय में धार्मिक बुद्धि का उदय हुआ है।[१०४] उपरोक्त वर्णन से ज्ञात होता है कि पुत्र प्राप्ति हेतु भी इस यज्ञ का सम्पादन किया जाता था।

महाभारत के सभापर्व, शांतिपर्व में भी यज्ञों के विषय में वर्णन प्राप्त होता है। प्रत्येक राजा सम्राट बनने की आकांक्षा रखता था। सम्राट के अधीन अनेक करद व सामंत होते थे। शांतिपर्व[१०५] में वर्णन आता है कि जब युधिष्ठिर महाभारत युद्ध के उपरांत उद्विग्न हो जाते हैं और वनवास की इच्छा प्रगट करते हैं तो उनका छोटा भाई नकुल युधिष्ठिर के चित्त को परिवर्तित करने की इच्छा से बोला वेद जाने वाले पण्डितों ने ऐसा कहा है कि गृहस्थाश्रम ही सब आश्रमों में श्रेष्ठ है। वनवासी न बनकर, फलासक्ति से रहित होकर गृहास्थाश्रम में ही कर्तव्यों का अनुष्ठान करने वाले पुरुष उन आश्रमवासियों

---

१०२. वाल्मीकीय रामायण, बालकाण्ड, सर्ग ८, श्लोक २

१०३. वाल्मीकीय रामायण, बालकाण्ड, सर्ग ८, श्लोक ८

१०४. वाल्मीकीय रामायण, बालकाण्ड, सर्ग ८, श्लोक ११-१२

१०५. महाभारत, शांतिपर्व, १२.१-२७

से श्रेष्ठ और प्रकृत सन्यासी हैं। नकुल ने कहा है कि गृहस्थाश्रम में स्थित राजाओं को सर्वमेघ, अश्वमेघ, और राजसूय आदि यज्ञों में धन त्याग के अतिरिक्त दूसरी भांति का त्याग अर्थात् सन्यास ग्रहण करते नहीं देखा। इस उदाहरण से स्पष्ट होता है कि राजाओं में सम्राट बनने की भावना बड़ी प्रबल होती थी और उसकी पूर्ति के लिये वे अश्वमेघ के अतिरिक्त अन्य यज्ञ भी करते थे।

ब्राह्मण ग्रंथों में यज्ञ की बड़ी महिमा बताई गई है और कहा गया है कि यज्ञ सभी कर्मों में श्रेष्ठ कर्म है यज्ञ के द्वारा मनुष्य सारे पापों से छूट जाता है; अश्वमेघ यज्ञ करने वाले सारे पापों और ब्रह्महत्या को विनष्ट कर डालता है। जैसे-जैसे समय बीतता गया वैसे-वैसे समाज में यज्ञों और कर्मकाण्डों की प्रतिष्ठा बढ़ती गई। ये कर्मकाण्ड अत्यंत जटिल हो गये। इसके विधान तथा इनकी क्रियाओं को समझने के लिये एक नये साहित्य का प्रादुर्भाव हुआ जो, ब्राह्म साहित्य के नाम से प्रख्यात हैं। ब्राह्म का अर्थ है यज्ञ अतः यज्ञ के विषयों का प्रतिपादन करने वाले 'ब्राह्मण ग्रंथ' कहलाये। ये वेदों पर ही आधारित है। वैदिक मंत्रों की व्याख्या करते हुए ही ये अपने यज्ञों को प्रतिपादित करते हैं।[१०६]

ऐतरेय ब्राह्मण[१०७] में वर्णन है कि अश्वमेघ यज्ञ क्षत्रिय के लिये विजय प्राप्ति के अनन्तर सम्पाद्यमान विशेष कृत्य था। जिसके द्वारा राजा अपनी शक्ति व प्रभाव की स्थापना करता था। इस यज्ञ में विशेष विधि कर्तव्यों का ब्राह्मण ग्रंथों में उल्लेख नहीं है। केवल उन सार्वभौम राजाओं की सूचना है जिन्होंने इस यज्ञ का अनुष्ठान किया और सम्पादन के बाद प्रभूत जनसंपत्ति दक्षिणा स्वरूप ब्राह्मणों को वितरित की।

प्राचीन समय में भारत के आर्य राजा-जब अपनी शक्ति का विस्तार करने के लिये दिग्विजय करते थे तथा उसके बाद अश्वमेघ यज्ञ किया करते थे। उत्तरवैदिक युग में आर्य वंशी राजा जन्मेजय ने नाग जाति से अपने पिता (परीक्षित) की मृत्यु का बदला लेने का निश्चय किया। और इसके लिये अश्वमेघ यज्ञ का आयोजन किया। पुराणों में अलंकारिक रूप से लिखा है कि यज्ञ के प्रभाव से नाग (सर्प) स्वयं अग्निकुंड में गिरकर भस्म होने लगे। नागराज तक्षक ने यज्ञ के प्रभाव से बहुत बचने का प्रयत्न किया पर वह सफल नहीं हो सका और स्वयं भी अंत में अग्निकुंड में गिरकर भस्म हो गया।[१०८]

परवर्ती कालों में (१३ वीं शताब्दी तक भी) अश्वमेघ यज्ञ करने का वर्णन अनेक स्थानों में प्राप्त होता है।

---

१०६. पाण्डेय, विपिनचंद्र, प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास, पृष्ठ-५

१०७. ऐतरेय ब्राम्हण, ३९,७-९ तक

१०८. विद्यालंकर सत्यकेतु, प्राचीन भारत, पृष्ठ १०१

शुङ्ग वंश में अयोध्या में पुष्यमित्र का एक शिलालेख प्राप्त हुआ, जिसमें उसे 'द्विरश्मेधमाजी' कहा गया है। इससे सूचित होता है कि पुष्यमित्र ने दो बार अश्वमेघ यज्ञ का अनुष्ठान किया था। हरिवंशपुराण के अनुसार राजा जन्मेजय के बाद उसी ने अश्वमेघ यज्ञ किये थे। अहिंसा-प्रधान बौद्ध और जैन धर्मों के उत्कर्ष के कारण इस यज्ञ की परिपाटी भारत में विलुप्त हो गई। अब पुष्यमित्र ने इसे पुनरुज्जीवित किया। संभवतः, पतञ्जलि मुनि इन यज्ञों में पुष्यमित्र के पुरोहित थे। इसीलिये उन्होंने महाभाष्य में लिखा है-'इह पुष्यमित्र याजयामः (हम यहां पुष्यमित्र का यज्ञ करा रहे हैं।)' अश्वमेघ के लिये जो घोड़ा छोड़ा गया, उसकी रक्षा का वसुमित्र के सुर्पुद किया गया था। सिंधु नदी के तट पर यवनों ने इस घोड़े को पकड़ लिया और वसुमित्र ने यवनों को परास्त कर इसे उनसे छुड़वाया।[१०९]

चोल वंश में भी अश्वमेघ यज्ञ का वर्णन मिलता है चोल राजा प्राचीन भारतीय यज्ञ एवं दान परंपरा के पोषक तथा राजगुरु के प्रति सम्मान का भाव रखते थे। इसीलिये राजाधिराज ने अश्वमेघ यज्ञ किया था।[११०]

सातवाहन वंश के संस्थापक का नाम सिमुक था। उसकी राजधानी महाराष्ट्र में गोदावरी नदी के तट पर स्थित प्रतिष्ठान या पैठन थी। नासिक तथा उसके समीप के प्रदेश सिमुक के राज्य के अंतर्गत थे। सिमुक के बाद उसका भाई कृष्ण और कृष्ण के बाद उसका पुत्र सातकर्णि राजा बना। सातकर्णि बहुत ही शक्तिशाली राजा था और धीरे-धीरे यह सम्पूर्ण महाराष्ट्र का स्वामी बन गया। पश्चिमी घाट के सारे प्रदेश और कोकण के बन्दरगाह उसके अधीन थे। सातकर्णि ने अपनी विजय के उपलक्ष्य में दो बार अश्वमेघ यज्ञ किये थे। वह मगधराज पुष्यमित्र और कलिंगराज खारवेल का समकालीन और १७५ ई.पू. के लगभग राजसिंहासन पर आरूढ हुआ था।[१११]

गुप्त काल में समुद्र गुप्त ने सम्पूर्ण भारत में अपना एकछत्र अबाधित शासन स्थापित कर और दिग्विजय को पूर्ण कर समुद्रगुप्त ने अश्वमेघ यज्ञ किया। शिलालेखों में उसे 'चिरोत्सन्न अश्वमेधाहर्ता' (देर से न हुए अश्वमेघ को फिर से प्रारंभ करने वाला) और 'अनेकाश्वमेधयाजी' (अनेक अश्वमेघ यज्ञ करने वाला) कहा गया है इन अश्वमेघों में केवल एक पुरानी परिपाटी का ही अनुसरण नहीं किया गया था, अपितु इस अवसर से लाभ उठाकर कृष्ण, दीन, अनाथ और आतुर लोगों को भरपूर सहायता देकर उनके उद्धार का भी प्रयत्न किया जाता था। प्रयाग प्रशस्ति में इसका

---

१०९. विद्यालंकर सत्यकेतु, प्राचीन भारत, पृष्ठ २९८

११०. शास्त्री नीलकंठ के.ए., चोलवंश, पृष्ठ ३५५

१११. विद्यालंकार सत्यकेतु,प्राचीन भारत, पृष्ठ ३०८

बहुत ही स्पष्ट संकेत मिलता है। समुद्र गुप्त के कुछ सिक्कों में यज्ञीय अश्व का भी चित्र दिया गया है ये सिक्के अश्वमेघ यज्ञ के उपलक्ष्य में जारी किये गये थे। इन सिक्कों में एक तरफ जहाँ यज्ञीय अश्व का चित्र है, वहां दूसरी तरफ अश्वमेघ की भावना को सुंदर शब्दों में प्रकट किया गया है-'राजाधिराज पृथिवीमवजित्य दिवं जयति अप्रतिवार्य वीर्यः' राजाधिराज पृथिवी को जीतकर अब स्वर्ग की जय कर रहा है, उसकी शक्ति और तेज अप्रतिम है। यह यज्ञ ईसा की दूसरी शताब्दी में पुष्यमित्र ने भी किया था। उसके बाद पहले पहल चौथी शताब्दी में समुद्रगुप्त ने और पांचवीं शताब्दी में इसके पुत्र कुमार गुप्त प्रथम ने किया था। [११२] इसके अतिरिक्त समुद्र गुप्त ब्राह्मण धर्म का अनुयायी था इसीलिये उसने कई बार अश्वमेघ यज्ञ किये। उसकी मुहर पर गरूड़ की आकृति थी। इससे ज्ञात होता है कि वह विष्णु का उपासक था, क्योंकि गरुड़, विष्णु का वाहन है। हरिषेण ने यह भी लिखा है कि उसने हिन्दू समाज के रीति-रिवाजों और नियमों की रक्षा की। [११३]

वैदिक काल में सर्वप्रथम अश्व मेघ यज्ञों का वर्णन प्राप्त होता है। परवर्ती काल में विभिन्न राजवंशों में इस यज्ञ का प्रचलन तो था परंतु उसके स्वरूप में थोड़ा परिवर्तन आ गया था। किंतु फिर भी इसके मूल बिंदु वेदों में ही निहित है। ऋग्वेद में अश्वमेघ यज्ञ का वर्णन विस्तृत रूप से किया गया है जो इस प्रकार है।

अश्वमेघ के अवसर पर ऋत्विकगण यज्ञ के पशु घोड़े को अग्नि के चारों ओर तीन बार घुमाते हैं, तीन बार अग्नि की परिक्रमा करवानें से वह यज्ञीय हो जाता है और तब वह देवत्व को प्राप्त करने वाला होता है। वह पोषण करने वाले राजा का मुख्य भाग होता है अर्थात् उस अश्व की सेवा राजा को अवश्य करनी पड़ती है, तब वह यज्ञ का ज्ञान कराता हुआ भूमि पर सर्वत्र विचरता है। वह सबसे आगे रहता है और उसके पीछे संरक्षक सेना रहती है। जिधर-जिधर घोड़ा जाता है, उधर-उधर सेना को भी जाना पड़ता है।

यद्धविष्यमृतुशो देवयानं त्रिर्मानुषाः पर्यश्वं नयन्ति।
अत्रा पूष्णः प्रथमो भाग एति यज्ञं देवेभ्यः प्रतिवेदयन्नज।।[११४]

आगे कहा गया है हे मनुष्यो! उत्तम ज्ञानी यह होता अध्वर्यु यज्ञ को प्रज्जवलित करता है, और तुम सब इस यज्ञ में उत्तम आहुतियाँ देकर नदियों को भर दो। यज्ञ में आहुति देने से यज्ञ के धुएँ से बादलों का निर्माण होता है। उसका नाम "पर्जन्वेष्टि" है। इस पर्जन्यवेष्टि से बादलों का निर्माण होकर पानी बरसता है और सारी नदियाँ भर जाती हैं।

---

११२. रेऊ विश्वेश्वरनाथ, भारत के प्राचीन राजवंश, द्वितीय खण्ड, पृष्ठ २५८

११३. ओम प्रकाश, प्राचीन भारत का इतिहास, पृष्ठ २५७

११४. ऋग्वेद, १.१६२.४

होताध्वर्युरावया अग्निमिन्धो ग्रावग्राभ उत शस्त सुविप्रः।
तेन यज्ञेन स्वरंकृतेन स्विंष्टेन वक्षणा आ पृणध्वम्।। [११५]

यज्ञीय अश्व को बाँधने के लिये तैयार किया जाता है, उसके लिये जो लकड़ी काटता है, जो उस लकड़ी को ढोकर यज्ञ स्थान तक लाता है, और जो उस स्तम्भ को उत्तम रीति से तैयार करता है तथा उस अश्व के लिये उत्तम घास लाता है ऐसे श्रेष्ठ मनुष्यों के उत्तम विचार हमें प्राप्त हों।

यूपव्रस्का उत ये यूपवाहा श्चषालं ये अश्वयूपाय तक्षति।
ये चार्वते पचनं संभरन्त्युतो तेषाममिगूर्तिर्न इन्वतु।। [116]

सुन्दर पीठ वाला और अनेक तरह से सजाया गया अश्वमेघ का घोड़ा देवों की आशाओं को पूर्ण करने वाला है अर्थात् यज्ञ में आकर देवगण हवियों से तृप्त होते हैं, इसीलिये यह घोड़ा ही मानों उनकी आशाओं को तृप्त करता है। इस यज्ञीय पशु अश्व को हर तरह से पुष्ट करना चाहिये।

उप प्रागात् सुमन्मेऽदधायि मन्म देवानामाशा उप वीतपृष्ठः।
अन्वेनं विप्रा ऋषयो मदन्ति देवानां पुष्टे चक्रमा सुबन्धुम्।। [117]

अश्वमेघ के लिये चुना हुआ घोड़ा यज्ञयूपपर लाकर बांध दिये जाने तथा सभी संस्कारों से संस्कृत हो जाने पर साधारण अश्व न रहकर एक उत्कृष्ट देव बन जाता है अतः उस समय उसे जो भी पदार्थ दिये जाते हैं, अतः उस यज्ञीय पशु को जो भी पदार्थ दिये जायें, वे उत्तम ही हों।

यद् वाजिनो दाम संदानमर्वतो या शीर्षण्या रशना रज्जुरस्य।
यद् वा घास्य प्रभृतमास्ये तृणं सर्वा ता ते अपि देवेष्वस्तु।। [११८]

यज्ञ का घोड़ा उत्तम और हृष्टपुष्ट हो। उसे हर प्रकार से साफ रखा जाये, ताकि उसके शरीर पर मक्खियाँ न बैठें। यज्ञ करने वालों के हाथ और नाखून हर तरह से साफ हों, इस तरह से शुद्ध और पवित्र हाथों से ऋत्विकगण यज्ञ में देवों को हवि प्रदान करें।

यदश्वस्य क्रविषो मक्षिकाश यद् वा स्वरौ स्वधितौ रिप्तमस्ति।
यद्धस्तयोः शमितुर्यन्नखेषु सर्वा ता ते अपि देवेष्वस्तु।। [११९]

---

११५. ऋग्वेद, १.१६२.५

११६. ऋग्वेद, १.१६२.६

११७. ऋग्वेद १.१६२.७

११८. ऋग्वेद १.१६२.८

११९. ऋग्वेद १.१६२.९

यज्ञ स्तूप में बंधा हुआ यज्ञ का पशु यज्ञ स्थान में शौचादि करके उस स्थान को गंदा करे तो यज्ञ करने वाले उस स्थान को झाड़ पौंछकर साफ रखें और यज्ञ में दी जाने वाली हवि को अच्छी तरह पकाऐं। जहाँ पशु बंधा रहेगा, वहां गंदगी और दुर्गन्ध का होना स्वाभाविक है, पर यज्ञकर्ताओं को चाहिये कि वे उस स्थान को साफ एवं पवित्र रखें।

यदूवध्यमुदरस्यापवाति य आमस्य क्तविषो गन्धो अस्ति।
सुकृता तच्छमितारः कृण्वन्तू त मेधं श्रृतपाकं पचन्तु॥[१२०]

वेग से दौड़ने वाले उत्तम और हृष्ट-पुष्ट अश्व की पीठ पर बैठा हुआ वीर जब गुस्से में आकर शत्रुओं पर अपना शस्त्र फेंके, तो उसका शस्त्र पृथिवी पर अथवा घास पर गिरकर व्यर्थ न हो, अपितु वह शत्रुओं पर गिरकर उनका संहार करे, और विजय की इच्छा करने वाले वीरों को धन दो, अर्थात् वीरों के हाथ से छूटे हुए शस्त्रात्र शत्रुओं का संहार करे और शत्रुओं का धन वीरों को प्राप्त हो।

यत् ते गात्राद्ग्निना पच्य माना दभि शूलं निहतस्यावधावति।
मा तद् भूम्यामा श्रिषन्मा तृणेषु देवेभ्यस्तदुशभ्द्यो रातमस्तु॥[१२१]

जो उत्तम गंध से युक्त घास आदि चारा देकर अश्व को हृष्ट पुष्ट और मांसल बनाते हैं, उनकी उत्तम बुद्धि हमें प्राप्त हो अर्थात् पशु सेवा करने की उत्तम बुद्धि सभी को मिले सभी पशु सेवा करें और उन्हें हृष्ट पुष्ट बनायें।

ये वाजिनं परिपश्यन्ति पक्कं य ईमाहुः सुरभिर्निहोति।
ये चार्वतो मांसभिक्षामुपासत उतो तेषामभिगूर्तिर्न इन्वतु॥[१२२]

अश्वमेघ के अवसर पर आने वाले अतिथियों को खिलाने के लिये शाक-शाक के गूदे को पकाने वाले, बर्तन, रस आदि रखने के लिये पात्र, ढक्कन तथा काटने के लिये छुरी आदि यज्ञ साधन होते हैं। ये सब साधन अश्वमेघ के कारण ही एकत्रित किये जाते हैं, इसीलिये मानो ये घोड़े को ही भूषित करते हैं।

यन्नीक्षणं मांस्पचन्या उखाया या पात्राणि यूष्ण आसेचनानि।
ऊष्मण्यापिधाना चरूणा मङ्काः सूनाः परि भूषन्त्यश्वम्॥[१२३]

यज्ञ का अश्व देव है, अतः वह जो कुछ चेष्टाएं करता है, वह एक देव की चेष्टाएँ होती

१२०. ऋग्वेद १.१६२.१०
१२१. ऋग्वेद, १.१६२.११
१२२. ऋग्वेद, १.१६२.१२
१२३. ऋग्वेद, १.१६२.१३

हैं, इसीलिये उसे जो कुछ पीने के लिये या खाने के लिये दिया जाता है वह मानों एक देव के लिये अर्पित किया जाता है।

निक्रमणं निषदनं विवर्तनं यच्च पड्डीशमर्वतः।
यच्च पपौ यच्च घासि जघास सर्वा ता ते अपि देवेष्वस्तु॥ [१२४]

अश्वमेघ यज्ञ के समय यज्ञ कुण्ड में अग्नि जलती रहती है और घोड़ा पास में बंधा हुआ होता है। वह घोड़ा ऐसी धुएँ से युक्त अग्नि को देखकर शब्द न करे। यज्ञ के मध्य में घोड़े को शब्द करने पर ऋत्विजों के लिये प्रायश्चित का विधान है। तपे हुए बर्तनों को देखकर घोड़ा न डरे। जो ऐसा उत्तम, निर्भीक परिश्रमी और उत्तम संस्कारी घोड़ा होता, उसे ही देवगण अपनाते हैं। अतः अश्वमेघ के लिये ऐसा उत्तम घोड़ा चुनना चाहिये।

मा त्वाग्निर्ध्वनयीद् धुमगन्धि र्मोखा भ्राजन्त्यमि विक्त जघ्रिः।
इष्टं वीतमभिगूर्त बषट्कृतं तं देवासः प्रति गृम्णन्त्यश्वम्॥ [१२५]

जो यज्ञीय घोड़े के वस्त्रों से सुसज्जित करता है या सोने के अलंकारों से उसे सजाता है अथवा उसके लिये रस्सी आदि अन्य पदार्थ देता है, वह मानों ये सभी पदार्थ देव को ही देता है।

यदश्वाय वास उपस्तृण न्त्यधीवासं या हिरण्यान्यस्मै।
संदानमर्वन्तं पड्डीशं प्रिया देवेष्वा यामयन्ति॥ [१२६]

यज्ञीय अश्व को कभी कष्ट नहीं देना चाहिये, उसे कभी चाबुक या कील से नहीं मारना चाहिये। वह देवता है और देवताओं को कष्ट देना योग्य नहीं।

यत् ते सादे महसा शूकृतस्य पाष्णर्या वा कशया वा तुतोद।
स्रुचेव ता हविषो अध्वरेषु सर्वा ता ते ब्रह्मणा सूदयामि॥ [१२७]

घोड़े के दोनों बगलों में चौंतीस हड्डियां होती हैं यहां प्राणिविज्ञान वेदमंत्र बताता है। इसके सभी अंग दोषरहित और देखने योग्य हो। वह शब्द करते हुए शत्रुओं पर आक्रमण करे, और उस पर बैठे हुए वीर अपने शस्त्रास्त्रों से शत्रुओं पर प्रहार करके उन्हें काटें।

चतु स्त्रिंशद् वाजिनो देवबंधो र्वङ्क्रीरश्वस्य स्वधितिः समेति।
अच्छिद्रा गात्रा वयुना कृणोत परूष्परूरनुघुष्या वि शस्त॥ [१२८]

---

१२४. ऋग्वेद १.१६२.१४

१२५. ऋग्वेद १.१६२.१५

१२६. ऋग्वेद १.१६२.१६

१२७. ऋग्वेद १.१६२.१७

१२८. ऋग्वेद १.१६२.१८

जब वेगवान घोड़ा रथ में जोड़ा जाता है, तब एक सारथी ही उसे मारता है और दो लगाम उसे वश में करने वाले होते हैं। जब ऋतु के अनुसार घोड़े को खिलापिलाकर पुष्ट किया जाता है तब उसे संग्राम की अग्नि में तपाकर परिपक्व करना चाहिये, अर्थात् उठे संग्राम में भेजकर युद्ध की कला और नीतियों में निपुण बनाना चाहिये।

एकस्त्वष्टुरश्वस्या विशस्ता द्वा यन्तारा भवतस्तथ ऋतुः।

या ते गात्राणामृतुथा कृणोमि ताता पिण्डानां प्र जुहोम्याग्नौ॥[१२९]

माँस के लालच से कोई भी दुष्ट मनुष्य घोड़े को न मारे, न काटे, उस पर कोई शस्त्र प्रहार न करे और इस प्रकार अश्व की प्रिय आत्मा को उससे विमुक्त करके दुख न दे।

मा त्वा तपत् प्रिय आत्मापियन्तं मा स्वधितिस्तन्व आ तिष्ठिपत् ते।

मा ते गृध्नुरविशस्तातिहाय छिद्रा गात्राण्यसिना मिथू कां॥ [१३०]

हे वीर! तेरे रथ में हिरण के समान वेगवान और अत्यंत बलवान दो घोड़े जोते गये हैं, और तू स्वयं भी गर्जना करने वाला है। इसीलिये तू डर मत, न तू मरेगा और न शत्रु से मारा जायेगा। अतः तू निर्भीक होकर युद्ध में जा। इस प्रकार वीरता दिखाकर तू देवों के पास जाने योग्य हो सकेगा अथवा यदि तू युद्ध में मर भी जायेगा, तो भी तू स्वर्ग को प्राप्त होकर देवों के पास जा सकेगा।

न वा उ एतन्म्रियसे न रिष्यसि देवाँ इदेषि पथिभिः सुगेभिः।

हरी ते युञ्जा पृषती अभूता मुपास्थाद् वाजी धुरि रासभस्य॥ [१३१]

यह यज्ञीय बलवान घोड़ा, हमें हर तरह के धन, पुत्र तथा गाय, घोड़े आदि पशु प्रदान करें। हमें प्राप्त धन से सभी का पोषण हो। यह घोड़ा मारे जाने योग्य नहीं है हम कभी ऐसा पाप न करें यह तेजस्वी घोड़ा हमें क्षात्र शक्ति से युक्त करे। [१३२]

इसके अतिरिक्त भी ऋग्वेद के अनेक मंत्रों में अश्वमेघ यज्ञ के विधि विधानो का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। (१३३) इस प्रकार परवर्ती कालों में अश्वमेघ यज्ञ के विधि विधानों का वर्णन प्राप्त तो होता है, इन्हीं कालों में अश्वमेघ यज्ञ में अनेक परिवर्तन हुए परंतु इसका मूल रूप वेदों में ही निहित है।

---

१२९. ऋग्वेद, १.१६२.१९

१३०. ऋग्वेद, १.१६२.२०

१३१. ऋग्वेद, १.१६२.२१

१३२. ऋग्वेद, १.१६२.२२

१३३. ऋग्वेद,१.१६३.१ से १३ तक

इंद्र का महाभिषेक-

वैदिक काल से ही अभिषेक परम्परा चली आ रही है इसका प्रमाण हमें द्यू लोक में इन्द्र के अभिषेक वर्णन से प्राप्त होताहै अर्थववेद [१३४] में इन्द्र के महाभिषेक का वर्णन आया है। प्रारंभ में जब देवासुर संग्राम हुआ तो असुर विजयी हुए। परिणमास्वरूप देवों को अपनी रक्षा की चिंता हुई और उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि हमारी पराजय का कारण हमारे बीच किसी राजा का न होना है। उन्होंने सर्वसम्मति से इन्द्र को राजा बनाया कि वह शत्रुओं की सेना को जीते और राज्य शासन करे। उन्होंने (देवों ने)इंद्र में राजत्व के गुण देखे कि वह गुणों में श्रेष्ठ है, शत्रुहन्ता है, उग्र और तेजस्वी है, साहसी और कार्य कुशल है। इन गुणों के कारण ही देवों ने सर्वसम्मति से इन्द्र को स्वर्ग लोक का राजा बनाया।

ब्राह्मण ग्रंथों [१३५] में भी इंद्र के महाभिषेक का वर्णन आया है, अथर्ववेद के समान मिलती जुलती कथा ब्राम्हण ग्रंथों में आई है कि देवता और असुर युद्ध करते थे। असुरों ने देवों को हरा दिया। देवों ने विचार किया, कि हमारी पराजय का कारण राजा का अभाव है, अतः राजा का निर्वाचन करें। सबकी स्वीकृति होने पर उन्होंने सर्वसम्मति से इन्द्र को राजा बनाया और विजय प्राप्त की। इस प्रकार इन्द्र का महाभिषेक किया गया। उस समय उद्घोषणा में उसे सबका स्वामी, अधिपति, शासक और सम्प्रभु कहा गया था। इस महाभिषेक का परिणाम यह समझा जाता था कि इससे राजा को सभी प्रकार की प्रभुता राज्य, साम्राज्य, महाराज्य, वैराज्य, एकराज्य और सार्वभौम की प्राप्त होती थी। राजसूय और वाजपेय यज्ञों की भाँति

इससे संबंधित कर्मकाण्ड पेचीदा था; परंतु सम्पूर्ण समारोह का सबसे महत्वपूर्ण अंग पुरोहित द्वारा शासक को दिलाई जाने वाली शपथ थी। राजा इस प्रकार की शपथ लेता था-

''याश्च राजीय जायेहं याश्च प्रेतास्मि तू दुभयेमन्तरेणेष्टापूर्तं।

में लोकं सुकृतमायुः प्रजां वञ्जीथाः यदि ते दद्रह्येयम।। '' [१३६]

अर्थात् जब से मेरा जन्म हुआ है और जब मेरी मृत्यु हो इस बीच में मैंने जो कुछ भी पुण्य किये हों, उन सबकी मेरे जीवन व मेरी संतान के साथ तुम मुझसे छीन लेना यदि मैं तुमको कुछ भी हानि पहुंचाऊं। ऐन्द्र महाभिषेक उस राजा द्वारा किया जाता था- जो सभी विजेताओं को जीत लेता था, सभी राजाओं से बढ़ जाता था और ख्याति व गौरव प्राप्त करता था।

---

१३४. अथर्ववेद, २०.५४.१

१३५. ऐतरेय ब्राम्हण, १.१४

१३६. ऐतरेय ब्राम्हण, ८.१५

ऐन्द्र महाभिषेक[137] एक ऐसा राजत्व संबंधी यज्ञ था जिसको देवों ने इंद्र को ओजस्वी, साहसी, पराक्रमी मानकर राजा बनाने के लिये किया था। इन्द्र के लिये ऋचाओं से वेदमयी आसन्दी (सिंहासन) कों तैयार किया था। देवताओं ने वृहद् और रथन्तर सामों को आसन्दी के अगले दो पाये बनाया था। वैरूप और वैराज को पिछले दो पाये, शाक्वर खैत को ऊपर का शीर्ष-नौघंस और कालेय को बगल के तख्ते, ऋचाओं का ताना साम का बाना, यजुओं का बीच का भाग, यश का बिछोना, श्री को तकिया बनाया। इस प्रकार सिंहासन को तैयार करके, सविता और बृहस्पति ने इसके अगले पाए पकड़े, वायु और पूषा ने पिछले, मित्र और वरूण ने दो ऊपर के तख्ते और अश्विनी ने दो बगल के तख्ते पकड़े। इन्द्र ने इस सिंहासन पर बसु,रुन्द्र, आदित्य, विश्वेदेव, मरुतः, अंगिरा आदि के बाद आरोहण किया।

सिंहासन पर आरोहण के समय इन्द्र ने कामना की मैं सिंहासन पर साम्राज्य, भौज्य, स्वराज्य, वैराज्य, राज्य, पारयेष्ठ्य, महाराज्य, अधिपत्य और स्वावश्य (सार्वभौम) इन विविध शासन प्रणलियों की प्राप्ति के लिये आरोहण करता हूँ।

सिंहासन पर आरोहण करने के बाद देवों ने इन्द्र की घोषणा करते हुए कहा कि आज साम्राज्य का सम्राट, भोज शासन प्रणाली के राजा का पिता, पारमेष्ठय का परमेष्ठी क्षत्रिय उत्पन्न हुआ है। सम्पूर्ण प्राणी जगत का अधिपति प्रजा का रक्षक, असुरों का हन्ता, ब्राम्हणों और धर्म का रक्षक उत्पन्न हो गया। इस प्रकार घोषणा किये जाने के बाद प्रजापति ने उदुम्बर और पलाश की आर्द्र शाखा से उसका अभिषिंचन किया ।

इस अभिषेक की क्रिया के बाद वसु देवों ने साम्राज्य की प्राप्ति के लिये पूर्व दिशा में इन्द्र का अभिषेक किया, रुद्र देवों ने दक्षिण दिशा में भोज्य के किये , आदित्यों ने पश्चिम दिशा में स्वराज्य के लिये, विश्वेदेवों ने उत्तर दिशा में वैराज्य के लिये, साध्य और आरत्व देवों ने बीच की ध्रुवा दिशा में राज्य के लिये, मरूतों और अंगिरसों ने उर्ध्व दिशा में पारयेष्ठ्य, महाराज्य, अधिपत्य और स्वावश्य (सार्वभौम) के लिये इन्द्र का अभिषेक किया। इस प्रकार अभिषिक्त इन्द्र ने सब दिशाओं को जीत लिया।

यह इन्द्र महाभिषेक ही परवर्ती राजाओं के राज्याभिषेक का मूल प्रतीत होता है। कहा गया है कि जो ऋत्विज् क्षत्रिय को उपर्युक्त आठ शासन प्रणालियों का अधिपति बनाना चाहे वह इन्द्र महाभिषेक की रीति से उस क्षत्रिय का अभिषेक करें।[138]

१३७. ऐतरेय ब्राम्हण, ३८.१-३

१३८. ऐतरेय ब्राह्मण, ३९.१

इन्द्र महाभिषेक के समान राज्याभिषेक से अभिषिक्त, जनमेजय, शयतिमानव, शतानिक, सत्राजित्, विश्वकर्मा, सुदासपर्वन, अंग, भरत, दौष्यन्ति, पांचाल, आदि अनेक राजाओं का उल्लेख है। जिन्होंने अभिषेक के प्रभाव से सर्वत्र विजयी होकर प्रभूत सम्पत्ति का अर्जन किया था।[१३९]

यजुर्वेद में भी इन्द्र महाभिषेक का वर्णन मिलता है। महाभिषेक का वर्णन करते हुए ही कहा गया है कि देवताओं ने मधुर स्वाद से युक्त, विशिष्ट अन्नरस से सम्पन्न, राजाओं को भी सेवन करने योग्य, चेतना देने वाले, ज्ञान को प्राप्त करने वाले, जलों को ग्रहण किया, जिन जलों से मित्रावरूण देवताओं को अभिषेक किया तथा जिन जलों से देवताओं ने शत्रुओं को दूर करने वाले इन्द्र का राज्याभिषेक किया, उन जलों को ग्रहण करते हैं।

अपो देवा मधुमतीरगृभ्णन्नूर्जस्वती राजस्वश्चितानाः।
याभिर्मित्रावरूणावभ्यषिश्चन्याभिरिन्द्रमनयन्नत्यरातीः।।[१४०]

इस प्रकार देवों ने मधुर, बलवान, राजशक्ति देने वाले, चैतन्य बढ़ाने वाले जलों का ग्रहण किया। इससे मीठे, बलवान राज्य सम्पन्न चैतन्य उत्पन्न करने वाले जीवन से सम्पन्न हुए। अतः जो इन गुणों को धारण करेंगे वे भी गुणी बनेंगे। जिन गुणों से इन्द्र के शत्रु दूर हुए वे गुण इस प्रकार है- मधुरता, बल, तेजोयुक्त, शक्ति, राज्य करने की शक्ति, राज्य शासन करने वाला ज्ञान, सुविचार, शक्ति बढ़ाने वाला जीवन। अतः ये गुण राज्य शासन करने वाले पुरुष में होने आवश्यक है।

इस प्रकार राज्याभिषेक विधि का वर्णन सर्वप्रथम वेदों में इन्द्र के महाभिषेक के रूप में देखते को मिलता है। उस समय देवराज इन्द्र के गुणों का भी विस्तृत वर्णन किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि किन गुणों से राजा सम्पन्न होना चाहिये। महाकाव्य, काल, ब्राह्मण काल, अन्य परवर्ती कालों में इस परम्परा का ही विकास होता गया।

□□□

१३९. ऐतरेय ब्राह्मण, ३९.७.९

१४०. यजुर्वेद १०.१

अध्याय - ७

राजा की शक्तियाँ और उसके कर्तव्य

प्राचीन भारतीय ग्रंथों में राजा के विभिन्न कार्यों का विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है। प्राचीन भारत में राजा की शक्तियाँ एक अर्थ में पूर्ण थी; क्योंकि उन पर कोई संवैधानिक अथवा कानूनी सीमा या प्रतिबंध न थे। राजा कार्यपालिका का अध्यक्ष होता था और उसके हाथों में वास्तविक शक्तियाँ रहती थी। उसे कानून बनाने की भी शक्ति प्राप्त थी और वह न्याय का सर्वोच्च अधिकारी होता था। राजा के अधिकार तथा दायित्व अनेक और विभिन्न प्रकार के थे। प्राय: सभी प्राचीन भारतीय विचारकों ने राजा के कर्तव्यों तथा दायित्वों पर शक्तियों व अधिकारों से अधिक बल दिया है। राजा के कर्तव्य व्यक्तिगत व सार्वजनिक दोनों प्रकार के थे। व्यक्गित कर्तव्यों में आत्मनियंत्रण, उसका अपने प्रति आचरण, धर्म को हानि न पहुंचाना, बुरे मनुष्यों की संगति से बचना, व्यक्तिगत सुरक्षा का ध्यान रखना और सार्वजनिक कर्तव्य विभिन्न प्रकार के थे, परंतु उन्हें एक वाक्य में - 'प्रजानां योगक्षेमवहा' - प्रजा का सुख व कल्याण। इस रूप में व्यक्त किया जा सकता है।

राजा के संबंध में अत्यंत महत्वपूर्ण धारणा प्रचलित थी कि वह प्रजा का सेवक समझा जाता था। बौधायन धर्मसूत्र[१] के अनुसार-राजा वास्तव में प्रजा का सेवक है और प्रजा की आय का छठा भाग जो कर के रूप में उसे दिया जाता है वह उसका वेतन है। वैदिक काल में भी यही धारणा प्रचलित थी। ऋग्वेद के एक मंत्र में राजा को प्रजा द्वारा बलि ग्रहण करने वाला एक मात्र अधिकारी कहा गया है। हम ध्रुव रूप में राजा को ध्रुव हवियां द्वारा संतुष्ट करते हैं। राजा ही अकेला विश: से बलि प्राप्त करने का अधिकारी है।

ध्रुवं ध्रुवेण हविषा ऽभि सोमं मृशामसि।
अथो त इन्द्रः केवलीर्विशो बलिहृतस्करत्॥[२]

बलि के रूप में प्रजा के द्वारा पारिश्रमिक प्राप्त किये जाने के कारण राजा प्रजा पर अपना दास्य भाव स्वीकार करता है।उसी कारण अथर्ववेद में राजा को राष्ट्र भ्रत्य की संज्ञा दी गई है।[३] क्योंकि प्रजा स्वामी हो जाती है और राजा प्रजा का दास। अथर्ववेद में ही एक स्थान पर कहा गया है कि प्रजा या विश: का अनुचर होकर राजा रहता है।[४] इस प्रकार प्राचीन परंपरा के अनुसार राजा प्रजा के सेवक तुल्य शासन करता था।

---

१. बौधायन धर्मसूत्र, १.१०.६

२. ऋग्वेद,१०.१७३.६

३. शांतिपर्व, ६८. १-४

४. अनुशासन पर्व, ३२.८

इस अध्याय के अंतर्गत राजा के व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक अधिकारों तथा कर्तव्यों के माध्यम से विभिन्न विषयों न्यायिक, धार्मिक, आर्थिक, सैनिक, प्रजारक्षण इत्यादि विषयों पर दृष्टिपात किया गया है।

प्रजारक्षण

राजा के सर्वप्रमुख कर्तव्यों में प्रजारक्षण राजा का सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं सर्वप्रथम कर्तव्य था। सुरक्षा को व्यापक अर्थ में राजपद का उद्देश्य मान लेने से अन्य सभी कर्तव्य उसके अंतर्गत आ जाते हैं। सुरक्षा संबंधी कार्यों के अंतर्गत - राजा को दुष्टों का दमन करना होता था, अपराधियों के लिये उचित दण्ड की व्यवस्था, बाह्य आक्रमणों से प्रजा की रक्षा इत्यादि भार राजा पर ही होता था। किसी भी राजा की योग्यता का मापदण्ड यही था कि उसकी प्रजा सब प्रकार से सुरक्षित है या नहीं। जो राजा इस कार्य को संपन्न नहीं कर पाता था उसे बंजर भूमि, बांझ स्त्री और दूध न देने वाली गाय तथा विषविहीन ब्राह्मण की श्रेणी में रखा गया है। राजशास्त्र प्रणेताओं ने राजा के लिये प्रजा रक्षण सबसे बड़ा धर्म माना है। प्रजा की रक्षा किये जाने के कारण ही राजा को रक्षाध्यक्ष नाम से संबोधित किया गया है। अन्यत्र शांतिपर्व में कहा गया है कि राजा ही प्राणियों का रक्षक होता है और वही विनाशक होता है।[५] प्रजा की रक्षा न करने वाले राजा की निंदा करते हुये भीष्म कहते हैं - जिस प्रकार काठ का हाथी, चमड़े का हिरण, हिजड़ा मनुष्य, ऊसर खेत व वर्षा न करने वाले बादल ये सब व्यर्थ हैं, उसी प्रकार अनपढ़ ब्राह्मण और रक्षा न करने वाला राजा भी निरर्थक है।[६] शांतिपर्व में ही आगे कहा गया है जिसके राज्य में प्रजा निर्भय होकर उस प्रकार भ्रमण करती है जिस प्रकार पुत्र अपने पिता के घर विचरते हैं वही राजा श्रेष्ठ होता है।[७]

शान्तिपर्व में कहा गया है राज्य अथवा शासन का प्रमुख कार्य समस्त प्रजा की रक्षा करना है, विशेष रूप से ब्राह्मणों की रक्षा, क्योंकि ऐसा करने पर वे राजा की रक्षा करेंगे। उचित व्यवहार करने वाले राजाओं को ब्राह्मणों का आशीर्वाद प्राप्त होता है ब्राह्मणों की सुरक्षा के लिये सभी को शस्त्र धारण करने चाहिये। महाभारत के अध्ययन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि शासन कार्यों का ध्येय सर्वसाधारण का सुख है। सभी मनुष्य अपने कर्तव्यों का पालन करें अर्थात सदाचरण रखें और उनकी रक्षा हो यह शासन का ध्येय है। राजा को (शासन) मद्यपान, वेश्याओं, जुआरियों, कुटनी, कुलीशव और इस भांति के जो अन्य मनुष्य राज्य में निवास करें उन पर नियंत्रण

---

५. शांतिपर्व,९२.८

६. शांतिपर्व, ७९. ४१-४२

७. शांतिपर्व, ५७,३३

रखना चाहिये, क्योंकि ऐसा न होने से उत्तम प्रजा क्लेश पाती है।[८] यद्यपि शासन को निरंतर ही सदाचरण को प्रोत्साहित करना चाहिये और समस्त प्र जा के नैतिक कल्याण का ध्यान रखना चाहिये, फिर भी उसे समस्त प्रजा के लिये एकरूप कानून और प्रथाएँ स्थापित करने का उद्देश्य नही अपनाना चाहिये।

जनसाधारण के भौतिक हितों को प्रोत्साहन देना भी शासन के आवश्यक कर्तव्यों का अंग है। शासन का कार्य है कि भूमि को कृषि के योग्य और उपजाऊ बनाये कृषकों को अच्छे बीज और अनाज का अभाव न हो, अग्नि, सापों और अन्य विनाशकारी जीवों के नाश के विरूद्ध भूमि की रक्षा की जाये। रोगों को फैलने से रोकने के लिये भी व्यवस्था की जाये। राज्य में डाकुओं का अंत किया जाये। यदि चोरों को उचित दंड न दिया जाये तो राजा का यह कर्तव्य है कि जिनकी संपत्ति चोरी गयी है उन्हें प्रतिकार दें। राजा को प्रजा से मातृतुल्य व्यवहार करना चाहिये। व्यापक अर्थ में राजा को प्रजा की भौतिक एवं नैतिक रूप से रक्षा करनी चाहिये।[९]

रामायण में वाल्मीकि ने प्रजारक्षण राजा का प्रमुख कर्तव्य माना है। बालकाण्ड में मुनि विश्वामित्र ताड़का राक्षसी का वध करने का परामर्श देते हुये राम से कहते हैं - नरोत्तम स्त्री का वध करने में तुम घृणा मत करो, चारों वर्णो के हित के लिये तुम्हें इसे मारना चाहिये। सदा प्रजा रक्षण में तत्पर राजा को चाहिये कि वह क्रूर समझे जाने वाले कर्म को प्रजा की रक्षा के निमित्त अक्रूर समझ कर करें। क्योंकि जिन्हें राज्य का भार सौंपा गया है उनके लिये यह वेदोक्त धर्म है, इसीलिये इस दुराचारिणी को मारो, इस राक्षसी में मानव धर्म नहीं है।[१०] ऐसे ही अरण्य कांड में मुनि एकत्रित होकर राम के पास पहुँचते हैं और उनसे रावण के विषय में कहते हैं - उस भूपति के राज्य में महान अधर्म होता है, जो कि प्रजा के उपज का छठा हिस्सा कर के रूप में ले लेता है, परंतु प्रजा की पुत्रवत रक्षा नहीं करता, जो राजा प्रजा के रक्षण में अपने को लगाता हुआ सब देशवासियों को अपने प्राणों के समान नित्य सावधान होकर सदा सुरक्षित रखता है वह चिरव्यापी अटलकीर्ति को प्राप्त करता है। जो मुनि परम धर्म उपार्जित करता है। उसके चौथे भाग का भागीदार वह राजा भी बन जाता है जो कि धर्म से प्रजा की रक्षा करता है।[११]

कौटिल्य के अनुसार भी रक्षा करना राजा का सर्वप्रथम कार्य था उसके साथ ही अच्छा शासन और प्रजा की भलाई के लिये अन्य कार्य भी सम्मिलत थे। राजा का यह भी कर्तव्य था कि

---

८. शांतिपर्व, ८८, १३-१४

९. बेनी प्रसाद, थियोरी ऑफ गर्वनमेंट इन ऐन्शियेन्ट इंडिया, पृष्ठ ४१

१०. वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड, सर्ग १०

११. वाल्मीकि रामायण,अरण्यकाण्ड, सर्ग ५

राष्ट्रीय आपत्तियों के विरूद्ध प्रजा की रक्षा की जाये। अग्नि, बाढ़, संक्रामक रोग,अकाल, हानिकारक पशुओं आदि से प्रजा की रक्षा करे। डाकुओं और अपराधियों से प्रजा की रक्षा करने के कर्तव्य पर कौटिल्य ने बल दिया है। इस प्रकार राजा को इस कर्तव्य के निर्वहन के लिये व्यापक शक्तियां प्रदान की गई हैं और यह कहा गया कि संकट के समय इच्छ्नुसार धन राजा एकत्र कर सकता था और प्रजा रक्षण जैसे सर्वोच्च कर्तव्य के पालन के लिये उसे अपने परिवार के बलिदान की आवश्यकता पड़ने पर बलिदान भी कर देना पड़ता था।

हर्ष वर्धन के काल में भी प्रजा रक्षण पर विशेष बल दिया गया है। हर्ष उत्तरी भारत का सम्राट था और उसकी राजधानी कन्नौज थी। उसने साम्राज्य के विभिन्न भागों का शासन उनके शासकों को ही करने दिया। वे सम्राट के सामन्त बन गये। हर्ष स्वयं अपने राज्य में अपने राज्यक्षेत्र का दौरा किया करता था और इस बात का ध्यान रखता था कि अधिकारीगण प्रजा को सताएँ नहीं। कोई भी व्यक्ति सम्राट तक न्याय पाने के लिये पहुँच सकता था। उसके शासन काल में अपराध बहुत कम हुआ करते थे और प्रजा बड़ी सुखी व समृद्धशाली थी।

प्राचीन ग्रंथों की यह स्पष्ट मान्यता थी कि यदि राजा रक्षा नही करता तो दुष्ट लोग दूसरों की सम्पत्ति को अपहरण कर लेंगे, जन्म की शुद्धता नष्ट हो जायेगी, कृषि नष्ट हो जायेगी, अन्याय का साम्राज्य छा जायेगा, वर्ण व्यवस्था समाप्त हो जायेगी और राष्ट्र नष्ट हो जायेगा अथवा पुन: अराजक की स्थिति को प्राप्त कर लेगा। अत: प्रजारक्षण राजा के लिये सर्वाधिक महत्वपूर्ण था।

वेदों में भी प्रजा रक्षण के विषय में विषद् वर्णन प्राप्त होता है। अथर्ववेद के अनुसार - राजा प्रजा का पालक होता है। उसकी दृष्टि उग्र होंनी चाहिए। उसके दूत आँख है। ये दूत राष्ट्र के रक्षक होंने चाहिए।

संवसव इति वो नामधेयमुग्रंपश्या राष्ट्रभृतो ह्यक्षा:।
वेभ्यो व इन्दवो हविषा विधेम वयं स्याम पतयो रणीयाम्॥[१२]

राजा राष्ट्र के शत्रुओं को नष्ट करने वाला हो। वह गुणों में श्रेष्ठ, उग्र और बलवान हो।

विश्वा: पृतना अभिभूतरं नरं सजूस्ततक्षुरिन्द्रं जजनुश्च राजसे।
क्रत्वा वरिष्ठं वर आमुरिमुतोग्रमोजिष्ठं तवसं तरस्विनम्॥[१३]

राजाका यह कर्तव्य है कि वह प्रजा के पारस्परिक द्रोह को समाप्त करे। प्रजा की समृद्धि और उन्नति करे। यज्ञ का प्रेमी और ईश्वर भक्त हो। प्रजा के अभीष्ट पूर्ण करे और दीर्घायु प्राप्त

---

१२. अथर्ववेद, ७.१०९.६

१३. अथर्ववेद, २०.५४.१, ऋग्वेद, ८.९७.१०

करे।[१४] राजा का कर्तव्य है कि वह स्वयं ब्रह्मचारी एवं तपस्वी हो। संयमी जीवन व्यतीत करे। ऐसा राजा ही राष्ट्र की रक्षा कर सकता है।

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति।

आचार्योऽब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिण मिच्छते ॥[१५]

राजा जनता का कल्याण करे और शत्रुओं को नष्ट करे।

स्वस्तिदा विशां पतिर्वृत्रहा विमृधो वशी।

वृषेन्द्रः पुर एतु नः सोमपा अभयंकरः ॥[१६]

प्रजा की रक्षा करना राजा का मुख्य कर्तव्य माना गया है।

अद्भयस्त्वा राजा वरूणों ह्वयतु सोमस्त्वा ह्वयतु पर्वतेभ्यः।

इन्द्रसत्वा ह्वयतु विड्भ्य आभ्यःहयेनो भूत्वा विश आ पतेमाः ॥[१७]

राजा क्षत्रियों का पालक,प्रजा को रोगों से छुड़ाने वाला, कल्याणकारी और जनसम्पत्ति का रक्षक हो।[१८]

राजा तक प्रजा की पहुंच होनी चाहिए साथ ही राजा का भय और आदर भी हो।[१९] राजा प्रत्येक व्यक्ति से मिले और उनकी बातें सुने।[२०] राजा का कर्तव्य है कि वह कठोरता के साथ अर्थव्यवस्था को ठीक करे और धनका ठीक - ठीक विभाजन करे। इसका अभिप्राय यह हैकि अर्थव्यवस्था ऐसी होनी चाहिये , जिससे सभी सुखी रह सकें। अमीर और गरीब तथा शोषक और शोष्य का भेद न रहे।

त्वां विशो वृणतां राज्याऽम त्वामिमाः प्रदिशः पञ्च देवीः।

वर्ष्मन्राष्ट्रस्य कुकुदि श्रयस्व ततो न उग्रो वि भजा वसूनि ॥[२१]

राजा अपने हाथ में वज्र या दण्ड धारण करे। उसमें मायावियों छल प्रपंच करने वालों को राजा नष्ट करे।

---

१४. अथर्ववेद, ७.१०३.१

१५. अथर्ववेद, ११.५.१७

१६. अथर्ववेद, १.२१.१

१७. अथर्ववेद, ३.३.३

१८. अथर्ववेद, ७.८४.१

१९. अथर्ववेद, ३.४.१

२०. अथर्ववेद, २०.१७.६

२१. अथर्ववेद, ३.४.२

भुवो जनस्य दिव्यस्य राजा पार्थिवस्य जगतस्त्वेषसंदृक् ।
धिष्व वज्रं दक्षिण इन्द्र हस्ते विश्वा अजुर्य दयसे वि माया: ॥ [२२]

राजा की दण्ड व्यवस्था कठोर होनी चाहिये । वह अकेला प्रजा को अपने पूर्ण अधिकार में रखे ।

यस्तिग्मशृङ्गो वृषभो न भीम एक: कुष्टीश्च्यावयति प्र विश्वा: ।
य: शश्वतो अदाशुषो गमस्य प्रयन्तासि सुष्वितराय वेद: ॥[२३]

जो दूसरों को दास बनाना चाहते हैं, उन्हें राजा नष्ट करे और शत्रुओं को नीचा दिखावे ।

वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यत: ।
अधम गमया तमो यो अस्माँ अभिदासति ॥[२४]

शत्रुओं के मनोभावों को बदलकर उन्हें अपने वश में करे ।

अपेन्द्र द्विषतो मनोऽप जिज्यासतो वधम् ।
वि महच्छर्म यच्छ वरीयो यावया वधम् ॥[२५]

राजा दस्युओं को आर्य बनावे । जो पापी सुधारने पर भी न सुधर सकें, उनका राजा द्वारा वध किया जावे ।[२६] राजा दुर्जनों को नष्ट करे और सज्जनों को आश्रय दे ।[२७] राजा उत्तम रक्षक आत्मबल से युक्त शत्रुओं को प्रजा जनों से दूर करे और राजा प्रजा की रक्षा करे ।

स सुत्रामा स्ववाँ इन्द्रो अस्मदाराच्चिद् द्वेष : सनुतर्युयोतु ।
तस्य वयं यज्ञियस्यापि भद्रे सौमनसे स्याम ॥[२८]

इस प्रकार से अथर्ववेद में राजा द्वारा प्रजारक्षण के सदर्भ में अनेक मंत्र उपलब्ध होते हैं। जिनमें प्रजा रक्षण को राजा का सर्वोपरि कर्त्तव्य बताया गया है ।

यजुर्वेद में भी 'प्रजा रक्षण' सबंधी कर्तव्य के विषय में विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है । एक

---

२२. अथर्ववेद, २०.३६.९
२३. अथर्ववेद, २०.३७.१
२४. अथर्ववेद, १.२१.२
२५. अथर्ववेद, १.२१.४
२६. अथर्ववेद, २०.३६.१०
२७. अथर्ववेद, ७.८४.२
२८. अथर्ववेद, ७.९२.१

स्थान पर कहा गया है कि राजा प्रजा का रक्षक,मित्र और सर्वोत्तम अग्रणी है।[२९] हे वीर पुरूष दुष्टों को शांत करने के लिये तुमको यहां स्थापित किया गया है।[३०] प्रत्येक दिशाओं में प्रहार करने वाली शत्रु सेनाओं से अपनी और प्रजाकी रक्षा करो। और इन दुख देने वालों को दूर करो तथा प्रजा निर्भय होकर रहे।

मनो न येषु हवनेषु तिग्मं विप: शच्या वनुथो द्रवन्ता।

आ य: शर्याभिस्तुविनृम्णो अस्याश्रीणीतादिशं गभस्ता वेष ते योनि: प्रजा: पाह्यमृष्टो मर्को देवास्त्वा मन्थिया: प्र णयन्व नाधृष्टासि॥ [३१]

हे अग्नि ! तुम शत्रुओं को हटाने वाले हो, जिस प्रकार सहायवान् राजा हाथी द्वारा शत्रुओं पर आक्रमण करता है उसी प्रकार तुम भी शत्रुओं पर आक्रमण करो, और बड़े विशाल पक्षी पकड़ने के निमित्त फैलाये हुये जाल के समान बल का विस्तार करो, तथा वेगवान जाल द्वारा शत्रुओं को मारने व तपानेवाले तुम राक्षसों का तारण करो जिससे प्रजा की रक्षा हो सके।

कृणुष्व पाज: प्रसितिं न पृथ्वीं याहि राजेवामवाँ इभेन।
तृष्वीमनु प्रसितिं द्रूणानोऽस्ताऽसि वध्य रक्षसस्तपिष्ठै:॥[३२]

पराक्रमी देवराज इन्द्र ! समस्त प्रजा को सुरक्षा प्रदान कर, प्रजाजनों के साथ प्रशन्शित होकर रहते हैं जिसमें बड़े बड़े बलपूर्वक कार्यों को करने का सामर्थ्य और शक्तियां विद्यमान हैं तथा वह शत्रु को अपने क्षात्रवल से पराजित कर सूर्य के समान तेजस्वी होता है। [३३]

प्रजा देवराज इन्द्र से आग्रह करते हुये कहती है। हे इन्द्र ! रणक्षेत्रों में तू अपने सब स्पर्धा करने वाले ईष्यालु शत्रु सेनाओं को पराजित करता है, तू सब सुखों का उत्पादक और दुष्टों का विनाशक होकर समस्त शत्रुओं का नाश करने वाला है। हे इन्द्र !

तू हमारे हिंसक शत्रुओं का विनाश कर एवं हमारी रक्षा कर।

त्वमिन्द्र प्रतूर्तिष्वभि विश्वा असि स्पृध:॥
अशस्तिहा जनिता विश्वरसि त्वं तूर्य तरूष्यत:॥[३४]

---

२९. यजुर्वेद, ७.१४
३०. यजुर्वेद, ७.१६
३१. यजुर्वेद, ७.१७
३२. यजुर्वेद, १३.९
३३. यजुर्वेद, १९.४७
३४. यजुर्वेद, ३३.६६.

देवों को राजा इन्द्र खल पुरूषों को दण्ड देने में समर्थ, सब ओर से जाने वाली हिंसकारिणी सेनाओं को दूर भगाता है और अन्न आदि से समृद्ध ऐश्वर्यवान होता है। इस प्रकार इन्द्र भी प्रजारक्षण कार्य को अत्यंत महत्वपूर्ण मानते थे।

अपाधमदभिशस्तीरशस्तितहायेन्द्रो घुम्न्याभवत्।[३५]

दवास्त इन्द्र सख्याय येनिरे बृहम्दानो मरूदण॥

हे राजन् दूसरों के पालन के लिये अर्थात प्रजा की शत्रुओं से रक्षा करने के लिये हम तुम्हारा अनुसरण करते हैं, क्षत्रियों के और विद्वान ब्राह्मणों के शरीरों की तुम रक्षा करो। और प्रजाओं को धर्म से नये नये उत्तम शुभ पदार्थों को प्राप्त कराने, उत्तम मार्ग पर चलाने व राज्य शासन के कार्य के लिये भी हम तुम्हारा अनुसरण करते हैं।

क्षत्रस्य त्वा परस्पाय ब्रह्मणस्तन्वं पाहि।

विशस्त्वा धर्मणा वयमनु क्रामाम सुविताय नत्यसे॥[३६]

तेजस्वी राजा शत्रुओं को रोकने में समर्थ और मेघ के सदृश गर्जन करता है, वह प्रजाओं के कष्टों को निवारण करने वाला व मित्र के समान सबके लिये स्नेह भाव से देखने वाला है, वह ही रवि के समान स्वतेज से अच्छी प्रकार चमकता है, तथा सागर के तरह गंभीर एवं कोष के समान सब ऐश्वर्यों का रक्षक है।

अचिक्र दद्वषा हरिर्महान्मित्रो न दर्शत:। सभ सूर्येण दिद्युतदुदधिर्निधि:।[३७]

एक स्थान पर राजा द्वारा विभिन्न घातक शक्तियों को वश में करने के पश्चात प्रजा रक्षण की बात कही गई है।[३८]

ऋग्वेद में भी राजा की प्रजा रक्षा संबंधी अधिकारों क र्तव्यों पर विशेष जोर दिया गया है। प्रजारक्षण राजा का सर्वप्रमुख कर्तव्य माना जाता था। इस विषय पर भी वर्णन प्राप्त होता है। ऋग्वेद के अनुसार - सबकी रक्षा करने वाले इस इन्द्र को उत्तम अन्न देना चाहिये। जो वीर देश की रक्षा करते हैं, उन्हें उत्तम अन्न दिया जाना चाहिये, ताकि वे उत्तम वीर और बलशाली होकर देश के संरक्षण कार्य में समर्थ हों।

---

३५. यजुर्वेद, ३३.९५

३६. यजुर्वेद, ३८.१९

३७. यजुर्वेद, ३८.२२

३८. यजुर्वेद, ३९.९

एमेनं सृजता सुते मन्दिमिन्द्राय मन्दिने । चक्रिं विश्वानि चक्रये ।।[३९]

जिस प्रकार इन्द्र सदा सुखदायक वाहनों पर सर्वत्र भ्रमण करता है वह आनंददायक है और वीर से पुष्ट होता है, उसी प्रकार राजा को चाहिये कि वह पुष्ट होकर प्रजा की रक्षा करता हुआ आनंद से घूमे ।[४०]

राजा राष्ट्र का पोषक, शत्रुओं का दमन करने वाला हो, जब राष्ट्र चारों ओर से शत्रुओं से रहित हो, तभी वह शान्ति से रहकर सामर्थ्यशाली हो सकता है । शत्रुओं को दूर करने का सामर्थ्य मनुष्यों में हो । पर यह कार्य तभी हो सकता है, जब राष्ट्र के रक्षक सत्कर्म में प्रवृत हों । पर जब राष्ट्र के रक्षक ही भक्षक बन जाते हैं तब राष्ट्र का पतन निस्संदेह ही समझना चाहिये ।

आ तत् ते दस्र मन्तुमः पूषन्नवो वृणीमहे येन पितॄमचोदयः ।[४१]

प्रजा को निचोड़ने वाले अर्थात पीड़ा देने वाले दुष्ट को मारकर इन्द्र ने बुराइयों को दूर करने वाले सज्जन पुरूष की रक्षा की, इसी प्रकार अतिथिग्व के लिये शम्बासुर को मारा, अर्बुद को तो इन्द्र ने पैरों से कुचल डाला, इस प्रकार यह इन्द्र राष्ट्र से द्वेष करने वाले असुरों को मारता रहता है, क्योंकि यह इसी कार्य के लिये उत्पन्न हुआ है । इसी प्रकार राजा को चाहिये कि वह राष्ट्र से द्वेष करने वाले शत्रुओं को नष्ट करें । क्योंकि प्रजायें किसी को राजगद्दी पर इसीलिये बिठाती है कि वह उनकी हर तरह से रक्षा करे ।[४२] इन्द्र जब शत्रुओं से युद्ध करके मनुष्यों की रक्षा करता हुआ उनका हित करता है, मनुष्यों में अपना बल प्रकट करता है और सब मनुष्यों की कामनाओं को पूर्ण करता है, तभी लोग उस पर श्रद्धा रखते हैं । इसी प्रकार जो राजा राष्ट्र की रक्षा करेगा प्रजा की समृद्धि का ख्याल करेगा, और उनका हित करेगा, और इस प्रकार बलशाली सिद्ध होगा, तभी प्रजायें उन पर श्रद्धा करेंगी ।

स इद् वने नमस्युभिर्वचस्यते चारू जनेषु प्रबुवाण इन्द्रियम् ।
पूषा छन्दुर्भवति हर्यतो वृषा क्षेमेण धेनां मधवा यदिन्वति ॥
स इन्महानि समिथानि मज्मना कृणोति युध्म ओजसा जनेभ्यः।
अधा चन श्रद् दधति त्विषीमत इन्द्राय वज्रं निघनिन्धते वधम् ॥

---

३९. ऋग्वेद, १.९.२
४०. ऋग्वेद, १.५६.१-२
४१. ऋग्वेद, १.४२.५
४२. ऋग्वेद, १.५१.६
४३. ऋग्वेद, १.५५. ४-५

देवराज इन्द्र दयालु हैं क्योंकि वह आत्मसर्मपण के भाव से आनेवाले अपने भक्त की हर तरह से सहायता करता है, और उसे किसी भी प्रकार का दुःख नहीं होने देता। इसी प्रकार राजा भी अपने शरणागतों की हर तरह से रक्षा करने वाला है।[४४] यह इन्द्र कितने ही असंख्य बलों को धारण करता है। इसीलिये यह सब पर शासन करता है यह जिस वज्र से वृत्रासुर के मर्म स्थान पर आघात करता है, उस वज्र को त्वस्टाने इस इंद्र के लिये विशेष रूप से तैयार किया था। इसी प्रकार राष्ट्र के शत्रुओं को मारने के लिये लोग तीक्ष्ण शस्त्रास्त तैयार करें और राष्ट्र का संरक्षण करें।

अस्मा इदु त्वष्टा तक्षद वज्रं स्वपस्तमं स्वर्य रणाय।
वृत्रस्य चिद् विदद येन मर्म तुजन्नीशानस्तुजता कियेधाः।[४५]

उत्तम ज्ञानी इन्द्र ने शोषण करने वाले वृत्र को वज्र से काट डाला और गायों को मुक्त किया, तथा वृत के हाथ में पड़ी हुई भूमि को भी छुड़ाया और इस प्रकार इन्द्र का यश फैला इसी प्रकार राष्ट्र में प्रजाओं का शोषण करने वाले अधिकारी या अन्य व्यापारी हो राजा उन्हें विनष्ट करे। राष्ट्र में गायें स्वच्छंदता से विहार करे, तथा शत्रुओं द्वारा जबरदस्ती कब्जे में की गई भूमि को राजा मुक्त करे।[४६] राजा इन्द्र अपनी शक्ति से दोनों लोकों को पालता है और प्रजा के कष्ट दूर करता है।[४७] बुराइयों को दूर करके उत्तमता को फैलाने वाले सज्जन की रक्षा के लिये इन्द्र प्रजाओं का शोषण करने वाले दुष्टों का नाश करता है। अपने लोहे के अस्त्रों से आक्रमणकारियों का नाश करता है। इसी तरह राजा राष्ट्र में बुराईयों को दूर करने वाले सज्जनों की रक्षा करे और प्रजा का शोषण करने वाले दुष्टों का नाश करे, तथा वह हमेशा अपने पास सुदृढ शस्त्रास्त्रों को रखे। जिससे प्रजा की रक्षा हो सके।

त्वमायसं प्रति वर्तयो गो र्दिवो अश्मानमुपनीतमृभ्वा।
कुत्साय यत्र पुरूहूत वन्य ञ्छुष्णमनन्तैः परियासि वधैः ॥[४८]

इन्द्र कपट रहित होकर प्रजा की रक्षा करता है और सारी सेनाओं को बल प्रदान करता है। राजा भी इसी प्रकार निस्स्वार्थ भाव से प्रजा की रक्षा करें।[४९] जब मनुष्य आनंद में होता है और इन्द्र की स्तुति करता है, तब वह इन्द्र आकर उसकी रक्षा करता है, वह सभी तरह के मनुष्यों का रक्षक है, सुखी और दुखी सभी प्रकार के जन उससे अपनी रक्षा की प्रार्थना करते हैं।

---

४४. ऋग्वेद, १.५८.६
४५. ऋग्वेद, १.६१.६
४६. ऋग्वेद, १.६१.१०
४७. ऋग्वेद, १.१००.१४
४८. ऋग्वेद, १.१२१.९
४९. ऋग्वेद, १.१८५.१०

विवेष यन्मा धिषणा जजान स्तवै पुरा पार्यादिन्द्रमाह्नः ।
अंहसो यत्र पीपरद यथा नो नावेव यान्तमुभये हवन्ते ॥ [५०]

प्रजा अपने संरक्षण की कामना करते हुये कहती है, हम इस बड़े जीवन संग्राम में वीर, श्रेष्ठ नेता और प्रार्थना को सुननेवाले शत्रु को मारने वाले धन विजेता इन्द्र को अपने संरक्षण के लिये बुलाते हैं।

शुनं हुवेम मघवानमिन्द्र मस्मिन् भरे नृतमं वाजसाजौ ।
शुण्वन्तमुग्रमूतये समत्सु घ्नन्तं वृत्राणि संजितं धनानाम् ॥ [५१]

प्रजा कहती है हे इन्द्र ! तू हमारा रक्षक है, इसीलिये जब हमारे मनुष्यों पर तीक्ष्ण शस्त्र आकर गिरे और जब भयंकर युद्ध हो तब तू हमारी रक्षा कर और हमारे शरीरों को सुरक्षित कर। [५२] हे इन्द्र ! उन्नति तथा रक्षण करने वाले, शत्रु को क्षीण करने वाले प्रशंसनीय बल से युक्त होकर तू वृत को वध करने के लिये अपने रथ में प्रतिष्ठित हो, दायें हाथ में वज्र को धारण कर तथा शत्रु के कपट मुँह का सामना करके उसका नाश कर। उसी प्रकार शूरवीर तथा शक्तिशाली राजा प्रजाओं की सुरक्षा करके उनकी उन्नति करे तथा स्वयं भी प्रशंसनीय बल से युक्त हो। अपने रथ पर अच्छी तरह प्रतिष्ठित होकर तथा शस्त्रादि से सम्पन्न होकर मायायुद्ध करने वाले शत्रुओं का अच्छी तरह सामना करके उन्हें परास्त कर तथा प्रजा रक्षण कर। [५३] हे शूरवीर ! तेरी प्रजा जो डर से कांपती है, उनकी रक्षा कर, उन्हें संकटों से पार करा इन प्रजाओं में जो अत्यंत श्रेष्ठ मनुष्य है, उनकी भी तू रक्षा कर। जो ज्ञानी हमें अपना नेता चुनते हैं, उनका भी संरक्षण कर। [५४] हे राजन् युद्ध में हमारी रक्षा कर, तथा प्रजाजनों का संरक्षण कर प्रजाजन में किसी पर कोई आक्रमण कर रहा हो, तो उस दुखी प्रजा जन का वीर रक्षण करे। [५५] दिवोदास की सुरक्षा के लिये इन्द्र ने शंवर शत्रु का नाश किया। अपनी प्रजा की सुरक्षा करने के लिये राजा को ऐसा ही करना चाहिये, यहाँ यह उपदेश दिया गया है।

यस्य त्यच्छम्बरं मदे दिवोदासाय रन्धयः ।
अयं स सोम इन्द्र ते सुतः पिव ॥ [५६]

---

५०. ऋग्वेद, ३.३२.१४
५१. ऋग्वेद, ३.३२.१७
५२. ऋग्वेद, ४.१६.१७
५३. ऋग्वेद, ६.१८.९
५४. ऋग्वेद, ६.२५.७
५५. ऋग्वेद, ६.४२.५
५६. ऋग्वेद, ६.४३.१

ईश्वर की संचालक शक्तियाँ विशाल हैं उसकी प्रसंशाएँ भी अपूर्व होती है उसकी रक्षण शक्तियाँ कभी कम नहीं होती। इसी प्रकार राजा प्रजा की उन्नति के लिये बड़ी बड़ी नाना योजनाएँ प्रयोग में लावे। और प्रजा सुरक्षा के अनेक साधन तैयार रखे। इनको कभी कम न होने दे। ऐसे ही राजा की सदा प्रशंसा होती है।[५७] इन्द्र शत्रुओं को दबाता है और उत्तम मनुष्यों को बढ़ाता है यह दोनों का राजा इन्द्र है यह प्रजाजनों का संरक्षण करता है।[५८] अनेक जन गौ, अश्व, घर आदि दान में देते हैं। उनका संरक्षण होना चाहिये। उन्हें पाप से बचाना चाहिये। राष्ट्र में अनेक तरह के किले आदि बनाकर प्रजा की रक्षा करनी चाहिये।[५९] जिस तरह इन्द्र अपनी शक्ति से सुरक्षा के साधनों की रक्षा करता है, उसी तरह शत्रु को उखाड़ने के बल से सब सुरक्षा साधनों द्वारा प्रजा का संरक्षण करना चाहिये। राजा क़ो युद्धों में भूमि का बटवारा करते समय झगड़े की जड़ दूर करनी चाहिये।[६०] जिस तरह विष्णु अर्थात व्यापक प्रभु अपने गर्भ रूप प्राणियों की रक्षा करता है, उसी तरह राजा अपनी प्रजाओं की रक्षा करे। राष्ट्र में जो अन्न उन्नत हो, उसका उपयोग राजा अपनी प्रजाओं के पोषण के लिये करे।

अच्छायं वो मरूत: श्लोक एत्वच्छा विष्णुं निषिकपामवेभिः।
उत प्रजायै गृणते वयो धुर्यूयं पात स्वस्तिभि: सदा न:॥[६१]

राजा स्वयं सत्य के मार्ग पर से स्वयं चलकर जनता को चलाने वाले होकर प्रजा के उत्तम कर्मों की प्रशंसा करें। प्रजाओं के उत्तम कर्मों की सुरक्षा करें।[६२] सूर्य मनुष्य के सत्य असत्य व्यवहार का निरीक्षण करने वाला है, वह द्यु और पृथवी के बीच चमकता हुआ सबके व्यवहार को देखता है। यह सूर्य, कौन सरल है कौन कुटिल इन सब बातों का निरीक्षण करता है तथा सबका संरक्षक है। उसी प्रकार राजा को अपनी प्रजाओं के व्यवहारों का निरीक्षण करना चाहिये, सभी के संरक्षण का प्रबंध उत्तम रीति से करना चाहिये तथा प्रजाजनों में अच्छे और बुरे का निरीक्षण करे। इस तरह की व्यवस्था होने से प्रजाओं का कल्याण होगा।

एष स्य मित्रावरूणा नृचक्षा उभे उदेति सूर्यो अभि ज्मन्।
विश्वस्य स्थातुर्जगतश्च गोपा ऋजु मर्तेषु वृजिना च पश्यन्॥[६३]

---

५७. ऋग्वेद, ६.४५.३

५८. ऋग्वेद, ६.४७.१६

५९. ऋग्वेद, ७.१६.१०

६०. ऋग्वेद, ७.१९.३

६१. ऋग्वेद, ७३६.९

६२. ऋग्वेद, ७.४०.४

६३. ऋग्वेद, ७.६०.२

राजा ऋत अर्थात सत्य का रक्षक हो, वह शुभ कर्मों का संरक्षक हो, वह नदियों का पालक हो। नदियों के जल का संरक्षण करे और उस जल का उपयोग वह प्रजाजनों की समृद्धि के लिये करें। वह राजा क्षत्रिय अर्थात प्रजाओं की दु:ख से रक्षा करने वाला हो।[६४] जिस प्रकार अग्नि हिंसा तथा द्वेष करने वालों को नष्टकर प्रजा की रक्षा करती है उसी प्रकार राजा को चाहिये, कि वह बाहर के आक्रमणकारियों अत्याचारियों और हिंसकों से प्रजाओं की रक्षा करे तथा अंदरूनी देश द्रोहियों व शत्रुओं से भी रक्षा करे। जिससे देश में ज्ञान का प्रसार तथा विद्वान पुरूषों की वृद्धि हो।[६५] सभी श्रेष्ठ मनुष्य शत्रुओं को दूर करते सुख प्राप्त करने तथा रोगों के शमन और उनको दूर करने के लिये उसी प्रकार अग्नि की रक्षा करता है जिस प्रकार एक राजा अपनी प्रजाओं की।

अग्नि द्वेषो योतवै नो गृणीमस्थाग्निंश्च योश्च दावते
विश्वासु विक्ष्ववितेव हव्यो भुवद्वस्तुऋषूणाम्।।[६६]

यहाँ पर सोम की स्तुति करने हुये कहा गया है कि तुम राजा के समान अपने बल से दुष्टों का विनाश करो। तथा उत्तम बुद्धि उत्तम आचरण वालों द्वारा हमें संरक्षण प्रदान करो।[६७] जिस प्रकार देवों का इन्द्र प्रजा की सारी चिन्ताओं को दूर कर पितृवत संरक्षण प्रदान करता है उसी प्रकार राजा को भी प्रजा के साथ पितृवत व्यवहार करना चाहिये।[६८]

अत: राजा द्वारा प्रजा का संरक्षण एक महत्वपूर्ण कर्तव्य था इसका विशद वर्णन वेदों में ही प्राप्त होता है।

प्रजापालन

प्रजा की रक्षा का अर्थ केवल कानून व्यवस्था बनाये रखना अथवा जनता के जीवन व संपत्ति की शत्रुओं से रक्षा करना ही नहीं था, वरन राजा को प्रजा के नैतिक कल्याण के लिये सभी कार्य करने होते थे। वैदिक काल से ही राजा धर्म का रक्षक, पोषक और समर्थक माना जाता था। उसका आदर्श ऋत और धर्म की रक्षा करने वाला धृत व्रत वरूण देव था। धर्म का पालन करना और करानां राजा का आवश्यक कर्तव्य समझा जाता था। प्राचीन भारत में ऐसा विश्वास था कि धर्म और सदाचार से ही सुख मिलता है और उनकी वृद्धि तो तभी हो सकती है जब राजा स्वयं उनका

---

६४. ऋग्वेद, ७.६४.२

६५. ऋग्वेद, ८.४४.११-१२

६६. ऋग्वेद, ८.७१.१५

६७. ऋग्वेद, ९.९०.६

६८. ऋग्वेद, १०.३३.३

आदर्श बने । यदि राजा धर्म पालन नहीं करता था तो प्रजा के कष्टों का दायित्व उसी पर रखा जाता था । अत: राजा को चारों वर्णों के व्यक्तियों से धर्म का पालन कराना होता था। उसके लिये यह आवश्यक था कि सभी व्यक्तियों को जीवन के चारों उद्देश्यों - धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति में सहायता दे । महाभारत में कहा गया है - जैसे उत्तम यज्ञ के द्वारा गृहस्थ धर्म का उत्तम स्वास्थ के द्वारा ब्राह्मचर्य का तथा श्रेष्ठ तप के द्वारा वानप्रस्थ धर्म का पालन करने वाला पुरूष जितने पुण्य लोगों में अधिकार प्राप्त कर लेता है, धर्म पूर्वक प्रजा का पालन करने वाला राजा उन्हें क्षण भर में प्राप्त कर लेता है ।[६९] महाभारत में ही एक स्थान पर प्रजापालन की तुलना गार्भिणी स्त्री से भी की जा सकती है

यथा हि गर्भिणी हित्वा स्वं प्रियं मन सोऽनगम् ।

गर्भस्य हितयाधयन्ते तथा राज्ञात्यशंसयम् ।।

उक्त श्लोक में राजा की समानता एक गर्भिणी स्त्री से की गई है । जिस प्रकार गर्भवती स्त्री अपने सभी प्रकार के कष्टों को सहन करके अपने संतान को सुखी रखने का प्रयास करती है ठीक उसी भांति राजा भी अपने प्रजा के हित के लिये अपने सभी सुखों का परित्याग कर देता है । राजा को इस प्रकार प्रजा पालन करना चाहिये । राजा का प्रत्येक कार्य प्रजा की प्रसन्नता (प्रजारंजन) एवं उसके कल्याणार्थ ही होना चाहिये। उस राजा को सर्वश्रेष्ठ कहना चाहिये। जिसके राज्य में प्रजा पिता के घर में पुत्र की भांति निर्भय होकर विचरण करती है ।

पुत्रा इव पितुर्गेहे विषये यस्य मानवा: ।

निर्भया विचरिष्यन्ति स राजा राजसत्तय: ॥[७०]

राजा को सदैव उद्यम शील रहना चाहिये । जिसके साथ सन्धि करना उचित है उसके साथ संधि करना चाहिये, जिसके विरोध करना उचित है उसके साथ विरोध करना चाहिये । चारों वर्णों के धर्म की रक्षा करना राजा का कर्त्तव्य है, क्योंकि धर्म संकट से प्रजा को बचाना ही राजा का सनातन धर्म है। जो राजा सदा प्रजाजन में प्रवृत रहता है वह कभी भी शत्रुओं से पराजित होकर स्थान भ्रष्ट नहीं होता। श्रेष्ठ राजा का कर्त्तव्य है कि उसके राज्य में कहीं चोरी, डकैती, मत्सर और अधर्म आदि न हो ।उसे सदा सनातन धर्म का पालन करना चाहिये ।

कामन्दक ऩीतिसार[७१] में कहा गया है लोक और वेद में कुशल जनों से परिवारित तथा आदर को प्राप्त हुआ राजा बाहर और भीतर राज्य की चिन्ता रखे । इसमें भीतर अपना शरीर है और

---

६९. महाभारत, शांतिपर्व, ७२.३०

७०. महाभारत, शांतिपर्व, ५७.३३

७१. कामन्दकीय नीतिसार, ६. १-३

बाहर राज्य, परस्पर आधार के संबंध ये दोनों एक ही हैं। राजा को सब प्रकार के यत्नों से राज्य की रक्षा करनी चाहिये। यह राजा के कर्तव्यों के अन्तर्गत बताया गया है कि सदा प्रजा के अनुरक्त और प्रजा पालन में तत्पर राजा महालक्ष्मी को प्राप्त होता है। राजा को चाहिये कि वह सभी के लिये आजीविका के साधन जुटाये, जो राजा ऐसा नहीं कर पाता उसे सब कोई इस प्रकार त्याग कर चले जाते हैं जिस प्रकार पक्षी सूखे पेड़ को त्याग कर चले जाते हैं।

प्रजापालन के विषय में शुक्र के विचारों का सार इस प्रकार है - राजा एक प्रकार से प्रजा का सेवक होता है। और प्रजा से वसूल किया गया कर उसका वेतन होता है।[७२] राजा को प्राप्त सत्ता एक प्रकार से धरोहर है, जिसका प्रयोग प्रजा के हित में ही किया जाना चाहिये।

प्राचीन भारत में राजा को प्रजा का सेवक तथा उसके हितों की थाती भी कहा गया। राजा का पद सार्वजनिक था, और राजा की महानता उसके सर्वोच्च पद के कारण थी, अन्यथा राजा की अन्य मनुष्यों की भांति ही होता था राजा इसी अर्थ में स्वामी था कि वह प्रजा के हितों की रक्षा करना था, और दुष्टों को दण्ड देता था। शुक्र ने तो राजा की स्थिति को 'दासत्व' बताया है; ब्रह्म ने शासक को जनता का सेवक बताया है। उसकी आय उसकी सेवा का पारिश्रमिक था। इस प्रकार नीतिशास्त्रों में राजा को जनता की थाती कहा गया है, बौधायन के अनुसार, वह केवल सेवा के लिये पारिश्रमिक पाने वाला है और मनु के अनुसार उस पर जुर्माना भी किया जा सकता है।[७३] प्राचीन भारत में राजा के विषय में ये दोनों धारणाएँ थीं। एक प्राचीन धर्मसूत्र लेखक बौधायन का कथन है कि राजा वास्तंव में प्रजा का सेवक है और प्रजा की आय का छठा भाग जो कर के रूप में दिया जाता है वही उसका वेतन है। नारद भी कर को राजा द्वारा प्रजा की रक्षा का पारिश्रमिक कहते हैं। कालीदास के रघुवंश में कहा गया है कि राजा दिलीप अपनी प्रजा पर कर उसकी समृद्धि के प्रयोजन से लगाता था।

प्रजानामेव भूत्यर्थ स ताम्यो बलिमग्रहीत
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्तेहिरसं रवि ॥
यशसे विजिगीषूणां -----त्यागाय संभृतार्थानाम् (रघुवंश)

राजपद को थाती समझने की धारणा भी प्राचीन भारत में विद्यमान थी। राजा को खास तरह से चेता दिया जाता था कि राजकोष उसकी निजी सम्पति नहीं थी बल्कि जनता की थाती थी और इस विश्वास के नाते ही वह उसका उपयोग सार्वजनिक हित के नाते कर सकता था।

---

७२. घोषाल, यू. एन., ए हिस्ट्री ऑफ इंडियन पॉलिटिकल आईडियाज, पृष्ठ ५०२

७३. सरकार वी. के., दी पॉलिटिकल इन्सटीट्यूशन्स एण्ड थियोरीज़ आफ द हिन्दूज़, पृष्ठ १७५-७६.

राजा और प्रजा के बीच आत्मीयता का संबंध होता था। राजा वस्तुत: प्रजा के निमित्त ही जीवन धारण करता था और प्रजा राजा के लिये सर्वस्व बलिदान कर देने को तत्पर रहती थी राजा का सुख सारी प्रजा का सुख था और प्रजा के उत्सव राजा के जीवनोत्सव होते थे।इसी प्रकार राजपरिवार का दु:ख समस्त प्रजा का दुख होता था और प्रजा की पीड़ा समस्त राजपरिवार की पीड़ा होती थी अथर्ववेद में कहा गया है कि राजा का कल्याण प्रजा में बसता है - ते क्षेमं विशि। एक स्थान पर कहा गया है कि राजा प्रजा का रक्षक अर्थात उसे प्रसन्न करने वाला हो।

सोऽरज्यत ततो राजन्योऽजायत ॥ स विश: सबन्धूनन्नमन्नाद्यमभ्युदतिष्ठत्।

विशां च वै स सबन्धूनां चान्नस्य चान्नाद्यस्य च पियं धाम भवति य एवं वेद ॥[७४]

कौटिल्य के अनुसार उद्योग करना,यज्ञ करना, प्रजा से कराने योग्य कार्यो के अनुशासन जारी करना,दान देना, सारी प्रजापर समान दृष्टि रखकर उसका पालन करना या शत्रु मित्र उदासीन की परख करके उसके अनुरूप व्यवहार करना तथा सुयोग्य व्यक्तियों को विभिन्न पदों पर नियुक्त करना राजाके कर्तव्य माने गये है। सुयोग्य व्यक्तियों के संबंध में अथर्ववेद में कहा गया है कि राजा विद्वानों को उन्नत और समृद्ध करने का प्रयत्न करे।

एवा पतिं द्रोणसाचं सचेतसमूर्ज स्कम्भं धरूण आ वृषायसे।

ओज: कृष्व सं गृभाय त्वे अप्यसो यथा के निपानामिनो वृधे ॥[७५]

कौटिल्य के अनुसार राजाको चाहिए कि वह प्रजा के सुख में सुखी और प्रजा के हित में ही अपना हित समझे, बात तो यह हैकि राजा का अपना प्रिय और हितकारी कोई कार्य पृथक नहीं होता। अत: अपने आप को प्रिय लगने वाला कार्य न करके प्रजा को प्रिय लगने वाला कार्य राजा को करना चाहिए।

प्रजासुखे सुखं राज्ञ: प्रजानां च हिते हितम्।

नात्मप्रियं हितं राज्ञ: प्रजानां तु प्रियं हितम् ॥[७६]

राजाको नित्य उद्योगशील बनकर व्यवहारिक तथा राजनीतिक कार्यों को भलिप्रकार करना चाहिए। क्योंकि नीति के अनुसार चलने पर ही उसकी उन्नति होती है धन एवं ऐश्वर्यकी प्राप्ति होती है राजा को चाहिए कि प्रजा को सुशिक्षित और समृद्ध बनाने का हर संभव प्रयास करे। वह प्रजानुरंजक बने। वह अधर्म आचरण अनर्थकारी व्यवहार और अनाचार से स्वयं दूर रहे और प्रजा को

---

७४. अथर्ववेद,१५.८

७५. अथर्ववेद, २०.९४.४, ऋग्वेद १०.४४.४

७६. कौटिल्य का अर्थशास्त्र, अधिकरण १.१९.२

दूर रखे। वह काम का भी सेवन करे किंतु धर्मऔर अर्थ को किसी भी प्रकार की क्षति न पहुंचे। वह स्वयं तथा अपनी प्रजा को इस त्रिवर्ग का संतुलित उपभोग करने दे। संक्षिप्त में राजा का कर्तव्य हित संपादन तथा प्रजापालन है।

महाभारत में एक स्थान पर भीष्म कहते है कि प्रजाका धर्मपूर्वक पालन करने के कारण राजा एक दिन में जिस धर्म का भागी होता है, उसका फल वह दस हजार वर्षो त स्वर्ग में रहकर भोगताहै।[७७] महाभारत के समय यह विश्वास प्रचलित था कि राजा द्वारा सुरक्षित प्रजा जिस धर्म का आचरण करती है उसका चौथा भाग राजाको मिलताहै।[७८]

बाल्मीकि रामायण के अनुसार राजा का प्रमुख कर्तव्य धर्म पालन और प्रजा रंजन है बाल्मीकि रामायण मे अनेक स्थानों पर इस विषय का विवेचन किया गया है कि विश्वामित्र मुनि ताड़का वध के लिये राम को प्रेरित करते हुये कहतेहै कि इस दुराचारिणी को मारो,इस राक्षसी में मानव धर्म नहीं है अर्थात यह समस्त मानव जाति के लिये घातक है।[७९] इसी प्रकार अरण्य काण्ड में - मुनि इकट्ठे होकर राम के पास पहुचें और उन्होंने रावण के विषय में कहा - 'उस भूपति के राज्य में महान अर्धम होता है जो कि प्रजा के उपज का छठा हिस्सा कर के रूप में ये ले लेता है, परंतु उस प्रजा की पुत्रवत रक्षा नहीं करता,जो राजा अपने को प्रजा रक्षण में लगाता हुआ सब देशवासियों को अपने प्राणों के समान नित्य सावधान होकर सदा सुरक्षित रखता है वह चिरस्थाई अटल कीर्ति को पाता है। जो मुनि परम धर्म उपार्जित करता है उसके चौथे भाग का भागीदार वह राजा भी बन जाता है जो कि धर्म से प्रजा कि रक्षा करता है।[८०] अयोध्या काण्ड में जब राम को युवराज बनाने का निश्चय हो गया तब राजा दशरथ राम से कहते है पुत्र ! तुम दूतों द्वारा परोक्ष रूप से सत्यासत्य का भेद लेना यथा राजसभा में बैठकर प्रत्यक्ष रूप से सत्यता को परखना और ऐसा करत े हुये अमात्यआदि राज कर्मचारियों मात्र प्रजामात्र का न्याय करते हुये प्रसन्न रखना औरअनेक विध प्रचुर धान्यों से भरपूर कोष्ठागारों, बहुविध शस्त्रों से परिपूर्ण आयुधागारों के साथ साथ सोना चाँदी,हीरामणि- मुक्ता वस्त्र आदि के बहुत से कोषों को रखकर प्रजाका अनुरंजन करना।[८१] अथर्ववेद में एक स्थान पर कहा गया है कि राजा जनता का हित सोचने वाला हो , जनता में ही उसका मन लगे अत: उसे नृमण: कहा गया है ।

---

७७. महाभारत, शांतिपर्व, ७२.२९
७८. महाभारत, शांतिपर्व, ७६.६
७९. वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड, सर्ग १०
८०. वाल्मीकि रामायण, अरण्यकाण्ड, सर्ग ५
८१. वाल्मीकि रामायण, अयोध्या काण्ड, सर्ग ३

त्वं नृभिर्नृमणों देववीतौ भूरीणि वृत्रा हर्षश्र्व हंसि ।
त्वं नि दस्युं चुमरिं धुनि चास्वापयो दभीतये सुहन्तु ॥ [८२]

इसी प्रकार अथर्ववेद में ही अन्यत्र कहागया है राजा प्रजा के पेय और भोजन की व्यवस्था करने वाला हो; ताकि प्रजा राज्य में प्रसन्नता पूर्वक रहे।[८३] जो राजा प्रजासे प्रेम करता हुआ प्रजा को अपनी अनुरागिणी बनाता हुआ राज्य-पालन करता है उसकी प्रजा मित्र होकर आनंदित रहती है।

रामचरित मानस में तुलसी ने राजाके कर्तव्यों पर अनेक स्थानों पर प्रकाश डाला है। श्री राम लक्ष्मण को समझाते हुये कहते है कि जिस राज्य में प्रजा दुखी रहती है वह निंदनीय है और उसका राजा नरकगामी होता है। राजा का कर्तव्य है कि राजकोष में जो कर इकट्ठा हो उसे जन कार्यों में व्यय किया जाये। अच्छे राज्य में किसी भी प्रकार की विशेष रूप से धन व अधिकार की विषमता नहीं होनी चाहिये। प्रजाजन को चरित्रवान बनाना भी राजा का महत्वपूर्ण कर्तव्य है। अत: राज्य में शिक्षा का ऐसा प्रबंध हो कि स्त्रियां,पुरूष और बच्चे उत्तम विचार वाले बने। शुक्र का विचार था कि राजा का प्रमुख कार्य केवल राज्य में प्रजा का कल्याण करना और राज्य के अन्तर्गत आने वाले कष्टों का दमन करना होना चाहिये। इससे राजा को चाहिये कि वह नीतिशास्त्र काअवलोकन एवं अध्ययन करे। तभी वह प्रजा का कल्याण कर सकता है शुक्र के अनुसार - केवल दण्ड के द्वारा ही राजा देश में शांति स्थापित कर पाता है।

राजदण्ड भायाल्लोक: स्वस्वधर्म पवे भवेत्।
बिना स्वधर्मान्त सुख स्वधर्मोहिंपर तप:॥
सुदरादैधर्म निरता: प्रजा: कुर्यान्महाभयै:।
नृप: स्वधर्म निरतो भूत्वा तेज: क्षयोन्यथा ॥

इस प्रकार स्पष्ट है कि राजा का यह परम कर्तव्य हो जाता है कि वह प्रजा को स्वधर्म में निरत करे,क्योंकि इसी से उसको तेज प्राप्त होता है राजा को प्रेरक माना गया है जिसकी प्रेरणा के फलस्वरूप ही प्रजा अपने स्वयं के धर्म में रत होकर कार्य करती है।

मौर्य काल में भी प्रजापालक राजाओं का परम कर्तव्य था वैश्य पुष्यगुप्त ने चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्यकाल मे सुदर्शन नामक जलाशय का निर्माण करवाया था, और अशोक के समय तुषास्क ने इसमें नहरें निकलवाई। जूनागड़ लेख का यह विवरण मौर्य राजाओं की प्रजा के प्रति कल्याण का

---

८२. अथर्ववेद, २०.३७.४ ऋग्वेद ७.१९.४

८३. अथर्ववेद, ४.८.१

८४. त्यागी एण्ड भाटिया, हिन्दू राजशास्त्र, पृष्ठ १९७

प्रतीक है तथा उनके अधिकारियों की कार्यक्षमता का परिचय देता है।[८५] अशोक के लेखों से भी उसकी व्यस्त दिनचर्या प्राणीमात्र के कल्याण तथा प्रजा के प्रति पुत्रवत् भाव की पुष्टि होती है।[८६]

हर्षवर्धन के समय भी अत्यन्त सुन्दर प्रथा थी। अपनी प्रजा के सुखों तथा दुःखों को जानने हेतु सम्राट यदा-कदा अपने राज्य में भ्रमण किया करते थे। इस समय वे अपनी प्रजा के दुःखों को जानते थे, तथा उसके निवारणार्थ प्रयास करते थे। सम्राट् अपनी सेना के साथ राज्य में घूमता था। उसे निवास के लिये मार्ग में अस्थाई निवास स्थान बनाये जाते थे। प्रजा को पूरी स्वतंत्रता थी कि वह अपनी कठिनाई राजा के सामने उपस्थित करे।

हर्ष ने अपने सारे दिन के समय को विविध महत्वपूर्ण कार्यों के संचालन के लिये अनेक भागों में विभक्त कर रखा था। ह्वेन्सांग के अनुसार- सम्राट् का दिन का समय तीन भागों में विभक्त था। दिन का१/३ भाग शासन कार्यों में तथा शेष २/३ भाग धर्म के कार्यों में बीतता था राजा सदा सत्कर्मों मे व्यस्त रहता था उसने प्रजाहित के कार्य सर्वाधिक महत्वपूर्ण थे।

इस प्रकार राजा को काफी विस्तृत अधिकार प्राप्त थे। हर्ष स्वयं सभी शासनात्मक कार्यों में भाग लेता था। उसको यद्यपि सभी अधिकार थे तथापि वह कभी भी स्वेच्छाचारी नहीं था। उसका अधिकतम समय प्रजा के दुःखों को जानने एवं उसके निवारण में बीतता था।

वेदों में भी राजा की प्रजापालन संबंधी शक्तियों तथा कर्त्तव्यों का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। यजुर्वेद के अनुसार- हे ईश्वर तू प्रजा के नित्य समीप रहकर उनका पालन करने वाला रक्षक है। दिव्यगुणवाली प्रजाएँ,कांतिमान्, तेजस्वी,समर्थ विद्वान् पुरूषों को प्राप्त हों। अर्थात प्रजा का कल्याण हो।[८७] हे दिशाओ ! तू सब प्रकार से नियमन करने वाला, ध्रुव अर्थात स्थिर सबका आश्रय स्थान है। तुझको खेती के लिये,हमारे योगक्षेम के लिये,जगत् कल्याण के लिये राष्ट्र में ऐश्वर्य वृद्धि के लिये तथा तुझको प्रजा पालन के लिये स्वीकारता हूँ।[८८] प्रजा का पालक राजा वेद के ज्ञान के अनुसार यज्ञ में सोमरस का पान करता है तथा ऋत से सत्य को प्राप्त करता है। वह ऐश्वर्य को भी प्राप्त करे।[८९] राजा कहता है कि मेरे शरीर के सब अंग मेरे राष्ट्र की प्रजा के समान है। जैसा राष्ट्र सुरक्षित रखना योग्य है, उस प्रकार राष्ट्र की सेवा करने के कार्य करने वाले मेरे सब अंग राष्ट्र सेवा करने के लिये सुरक्षित रखने चाहिये।

---

८५. सरकार डी. सी., रूद्ररामन का जूनागढ़ अभिलेख, सेलेक्ट इंसक्रिप्शन्स, पृष्ठ १७७

८६. गुप्त परमेश्वरी लाल, प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख, भाग १, पृष्ठ २४-२६

८७. यजुर्वेद, ६.७

८८. यजुर्वेद, ९.२२

८९. यजुर्वेद, १९.७८

पृष्ठीर्मे राष्ट्रमुदरमसौ ग्रीवाश्च श्रोणी ।

उरू अरत्नी जानुनी विशो मेऽङ्गनि सर्वत: ॥ [९०]

अश्व मेघ यज्ञ के समय सबको प्रेरणा देने वाला विद्वान समस्त विद्वानों के हित के लिये यज्ञ के योग्य प्रजा पालक राजा को विज्ञापित करने करने के लिये कार्य करता है अर्थात राजा समस्त विद्वानों का पालन करता है।[९१] अथर्ववेद में विद्वानों के पालन के विषय में कहा गया है । यह राजा का कर्तव्य है। यर्जुवेद में ही अन्यत्र कहा गयाहै कि परम ऐश्वर्य सम्पन्न परमेश्वर सब जगत का राजा है। वही मनुष्यों और पशु पक्षियों के लिये कल्याण करने वाला है।

इन्द्रो विश्वस्य राजति । शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे । [९२]

हे ईश्वर ! जिस जिस स्थान से तुम्हारा कर्म चलता है, उस सप्त स्थान से हमारे लिये, हमारी प्रजाओं और पशुओं के लिये कल्याणमय अभय दान करो।[९३] तेजस्वी राजा शत्रुओं को रोकने में समर्थ है तथा प्रजा के कष्टों कानिवारण करता है तथा प्रजा से मित्रवत व्यवहार रखता है वह राजा प्रजा के ऐश्वर्य और सम्पत्ति का रक्षक है। [९४]

ऋग्वेद में भी प्रजा पालन संबंधी राजा के अधिकार तथा कर्त्तव्यों का वर्णन प्राप्त होता है। इन्द्र और वरूण दोनों अपने तेज से प्रकाशित होने वाले और मनुष्यों की रक्षा करके उनका भरण पोषण करने वाले हैं। ये दोनों बुलाबे पर भक्त की रक्षा के लिये जाते हैं। इसी प्रकार राष्ट्र का राजा अपनी प्रजाओं की रक्षा करके उनको शक्ति से युक्त करके उनका पालन पोषण करे और तेज से प्रकाशित हो।

इन्द्रावरूणयोरहं सम्राजोरव आ वृणे । ता नो मूलात ईद्वशे ॥

गन्तारा हिस्थोऽवसे हवं विप्रस्य मावत: । धर्वारा चर्षणीनाम् ॥ [९५]

हे इन्द्र ! हे राजन ! तू श्रेष्ठ पुरूषों को अच्छी तरह पहचान ले, जो दुष्ट हैं उन्हें भी अच्छी तरह से पहचान ले और ऐसे व्रतहीन या उत्तम कर्म न करने वाले मनुष्यों को संगति

---

९०. यजुर्वेद, २०.८

९१. यजुर्वेद, २५.२७, अथर्ववेद, २०.९४.४

९२. यजुर्वेद, ३६.८

९३. यजुर्वेद, ३६.२२

९४. यजुर्वेद, ३८.२२

९५. ऋग्वेद, १.१७ १-२

९६. ऋग्वेद, १.५१.७

करण, दान, देवपूजा आदि उत्तम कर्म करने वालों के लिये नष्ट कर अर्थात ऐसा प्रबंध कर की व्रतहीन मनुष्य उत्तम कर्म करने वालों को दुख न दे सकें। उन मनुष्यों को अपने शासन में रख। इस प्रकार तेरे राज्य में प्रजाओं को उत्तम कर्म करने की प्रेरणा मिले और तेरे हर कामों की हृदय से प्रसंशा करे।[९६] इन्द्र ने कक्षीवान को वृचया नाम की स्त्री प्रदान की, वृषण को सेना प्रदान की तथा यह इन्द्र उत्तम बुद्धि वालों की हमेशा सहायता करता है उन्हें कभी दरिद्र नहीं रहने देता इन्हीं कारणों से उसकी कीर्ति सर्वत्र गायी जाती है और उसकी वह कीर्ति हमेशा स्थाई रहती है। इसी तरह जो राजा अपनी प्रजा की हर आवश्यकताओं की पूर्ति करता है और बुद्धिमानों की हर तरह से सहायता करता है उसका यश चारों ओर फैलता है, और वह यश भी स्थाई रहता है।

अददा अर्भा महते वचस्यवे कक्षीवते वृचयामिन्द्र सुन्वते।
मेनाभवो वृषणश्वस्य सुक्रतो विश्वेत ता ते सवनेषु प्रवाच्चा॥
इन्द्रो अश्रायि सुध्वो निरेके वज्रेषु स्तोमो दुर्यो न यूपः।
आश्वयुर्गत्यू स्थयुर्वसूयु रिन्द्र इद्रायः क्षयति प्रयन्ता ॥[९७]

वीर राजा देश में ज्ञान का प्रसार करके और उत्तम राजप्रबंध करके आनंदित होते है, प्रजाओं के आनंद में ही इनका आनंद है अर्थात राजा प्रजा के सुख को स्वयं का सुख मानते है।[९८] राष्ट्र में प्रजाओं को उत्तम धन और बलवर्धक और पोषक अन्न अर्थात गाय का दूध मिलता रहे राजा को ऐसा प्रबंध करना चाहिये।[९९] अग्नि संगठन के कार्यो में सहायता देकर सुख बढ़ाता है, वह राजा की तरह प्रजा का पालन करता है। तथा यज्ञों में विघ्न डालने वाले धूर्तों से बचाता है।[१००] इन्द्र नदियों के जल प्रवाह को मुक्त करता और चलाता है तब वे प्रजा के पास पहुँचती हैं। वे जल प्रवाह काम दुधा गाय के समान प्रजाओं की हर कामनाओं को पूर्ण करते है। इसी तरह राजा अपने देश में नहरों द्वारा प्रजाओं के पास पानी पहुँचाकर अन्न के द्वारा उन्हें सुखी और समृद्ध बनाये यह राजा का कर्तव्य है।

त्वं वृथा नद्य इन्द्र सर्वतेऽच्छा समुद्रमसृजो रथाँ इव वाजयतो रथाँ इव।
इत उतीरयुञ्जत समानमथमक्षितम्।
धेनूरिव मनवे विश्वदोहसो जनाय विश्वदोहसः॥[१०१]

---

९७. ऋग्वेद, १.५१ १३-१४
९८. ऋग्वेद, १.१०८. ६-७
९९. ऋग्वेद, १.१२०.९
१००. ऋग्वेद, १.१२७.७
१०१. ऋग्वेद, १.१३०.५

देवराज इन्द्र ! प्रजापालक बलवान, तेजस्वी, बहुत प्रतिष्ठित और प्रजाओं का स्वामी है, क्योंकि उसे यश पाने के लिये सभी लोग बुलाते हैं।[१०२]

जिस तरह अग्नि मनुष्यों का हर तरह से हित करने वाली यह अग्नि मानवी प्रजाओं को उन्नत करने के लिये प्रजाओं के लिये उनके बीच जाकर कार्य करती है, तब प्रजा उसे ऊँचा स्थान देती है और उसकी आराधना करती है इसी तरह प्रजा के बीच उच्च स्थान पाने राजा को कार्य करने चाहिये।[१०३] यह इन्द्र सबका भाई अर्थात पोषण करने वाला है इसीलिये सब मित्र इससे प्रेम करते हैं और युद्धादि आपत्ति के समय इसकी हर तरह से सहायता करते हैं। इसके सहायक भी मरन्त अर्थात मरने तक उठकर लड़नें वाले हैं। इसी तरह राष्ट्र में भी राजा सभी प्रजाओं का भरण पोषण करेगा तो प्रजाएँ भी उससे प्रेम करेगी और आपत्ति के समय उसके सहायक मित्र उसके लिये प्राण भी अर्पित कर देंगे।

अप्तूर्ये मरूत आपिरेषोऽमन्दन्निन्द्रमनु दातिवारा:

तेभि: साकं पिबतु वृत्रखाद: सुतं सोमं दाशुष: स्वे सधस्थे ॥[१०४]

अग्नि अपने तेज से सब मनुष्यों कापालन करता है और उसके भक्त को कोई पापी पीड़ित नहीं कर सकता। उसी प्रकार राजा की अपने राज्य में गुप्तचरों की नियुक्ति करे और अपनी प्रजा का उत्तम रीति से पालन करे। कोई भी पापी उसके राज्य में रहकर प्रजा को न सता सके। इस प्रकार वह राजा दुष्टों पर नियंत्रण करता हुआ शासन करे।[१०५] परमेश्वर ने जिस प्रकार सब लोगों को सुख मिले इसीलिये सूर्य को निर्माण करके चलाया। इसी तरह राजा अपनी प्रजा को सुख देने के लिये कार्य करे।[१०६] राजा को जनता की सहायता करनी चाहिये, कष्टों से नागरिकों की सुरक्षा करनी चाहिये शत्रु से घेरे गये मनुष्यों की सहायता करके छुड़ाना चाहिये।[१०७] जिस प्रकार अग्नि तेजस्वी होकर राष्ट्र में सभी प्रजा के पोषण की व्यवस्था करती है साथ ही अपने शरीर की रक्षा कर सके पुष्ट और स्वस्थ बनाये रखती है उसी प्रकार राजा का भी कर्तव्य है कि वह प्रजा के संरक्षण के साथ ही साथ अपने शरीर की भी रक्षा करे।[१०८] विशेष ज्ञानी मनुष्य हिंसा रहित कर्म करते हैं, और उसमें वीर का सत्कार

---

१०२. ऋग्वेद, १.१७७.१

१०३. ऋग्वेद, ३.५.३

१०४. ऋग्वेद, ३.५१.९

१०५. ऋग्वेद, ४.४.३

१०६. ऋग्वेद, ४.३०.६

१०७. ऋग्वेद, ५.७४.४

१०८. ऋग्वेद, ६.११.२

करते हैं, क्योंकि वीर ही ऐसे कर्म कर सकता है। प्रजाओं का पालक यह राजा उसका आनंद बढ़ाता हुआ मीठा भाषण करता हुआ तथा सत्यनिष्ठ रहकर प्रजाओं के ही स्थान में रहे, प्रजाजनों में ही रहे। अपने राष्ट्र में ही रहे। जो राजा प्रजाओं में रहता है, वह प्रजाओं के सुख दुःख से अच्छी तरह परिचित होता है। राजा प्रजाओं के सुख दुःख को जानकर हर तरह के उनका हित करे।

सद्यो अध्वरे रथिरं जनन्त मानुषासो निचेतसो य एषाम्।
विशामधायि विश्पतिर्दुरोणेऽग्निर्मन्द्रो मधुवचा ऋतावा ॥[१०९]

जो यज्ञ किया जाये उसमें अन्न भरपूर हो। प्रजा का कल्याण करने में तत्पर राजागण सभा में आकर बैठें और उन सभाओं में प्रजाओं के कल्याण का विचार करें। राजा और राजपुरूष प्रजा के कल्याण की तरफ ही हमेशा ध्यान रखें और अपना कर्तव्य करें।[११०] यहाँ पर सोम की स्तुति में कहा गया है कि जिंस प्रकार सब प्रजाओं का पालक या नेता जैसे राजा होता है, उसी प्रकार प्रजाओं का पालक होकर तू कलश में आ।[१११]

अथर्ववेद में भी राजा के प्रजापालन संबंधी अधिकार और कर्तव्य का विवरण मिलता है। एक स्थान पर कहा गया है प्रजाजनों का हित और मंगल करने वाला, प्रजाओं का उत्तम पालन करने वाला, घेरकर नाश करने वाला, बलिष्ठ, अमृतपान करने वाला, प्रजा को अभय देने वाला राजा ही अग्रगामी बने।[११२] हे राजन्! प्रजा के शत्रु का नाश कर सेना लेकर हमला करने वाले शत्रु को दबा दे जो घातपात और नाश करना चाहता है। उसे भगा दे।[११३] हिंसक क्रूर शत्रुओं को मार डाल घेरकर सताने वाले दुष्टों को काट दे, सब प्रकार के शत्रुओं का उत्साह नाश कर दे।[११४] शत्रुओं का मन ही बदल दे अर्थात वे हमला करने का विचार छोड़ दें नाश करने वालों को दूर कर दें घात पात आदि को दूर कर सब प्रजा को सुखी कर दे।

अपेन्द्र द्विषतो मनोऽप जिज्यासतो वधम्।
पि महच्छर्म पच्छ वरीयो यावया वधम्॥[११५]

---

१०९. ऋग्वेद, ७.७.४
११०. ऋग्वेद, ७.३९.२
१११. ऋग्वेद, ७.१०८.१०
११२. अथर्ववेद, १.२१.१
११३. अथर्ववेद, १.२१.२
११४. अथर्ववेद, १.२१.३
११५. अथर्ववेद, १.२१.४

प्रजापालक परमेश्वर इन सब प्रजाओं को उत्पन्न करता है, और वही उत्तम मनवाला, धारक देव इनको धारण करता है। इससे प्रजाएँ ज्ञान प्राप्त करके एक मत के कार्य करने वाली, एक विचारवाली और एक कारण से बंधी होकर रहती हैं। इन सब प्रजाओं में रहनेवाले पुष्टि को देने वाला ईश्वर प्रजा को पुष्टि देवे। एक राज्य के अन्तर्गत राजा को प्रजा के साथ ईश्वर की तरह पुष्ट करने का प्रयत्न करना चाहिये।[११६] हम सब प्राणिमात्र के लिये विद्युत, अग्नि, पृथ्वी आदि सब देव तथा विविध प्रकार के वायु जो लाभ देते हैं, वह लाभ हमें सूर्य से प्राप्त होता है, परंतु उससे योग्य रीति से लाभ प्राप्त करना चाहिये। क्योंकि सच्चा प्रजा पालक सूर्य ही है। सूर्य के समान ही राजा को अपनी प्रजा का पालन करना चाहिये।

यन्न इन्द्रो अखनद्यदग्निर्विश्वे देवा मरूतो यत्स्वर्का:।
तदस्मभ्यं सविता सत्यधर्मा प्रजापतिरनुमतिर्नि यच्छात्॥[११७]

राजा का कर्तव्य है कि वह प्रजा के पारस्परिक द्रोह को समाप्त करे। प्रजा की समृद्धि उन्नति करे। यज्ञ का प्रेमी और ईश्वरभक्त हो। प्रजा के अभीष्ट पूर्ण करे और उन्हें दीर्घायु करे।

अत: वैदिक काल से ही राजा के प्रजापालन संबंधी अधिकारों की परंपरा चली आ रही है, जिसका परवर्ती कालों में विकास होता गया।

कार्यपालिका संबंधी -

प्रशासन के क्षेत्र में राजा सर्वोच्च अधिकारी था। अत: राजा को राज्य के उत्तम संचालन हेतु प्रशासन में योग्य एवं कुशल अधिकारियों की सहायता की आवश्यकता होती थी अत: मंत्रीपरिषद्, कोष, सेना इन आवश्यक पदाधिकारियों की नियुक्ति उनकी पदोन्नति और पदच्युति सभी कुछ राजा का कर्तव्य क्षेत्र के अन्तर्गत सम्मिलत थे।

मनु के अनुसार कार्यपालिका संबंधी कर्तव्य सबसे महत्वपूर्ण था क्योंकि इसके बिना अन्य कर्तव्य पूरे नहीं हो सकते थे। इसके दो पहलू थे - रक्षण और दण्ड। रक्षण के अन्तर्गत सभी वर्गों के व्यक्तियों की रक्षा आती थी, जैसे - वर्ण व्यवस्था को भंग होने से रोकना और दुर्बलों की बलवानों से रक्षा करना। दुर्बलों की रक्षा अपराधियों को दण्ड देकर की जाती है। रक्षा के कर्तव्य का एक पहलू यह भी था कि अवयस्क तथा अशक्त व्यक्तियों की भी रक्षा की जाये। विरासत में अवयस्कों की सम्पत्ति की रक्षा करना, बांझ स्त्रियों, विधवाओं आदि की रक्षा करना भी राजा का कर्तव्य था।

---

११६. अथर्ववेद, ७.१९.१

११७. अथर्ववेद, ७.२४.१

इसके अतिरिक्त आपातों के विरूद्ध जनता की रक्षा जैसे- अग्नि, बाढ़, आकाल,संक्रामक रोग हानिकारक पशुओं से रक्षा ये भी रक्षण कार्य में सम्मिलत थे। डाकुओं और अपराधियों से जनता की रक्षा करने के कर्तव्य पर कौटिल्य ने बल दिया है। राजा के इन कर्तव्यों को दूसरी दृष्टि में देखा गया। हिन्दू चिंतन ने धर्म को राज्य का सच्चा प्रभु माना, जिसे कानून (अथवा धर्म) का शासन भी कहा जाता था। राजा कार्यपालिका था। जिसे दण्ड कहा गया और जो धर्म (आध्यात्मिक प्रभु) के आदेशों को बनाये रखने व लागू करने का कार्य करता था।[११८]

रामायण में भी मंत्री एवं मंत्रीमण्डल का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है। राजा के सहायतार्थ राजा द्वारा ही मंत्रियों की नियुक्ति की जाती थी राजा को नियुक्ति संबंधी अधिकार प्राप्त थे। बालकाण्ड[११९] में उल्लेख है कि राजा दशरथ के कर्तव्यनिष्ठ एवं विश्वसनीय ८ मंत्री थे। पुरोहित मंत्रीपरिषद के सदस्यों में सर्वोच्च था। राम के वनगमन तथा दशरथ के निधन पर मंत्रियों ने भरत को बुलाया तथा राजा बनने के लिये प्रेरित किया राजपद अस्वीकार करने पर वे भरत के साथ राम से परामर्श करने चित्रकूट गये। जब चित्रकूट में भरत राम के मिले तो राम ने पूछा हे "भरत ! क्या तुमने अपने समान पराक्रमी, विश्वसनीय,इन्द्रियजयी, कुलीन, अभिप्राय को तुरन्त समझने वाले मंत्रियों की नियुक्ति की है।[१२०]

प्रस्तुत अंश से स्पष्ट होता है कि क्या राजा अपने राज्यकाल में कुछ नये मंत्रियों की नियुक्ति करता था। राजा द्वारा किसी भी विशेष प्रश्न पर मंत्रियों से मंत्रणा करने का भी विवरण प्राप्त होता है युद्धकाण्ड में लंका पर आक्रमण करने से पूर्व राम ने अपने मंत्रियों से मंत्रणा की थी।

महाभारत में राजा द्वारा विभिन्न पदाधिकारियों की नियुक्ति का विवरण प्राप्त होता है। इस क्षेत्र में राजा का कर्तव्य जितना विस्तृत था उससे कहीं अधिक महत्वपूर्ण उसका उत्तरदायित्व था। भीष्म कहते हैं - जो सेवक जिस कार्य के योग्य हैं उसे राजा उसी पद पर नियुक्त करे। कर्म फ-ल के अभिलाषी को इस नियम के विरूद्ध सेवकों की नियुक्ति करना उचित नहीं है।[१२१] जो बुद्धिमान राजा इस नियम का अतिक्रमण करके विरूद्ध नीति से सेवकों की नियुक्ति करता है वह प्रजारंजन कार्य संपादन करने में समर्थ नहीं होता।[१२२] एक स्थान पर भीष्म की ने कहा है कि राजा को पदाधिकारियों को उनकी योग्यता के अनुसार नियुक्त करना चाहिये। नारद ने मनुष्य की तीन श्रेणियाँ

---

११८. मुखर्जी, राधाकुमुद, चंद्रगुप्त मौर्य एण्ड हिज टाईम्स, पृष्ठ ४८९
११९. वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड, सर्ग ७.२-३
१२०. वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड
१२१. महाभारत, शांतिपर्व, १.९.६
१२२. महाभारत, शांतिपर्व, १.९.७

विभाजित की हैं। जिसके अनुसार सदा ही उत्तम पुरूष को उत्तम पद, मध्यम पुरूष को मध्यम पद और जधन्य को जधन्य पद सौंपना चाहिये।[१२३] राजा को विभिन्न कार्यों में सहायता देने वाले व्यक्तियों की योग्यता में अंतर देखा जाता है। प्रत्येक व्यक्ति में समक्ष कार्यों को करने की योग्यता एवं क्षमता नहीं होती अत: इस संबंध में महाभारत में कहा गया है कि मूर्ख शूद्र, बुद्धिमान इंद्रिय-लोलुप और अकुलीन पुरूषों को राज्य संचालन कार्य हेतु नियुक्त करना गुणगान राजा का कर्तव्य नहीं है। इस कार्य के लिये ज्ञानी अनित्य पवित्र और दक्ष व्यक्ति की ही नियुक्ति करनी चाहिये।[१२४] महाभारत के अनुसार राज्य के संवर्धन हेतु मंत्रियों की मंत्रणा का विशेष महत्व था।[१२५] शांतिपर्व में उल्लेख है कि राजा तीन मंत्रियों के विमर्शों को सुनता था उनको समझकर उन तीनों के मत तथा अपने को विद्वान गुरू ब्राह्मण के समक्ष कहता था। वह गुरू सभी मतों का सम्यक् विवेचना करके जो सिद्धांत एक मत से निर्णय करता था उस मंत्र मार्ग पर राजा आचरण करता था। महाभारत में यह भी कहा गया है राजा अपने मंत्रियों पर उतना निर्भर है, जितना प्राणिमात्र पर्जन्य (वर्षा करने वाले) पर, ब्राह्मण वेदों पर और स्त्रियां अपने पतियों पर।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मंत्री एवं मंत्रीमण्डल से संबंधित विवरण मिलता है कौटिल्य के अनुसार राजत्व की गाड़ी एक चक्र से नहीं चलती। अत: राजा को चाहिये कि वह सुयोग्य कर्मचारियों की नियुक्ति कर उनके परामर्शों को हृदयंगम करे।

सहायसाध्यं राजत्वं चक्रमेकं न वर्तते।
कुर्वीत सचिवांस्तस्मात्तेषां च श्रणुयान्मतम् ॥[१२६]

प्रथम ये आमात्य सामान्य विभागों (अधिकरणों में नियुक्त किये जाते थे। उसके उपरान्त राजा अपने मंत्रियों और पुरोहितों की सहायता से उनकी परीक्षा लेता था। ये परीक्षाएँ चार प्रकार की थी - धर्मोपधा, अर्थोपधा, कामोपधा तथा भयोपधाजो आमात्य धर्म परीक्षा में निष्णात सिद्ध होते थे उन्हें धर्मस्थ (दीवानी न्यायालय) तथा कण्टकशोधन (फौजदारी न्यायालय) संबंधी कार्यों में नियुक्त किया जाता था। जो अर्थ परीक्षा में उत्तीर्ण होते थे उन्हें समाहर्ता (टेक्स कलेक्टर) तथा सन्निधाता (कोषाध्यक्ष) पदों पर आसीन किया जाता था। अंत:पुर की रक्षा एवं विलास स्थलों की देखरेख हेतु कामोपधा परीक्षा में उत्तीर्ण, अंगरक्षक पद पर भयोपधा परीक्षा में उत्तीर्ण व्यक्ति नियुक्त किये जाते थे। सभी परीक्षाओं में उत्तीर्ण आमात्यों की नियुक्ति मंत्री पद पर की जाती थी। जो आमान्य सभी

---

१२३. महाभारत, समापर्व, ५.५७

१२४. महाभारत, शांतिपर्व, ११९.८.९

१२५. महाभारत, शांतिपर्व,८४.४५

१२६. कौटिल्य का अर्थशास्त्र, १.६

परीक्षाओं में अनुतीर्ण हो जाते थे उन्हें खानों जंगलो आदि के श्रमसाध्य कार्य हेतु नियुक्त किया जाता था।[१२७] राजा की सहायता हेतु सुयोग्य मंत्रियों की नियुक्ति के लिये कौटिल्य ने विस्तार से मत व्यक्त किये हैं। व्यवहारिक दृष्टि से राजा को आवश्यकतानुसार मंत्रियों की संख्या निर्धारित करनी चाहिये। इससे परामर्श करते समय मंत्रयुक्ति पर विशेष ध्यान देना आवश्यक बताया गया है। मंत्रियों की सभा को परिषद कहा जाता था। मंत्रीपरिषद के अध्यक्ष को मंत्रीपरिषदध्यक्ष कहा जाता था। जिस भवन में परिषद की सभा होती थी उसे मन्त्रभूमि कहते थे।[१२८]

मंत्रीपरिषद् में सभी मंत्रियों की उपस्थिति अपेक्षित थी। परिस्थितिवश कोई मंत्री उपस्थित नहीं हो पाता था तो वह अपना मत लेख द्वारा भेज देता था। एकमत न होने पर बहुमत को स्वीकार करना अभीष्ट था। इसके अतिरिक्त अल्पमत की नीति राज्य के लिये उपयोगी हो तो राजा का अधिकार था कि उसे स्वीकार करे। कौटिल्य मंत्रणा को महत्व प्रदान करते हुये तीन या चार मंत्रियों से मंत्रणा को उचित मानते हैं।[१२९] कौटिल्य के अनुसार आवश्यकता के अनुसार मंत्रियों की संख्या निर्धारित की जानी चाहिये। वे मंत्री को राजा के चक्षु के समान मानते हैं। इसके लिये अर्थशास्त्र में इन्द्र का उदाहरण मिलता है। इन्द्र की मंत्रीपरिषद् में एक हजार ऋषि थे। इस कारण दो नेत्रों वाले होने पर भी इन्द्र को सहस्राक्ष कहा जाता था।[१३०]

शुक्रनीतिसार में राजा के कर्तव्यों का विवरण प्राप्त होता है। शुक्र के अनुसार मंत्रीपद के लिये योग्यता एवं विश्वासपात्रता प्रमुख है, चाहे वह चारों वर्णों में से किसी से भी संबंधित क्यों न हो। यद्यपि अधिकांश स्मृतियों में मंत्रियों के चयन में ब्राह्मण वर्ण को प्रधानता दी गई है। इनकी नियुक्ति राजा स्वयं करते थे। मंत्रीपरिषद् के लिये शुक्र ने १० मंत्रियों की संख्या निर्धारित की है। ये निम्न है - पुरोहित, प्रतिनिधि प्रधानमंत्री, सचिव, मंत्री, प्राड्विवाक, पण्डित, सुमन्त्र आमात्य दूत इत्यादि।[१३१]

कामन्दक[१३२] का कथन है कि राजा को सम्पूर्ण राज काज के लिये विभिन्न कार्यों के अभ्यासी तथा उनकी विशेष जानकारी रखने वाले शुचि, ऋणरहित, अच्छे ज्ञान में सम्मत तथा उद्योग से सम्पन्न अध्यक्षों को नियुक्त करना चाहिये। जो जिस कार्य को जानता हो उसे उसी कार्य

---

१२७. कौटिल्यं का अर्थशास्त्र, १.९
१२८. कौटिल्य का अर्थशास्त्र, ३.५
१२९. कौटिल्य का अर्थशास्त्र, १.१४
१३०. कौटिल्य का अर्थशास्त्र, १.१४
१३१. शुक्रनीतिसार, २.९९
१३२. कामन्दक नीतिसार, ५.१२-१५, ४७-५०, ७४-७५

में नियुक्त किया जाना चाहिये । जैसे विभिन्न इंद्रियां अपने अपने विषय को प्राप्त होती है । अनुजीवी (सेवक) वर्ग अपने राजा के आराधन (पूजा) भी भलीप्रकार से इच्छा करता हुआ विद्या, विनय, और शिल्पादि से अपने को भूषित करे । कुल, विद्या, शास्त्र, उदारता, शील, धैर्य आरोग्य आदि से संयुक्त होकर चुगली, द्रोह, भेद करना, चंचलता, असत्यता, आदि से रहित होकर ही राजा की सेना हो सकती है । चतुराई, सभ्यता, दृढ़ता, क्षमाशीलता, क्लेश में सहनशीलता संतोष, शील, और उत्साह ये अनुजीवियों को शोभित करते हैं । राज कर्मचारी को चाहिये कि वह निर्गुण स्वामी को आपत्ति के समय न त्यागे । अकार्य में प्रवृत होने पर निषेध करना और सुकार्य में प्रवृत्ति करना, बन्धु, मित्र, और अनुजीवियों की यह सद्वृत्ति है । राजा को भी अनुजीवियों को संतुष्ट रखना चाहिये ।

ब्राह्मण काल में भी राजकर्मचारियों की नियुक्ति संबंधी अधिकार राजा को प्राप्त था । क्योंकि राज्य संस्था का विकास होने पर राज्य व्यवस्था के सुचारू संचालन के लिये राजा को विशेष सहायकों की और कर्मचारियों की आवश्यकता होती है । ऐतरेय ब्राह्मण में इनको राजकर्ता कहा गया है ।[१३३] कुछ ब्राह्मण ग्रंथों में इन्हें रत्नि कहा गया है तथा विभिन्न ग्रंथों में इनकी संख्या प्रथक प्रथक है। इन रत्नियों की संख्या तैत्तिरीय संहिता में ग्यारह, मैत्रीमर्णी संहिता में चौदह, तथा शतपथ ब्राह्मण में बारह रत्नियों का उल्लेख प्राप्त होता है । इस काल में राजकार्य संचालन में पुरोहित मुख्य सूत्रधार तो नहीं था परंतु मुख्य सूत्रधार कार्यों का नियंत्रक अवश्य हो गया था। कहा जाने लगा था कि देवता उस राजा के अन्न को नहीं खाते, जिसके घर पर पुरोहित न हो। अत: राजा पुरोहित को अवश्य नियुक्त करते थे ।[१३४]

मनु के अनुसार [१३५] राजा को राज्य कार्य में मंत्रियों की सलाह अवश्य लेना चाहिये । मंत्री दण्ड प्रयोग के आगे आते हैं। अत: उनकी नियुक्ति में विशेष ध्यान दिया जाना चाहिये । केवल गुणगान व्यक्ति ही इस पद पर बिठाये जाने चाहिये । मंत्रियों के गुणों के विषय में मनु ने कहा है ।

यौलञ्छास्त्रविद: शुरातलब्धक्षान् कुलोददात् ।
सचिवान्सप्तचाष्टौबा प्रकुर्वति वरीक्षितान ।।

अर्थात श्रेष्ठ गुणों से युक्त व्यक्ति जो परीक्षा में उत्तीर्ण हो केवल वही मंत्री के पद पर नियुक्त किये जाने चाहिये । मनु ने कहा है कि राजा को इन भिन्न भिन्न विभाग के मंत्रियों से एकत्रित तथा पृथक-पृथक रूप से सलाह लेना चाहिये । मंत्रीपरिषद की नियुक्ति के विषय में अनेकानेक

---

१३३. ऐतरेय ब्राह्मण,३९.३
१३४. ऐतरेय ब्राह्मण,४०.१
१३५. त्यागी एण्ड भाटिया, हिन्दू राजशास्त्र, पृष्ठ १९२-१९३

सिद्धांत प्रचलित थे। जैसे कि परंपरागत सिद्धांत, योग्यता सिद्धांत, परीक्षा सिद्धांत और उद्देश्य आदि का सिद्धांत। उक्त सिद्धांतों के आधार पर ही मंत्रियों का निर्वाचन किया जाता था। मंत्रियों की योग्यता का परीक्षण करके उनके विशेष योग्यता वाले कार्य को जाना जाता था मंत्रियों को वही कार्य सौंपा जाता था। जिसको कि वे सुगमतापूर्वक कर सकते हों।

अथर्ववेद में राजा की कार्यपालिका संबंधी शक्तियों और कर्तव्यों का विवरण प्राप्त होता है राजा सभा नामक अन्य संस्थाओं से सहयोग प्राप्त करता था तथा राज्य का सुचारू संचालन करता था। सभा और समिति को प्रजापति अर्थात राजा की दो पुत्रियाँ कहा गया है।[१३६] इसका अभिप्राय यह है कि राष्ट्र में सभा की सत्ता को जन्म देने वाला राजा है। राजा इन सभाओं को जनहितकारी मानकर इनकी प्रतिष्ठा स्थापित करे।

अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि सभा एक स्थानीय संस्था न होकर व्यापक सत्ता थी।[१३७] इसका संगठन छोटे से छोटे ग्राम में था। यह राष्ट्र के केन्द्र में थी। समिति के बाद यह दूसरी शक्ति संपन्न संस्था थी। सभा को राजा की पुत्री कहा गया है और राजा को प्रजापति। यहां पर राजा के लिये इंद्र शब्द न देकर प्रजापति कहा गया है। इसका अभिप्राय है कि राजा प्रजा का पालक और रक्षक है। राजा का कर्तव्य है कि वह उसका पालन करे। राजा सभा का जन्मदाता है अत: दोंनो का जन्म - जनक संबंध है। राजा की इच्छा और अनुमति से सभा के सदस्य चुने जाते हैं। राजा की उपस्थिति सभा मेंआवश्यक थी। प्रजापति भी सभा के द्वारा अपना कार्य करते थे। छान्दोग्य उपनिषद तथा शतपथ ब्राह्मण में राजा के द्वारा सभा करने का उल्लेख है।[१३८] सभा के सदस्यों को अथर्ववेद में पितर: कहा गया है।[१३९] इससे ज्ञात होता है कि राजा सदस्यों को पिता के तुल्य आदरणीय समझता था। सभा के सदस्यों के कई नाम थे - सभासद [१४०] सभ्य[१४१] सभेय[१४२] सभा के अध्यक्ष को सभापति कहते थे। सभासदों और सभापति का समाज में आदर युक्त स्थान होता था। सभा के रक्षक पुरूष को सभापाल कहा जाता था। सभासदों का कर्तव्य होता था कि वे सभा के नियमों का पालन करें, और सभा में मर्यादा की रक्षा करें।[१४३] उनका यह भी कर्तव्य था कि वे सत्य बोलें, जैसा देखा सुना हो वैसा ही बोलें। साथ ही यह भी आवश्यक था कि उनमें एकमत हो, उनकी एक राय हो।[१४४]

---

१३६. अथर्ववेद, ७.१२.१
१३७. अथर्ववेद, ७.१२.१ से ४
१३८. छान्दोग्य उपनिषद ८.१४.१, शतपथ ब्राह्मण ३.३.५.१४
१३९. अथर्ववेद, ७.१२.१
१४०. अथर्ववेद, १.२९.१, ७.१२.२, १९.५५.५
१४१. अथर्ववेद, ८.१०.१ से ९, १९.५५.५
१४२. अथर्ववेद, २०.१२८.१, ऋग्वेद, १.९१.२०, यजुर्वेद, २२.२२
१४३. अथर्ववेद, १९.५५.५
१४४. अथर्ववेद, ७.१२.२

अथर्ववेद में सभा को 'नरिष्टा' कहा गया है। साम्रण ने नरिष्टा की व्याख्या की है कि इसमें बहुसम्मति से निर्णय किये जाते है, अत: इनके निर्णयों का उल्लंघन नहीं किया जा सकता। सभा का निर्णय अकाट्य होता है। एक व्यक्ति के कहने को टाला जा सकता है परंतु बहुसम्मति को नहीं टाला जा सकता। अथर्ववेद में वर्णन किया गया है कि जहां सभासद् सभा के नियमों का पालन नहीं करते हैं वह सभा शीघ्र नष्ट हो जाती है।[१४५] पंचजनों (पंचायत) में इंद्र (राजा) की शक्ति है। इसका अभिप्राय है कि पंचायत शासन भी राजा का अंग है। उसका निर्णय उतना ही मान्य है जितना राजा का।[१४६] सभा का मुख्य कार्य था न्याय की ठीक व्यवस्था करना। अत: यजुर्वेद में धर्म अर्थात न्याय के लिये सभाचर के पास जाने का उल्लेख है।[१४७]

समिति राष्ट्र की सबसे बड़ी सभा थी। इसको समिति इसलिये कहा जाता था कि इसमें सभी वर्गों के लोग एकत्र होते थे। यह एक जनसाधारण राष्ट्र सभा थी इसका निर्माण भी राजा के द्वारा होता था। अत: यह भी राजा की पुत्री कही गई है।[१४८] अथर्ववेद में तथा ऋग्वेद में प्रर्थना की गई है कि समिति में एकता हो।[१४९]

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।

देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥

सबके मन और विचार समान हों, सबका उद्देश्य एकता हो।[१५०] राजा का समिति में उपस्थित होना अनिवार्य समझा जाता था। जो राजा समिति में उपस्थित नहीं होता था वह अच्छा नहीं माना जाता था। सभा और समिति में मुख्य अंतर यह था, कि सभा मुख्यतया न्याय और दण्ड की व्यवस्था करती थी। इसमें अनुभवी वृद्ध व्यक्ति होते थे, वह ग्राम से लेकर राष्ट्रीय सभा तक होती थी। समिति केन्द्रीय विधान सभा के तुल्य थी। इसमें सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व होता था। इसमें राष्ट्रीय, धार्मिक,सामाजिक, अध्यात्मिक आदि विषयों पर विचार होता था।

राजा की स्थाई नियुक्ति का अधिकार समिति को था।[१५१] समिति आय-व्यय के वितरण का भी काम करती थी। समिति में आय-व्यय का विवरण प्रस्तुत किया जाता था।[१५२] यह वर्णन किया

---

१४५. अथर्ववेद, २०.२९.५
१४६. अथर्ववेद, २०.२०.२
१४७. यजुर्वेद, ३०.६
१४८. अथर्ववेद, ७.१२.१
१४९. अथर्ववेद,१.६४.१ से ३ ऋग्वेद, १०.१९१.२ से ४
१५०. ऋग्वेद, ९.९२.६, १०.९७.६
१५१. अथर्ववेद, ६.८८.३
१५२. अथर्ववेद,१८.१.२६

गया है जिस में राष्ट्र में ब्राह्मण को सताया जाता था, उसमें समिति का अभ्युदय नहीं होता और वहां समिति विफल हो जाती है। अर्थात राजा समिति के अधिकार छीनना चाहता था और विद्वानों ब्राह्मणों को कष्ट देता था तब समिति अपना कार्य स्वतंत्र रूप से नहीं चला पाता थी।[१५३]

अथर्ववेद में सभा और समिति के साथ एक और संस्था का उल्लेख है, वह है आमंत्रण।[१५४] इस प्रकार ज्ञात होता है कि राष्ट्रीय संगठन के तीन रूप थे। सभा, समिति, आमंत्रण। इसके सदस्य को आमंत्रणीय कहा गया है। आमंत्रण को सभा और समिति से ऊँची संस्था माना गया है आमंत्रण से ज्ञात होता है कि इसके सदस्य मंत्री ही होते थे। अत: आमंत्रण शब्द को मंत्रीपरिषद् का समकक्ष माना जा सकता है। समिति में सार्वजनिक विचार-विनिमय होता था, परंतु आमंत्रण मे मत्रीपरिषद् के ही व्यक्ति भाग लेते थे।[१५५] अथर्ववेद में ये सभा समिति दोंनो के लिये संसद शब्द आया है।[१५६] एक से मंत्र से यह भी प्रगट होता है कि सभा और समिति का अधिवेशन साथ -साथ होता था। संसद में गंभीर विचार-विमर्श होता था। केन्द्रीय शासन के सात विभाग बनाये गये हैं। जिसके प्रथक-प्रथक मंत्री होते थे। राजा द्वारा इन मंत्रियों को विभिन्न विभाग प्रदान किये जाते थे। संसद को राष्ट्र का स्वामी कहा गया है। इसका अभिप्राय यह है कि संसद को राज्य का पूर्ण अधिकार प्राप्त था।

ऋग्वेद में भी अनेक स्थानों पर सभा तथा समिति का वर्णन प्राप्त होता है जिसके माध्यम से राजा अपने कार्यों का संचालन करता था। ऋग्वेद के एक स्थान पर सभा के मुखिया द्वारा संपूर्ण समाज के कल्याणकारी कार्यों को करने का वर्णन है।[१५७] सभापति को उत्तम तथा कल्याणकारी वचनों द्वारा सभा में उपदेश देना चाहिये। इस प्रकार उपदेश देने के कारण वह सुशोभित होता है।[१५८] ऋग्वेद में ही अन्यत्र कहा गया है कि राजा वेदज्ञ पुरोहित का सत्कार करता है। और उसकी स्तुति करता है। कार्यपालिका में पुरोहित का पद बहुत सम्मानीय समझा जाता था। राजा द्वारा प्रत्येक कार्य पुरोहित की आज्ञा द्वारा ही किया जाता था।[१५९] जिस राष्ट्र का पुरोहित उत्तम होता है, उस राष्ट्र की प्रजाऐं समृद्ध होती हैं।[१६०] देवराज ने भरत की प्रजाओं से कहा कि वशिष्ठ को वे अपना पुरोहित

---

१५३. अथर्ववेद,५.१९.१५
१५४. अथर्ववेद,८.१०.१ ८ से १३
१५५. अथर्ववेद,८.१०.१ १२ और १३
१५६. अथर्ववेद,७.१२.३
१५७. ऋग्वेद, १.१८. ७-९
१५८. ऋग्वेद, २.४२.२
१५९. ऋग्वेद, ४.५०.७, ४.५०.८
१६०. ऋग्वेद, ७.३३.६

बनायें।[161] एक स्थान पर ऋग्वेद में कहा गया है कि प्रजा का कल्याण करने के लिये राजा गण सभा में आकर बैठें और उन सभाओं में प्रजा के कल्याण का विचार करें। राजा और राजपुरूष प्रजा के कल्याण की तरफ हमेशा ध्यान रखें और अपना कर्तव्य करें।[162] अन्यत्र कहा गया है कि वैदिक काल में ग्राम सभा (सभा), समिति, आमंत्रण, मंत्रीमण्डल इन तीन सभाओं द्वारा राज्य शासन चलाया जाता था।[163]

धर्म संबंधी -

भीष्म ने धर्म की व्याख्या करते हुये कहा है कि धर्म शब्द 'धृ' धातु से बना है जिसका अर्थ है धारण करना। अभ्युदय, उत्पीड़न और धारण अर्थात संरक्षण जिस उपाय से हो वही धर्म है।

प्राचीन काल में राजा केवल राज्य का अध्यक्ष नहीं था, अच्छा राजा वही होता था जो धर्म की रक्षा करता था अथवा राजधर्म का पालन करता था। राजा का धर्म प्रजा का धर्म था धार्मिक राजा का अर्थ था समृद्धशाली प्रजा और अधार्मिक राजा का अर्थ था दुःखी प्रजा या बुरी प्रजा। धार्मिक ग्रंथों की दृष्टि से जिन उपायों (साधनों) द्वारा राजनीतिक ध्येयों को प्राप्त किया जाता था। वे उपाय उतने ही महत्वपूर्ण थे जितने कि ध्येय। इतना ही नहीं राजनीतिक लक्ष्य चाहे कुछ भी रहे हों, जिन उपायों के द्वारा उन्हें प्राप्त किया जाता था वे सम्मानपूर्वक या धर्म के अनुरूप आवश्यक थे। सभी प्राचीन विचारक यह मानते हे कि राज्य का प्रमुख कर्तव्य धर्म का पालन करना है, धर्म में व्यक्ति का अपना वर्ण, धर्म और आश्रम धर्म सभी आ जाते हैं। कौटिल्य के अनुसार राजा के लिये यह आदेश था कि वह व्यक्तियों को अपने अपने धर्म से विचलित न होने दे। जो राजा जानते हुये भी अपने प्रजाजनों का ध्यान नहीं रखता, उसका राज्य नष्ट हो जाता है, राज्य का कर्तव्य न्याय का प्रशासन करना है और राज्य को अपनी प्रजा की रक्षा करनी चाहिये। राजा के लिये बहुधा यह उपदेश है कि वह अपनी प्रजा के प्रति पिता तुल्य व्यवहार करे। महाभारत में कहा गया है कि जो राजा प्रजा से प्रेम के अभेद दुर्ग से रक्षित होता है उसकी सत्ता को कोई खतरा नहीं। कौटिल्य[164] ने भी इस उच्च आदर्श का समर्थन किया है कि राजा को अपना सुख प्रजा के सुख में मानना चाहिये।

राजधर्म[165] का वर्णन करने वाले सभी ग्रंथों में दुष्टों के दमन तथा सज्जनों के संरक्षण का बार-बार आग्रह किया है, क्योंकि यही समाज और सामाजिक व्यवस्था की सुस्थिति के लिये

---

१६१. ऋग्वेद, ७.३३.१४
१६२. ऋग्वेद, ७.३९.१
१६३. ऋग्वेद, ९.९२.६
१६४. कौटिल्य का अर्थशास्त्र, श्लोक ३९, अध्याय १९, अधिकरण १
१६५. सेलीटोर बी. ए., एन्शियेन्ट इण्डियन पॉलिटिकल थाट एण्ड इन्सटीट्यूशन्स, पृष्ठ ३

आवश्यक है। कालिदास के ग्रंथ रघुवंश[१६६] में रघुवंश के १७ राजाओं के चरित्र और राजधर्म का बड़ा ही सुन्दर चित्रण मिलता है। कालिदास का मानव धर्म (मनु के धार्मिक नियमों) में ही विश्वास था; अत: उसने इस बात पर बल दिया है कि राजा को उन्हें अवश्य लागू करना चाहिये। राजा दिलीप की तुलना ऐसे कुशल रथ चालक से की गई है जो उसके पहियों को मनु द्वारा विहित मार्ग से तनिक इधर-उधर जाने नहीं देता। धर्म ही उसकी राजनीति (अर्थ) और काम को निर्धारित करता है। कालीदास के अनुसार राज्य धर्म में निहित सामाजिक व्यवस्था की देखरेख का साधन है। राजा का कर्तव्य मनु द्वारा विहित वर्णों और आश्रमों को बनाये रखना दिलीप के रूप में धर्म ने अपने कार्य कराने का उपयुक्त माध्यम पाया।

अप्यर्थकामौ तस्यास्तां धर्म एव मनीषिण:।
आत्मकर्मक्षमं देहं क्षात्रो धर्म इस स्थित:॥

बान्धोपाध्याय के अनुसार[१६७] प्रारंभिक काल में राजा का सबसे मुख्य कार्य शत्रुओं से प्रजा की रक्षा करना युद्ध में नेतृत्व करना था। राजा स्वयं धर्म का पालन करता था और प्रजा से भी धर्म का पालन कराता था। कानून धार्मिक ग्रंथों व प्रथाओं पर आधारित थे। वैदिक काल में सभा व समिति जैसी लोकप्रिय संस्थाऐं थी, इन सबसे बढ़कर धर्म का स्थान था। राजा और प्रजा सभी राजा की प्रभुता के अधीन थे।

वाल्मीकि रामायण[१६८] में स्वयं राम सुग्रीव से कहते है - जो मनुष्य समय पर धर्म, अर्थ, काम का विभाग करके निरंतर उसका उपार्जन करता रहता है वह राजा है, परंतु जो मनुष्य धर्म अर्थ का परित्याग करके केवल काम का उपभोग करता है वह वृक्ष की शाखा में सोये हुये के समान गिर जाने वाला समझा जाता है। जो राजा शत्रुओं के वध में तथा मित्रों के संग्रह में रत रहता है वह धर्म अर्थ और काम का भोग करने वाला बनकर धर्म संयुक्त करता है। युद्धकाण्ड[१६९] में कर्मकाण्ड रावण को परामर्श देते हुये कहता है - कि राजा काल के अनुसार धर्म अर्थ काम का पालन करता है, वह संसार में आत्मवान कहलाता है और कभी कपट नहीं पाता। इस प्रकार चतुर्वर्ग की प्राप्ति हेतु एवं धर्म संचालन हेतु राजा का कर्तव्य है कि वह प्रजा को धर्माचरण में लगाये एवं सम्पूर्ण राज्य में धर्म की रक्षा करे। इसी प्रकार रामस्वामी शास्त्री[१७०] का कथन है कि वाल्मीकि के काल में राजतंत्र सीमित

---

१६६. कालिदास का रघुवंश, १.१३
१६७. बान्धोपाध्याय, एन. सी. - डवलपमेंट आफ हिन्दू पॉलिटीकल थियोरीज़ पृष्ठ ९६-१०२
१६८. वाल्मीकि रामायण, किष्किंधा काण्ड, सर्ग २३
१६९. वाल्मीमि रामायण, युद्धकाण्ड, सर्ग ३४
१७०. शास्त्री रामस्वामी, के. एस. स्टेडीज इन रामायण, पृष्ठ ८ -१०

और संविधानिक था, एक ओर वह धर्म शास्त्रों से सीमित तथा दूसरी ओर मंत्रीमण्डल व सभा की शक्तियों से। यदि राजा धर्मशास्त्रों के विरूद्ध कार्य करता था और अपनी प्रजा को सताता था तो उसे निष्कासित किया जा सकता था या मारा भी जा सकता था राजा वेन को मारा गया था; सगर ने अपने ज्येष्ठ पुत्र असमंजस को राज्य से निकाल दिया था। रावण ने भी हनुमान को नहीं मारा क्योंकि विभीषण ने उससे कहा कि दूत को मारना राजधर्म के विरूद्ध है। ऋग्वेद के एक मंत्र में राजा को धर्म नीति नियमों का पालन करने के विषय में कहा गया है -

त्वामग्ने प्रथममायुमायवे देवा अकृण्वन् नहुषस्य विश्पतिम्।

इलामकृण्वन् मनुष्स्य शासनीं पिसुर्यत् पुत्रो ममकस्य जायते ॥[१७१]

अर्थात प्रथम सब मनुष्य उत्पन्न हुये, फि र उनका पालन करने के लिये राजा का चुनाव किया गया। उसने तथा अन्य प्रतिनिधियों ने मिलकर व्यवस्था के लिये धर्म और नीति का निर्माण किया ताकि उन नियमों के अनुसार चलता हुआ राजा प्रजा का पुत्रवत पालन करे। वैदिक काल में राजा का आदर्श ऋत और धर्म की रक्षा करने वाले धृतव्रत वरूण देव थे। धर्म से बढ़कर कोई वस्तु नहीं थी, अत: धर्म का पालन राजा का नित्य और आवश्यक कर्तव्य समझा जाता था।

महाभारत में भीष्म[१७२] कहते है कि अव्यवस्था से त्रस्त होकर देवता प्रजापति से प्रार्थना करने लगे कि हे प्रभु! आप ऐसे पुरूष को आज्ञा दीजिये जो सम्पूर्ण मृत्युलोकवासी प्राणियों पर प्रभुता कर सके। पुन: महात्मा पृथु को भूलोक में धर्म स्थापित कर प्रजा के मन का रंजन किया उसी समय से पृथ्वी पर राजा शब्द प्रचलित हुआ। प्रजारक्षण राजा का सबसे महत्वपूर्ण धर्म था और उस धर्म का पालन राजा सदैव करता था। अथर्ववेद के अनुसार[१७३] तेजस्वी राजा के सभी शत्रु परास्त हो गये, और प्रजा आनंद से रहने लगी। राजा का यह प्रताप देखकर सब उसका सम्मान करने लगे। इससे यह प्रकट होता है कि राजा ही प्रजा संरक्षण करता है और धातक आक्रमण से प्रजा की रक्षा करता है अर्थात अपने प्रजा रक्षण धर्म का पालन करता है।

प्राचीन भारत में राज्य और शासन की अनेक संस्थाओं का विकास हुआ और साथ ही राज्य व शासन के विषय में प्राचीन आचार्यों ने अनेक मूल्यवान विचार दिये उन सभी संस्थाओं ओर विचारों का आधार धर्म था। यह एक अकाट्य सत्य है कि प्राचीन भारतीय राजनीति का आधार धर्म ही था; अत: धर्म और राजनीति किसी भी रूप में एक दूसरे से पृथक न थे। इस दृष्टि से प्राचीन

---

१७१. ऋग्वेद, १.३१.११

१७२. महाभारत, शांतिपर्व, ५९.७७.१२५

१७३. अथर्ववेद, ६.१२८ (१ से ४)

भारतीय राजनीति आधुनिक राजनीति से पूर्णतया भिन्न थी। हमारे पूर्वजों ने धर्म को ही सर्वोपरि सत्ता माना है, और जीवन के प्रत्येक कार्य को धर्म से सुशासित रखा है। प्राचीन भारत में राजा धर्म की संरक्षणता में रहकर ही कार्य करता था, राजा का व्यक्तिगत जीवन और उसकी दैनिक दिनचर्या धर्म से विनियमित थे। परिजन तथा पुरजन यहां तक कि शत्रु के साथ भी उसका संबंध धर्म के आधार पर था। और युद्ध विषयक नीति भी धर्म निर्दिष्ट थी। केवल राजा ही नहीं प्रजा भी अपने व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में सदा धर्म का पालन करती थी। आयंगर के अनुसार [१७४] धर्म का तात्पर्य मर्यादा बनाये रखना,पोषण करना, तथा सम्पालन करना।

महाभारत में भीष्म कहते हैं-[१७५] कि जिसकी राजा भोज, विराट्, सम्राट,क्षत्रिय,भूपति,नृपति आदि शब्दों से स्तुति की जाती है उसकी पूजा कौन नही करेगा। एक स्थान पर कथन है कि सब प्राणी धर्म में स्थित रहते हैं, और धर्म राजा में निवास करता है; अत:जो राजा उस धर्म की उत्तम रीति से रक्षा करते हैं; वे ही पृथ्वी के स्वामी होते हैं। एक स्थान पर भीष्म स्वधर्म की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं- कि चारों वर्णो में धर्म की रक्षा करना राजा का मुख्य कर्तव्य है, क्योंकि धर्म संकर होने से (अन्न धर्म का अनुसरण करने से) प्रजा को बचाना राजा का धर्म है , दूसरे स्थान पर कहा गया है, कि यदि कोई व्यक्ति धर्म के मार्ग से विचलित हो तो उसे दण्ड देना राजा का कर्तव्य है।

कौटिल्य ने भी कहा है-[१७६] स्वधर्म पालन से स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति होती है,स्वधर्म के उल्लंघन से सर्वथा अव्यवस्था उत्पन्न हो जायेगी,अत:राजा को चाहिये कि वह स्वधर्मका अतिक्रमण न करने दे। प्राचीनभारत में राजाको शासन की सर्वोच्चसत्ता प्राप्त थी फि र भी वह स्वयं धर्म के अधीन था। राधा कुमुद मुखर्जी के अनुसार-[१७७] हिन्दू विचारों के अनुसार विधि के शासन के रूपमें धर्म ही सच्चा प्रभु है, राजा कार्यपालिका है, जो दण्ड कहलाता है जो आध्यात्मिक प्रभु (धर्म) के आदेशों को स्थिर रखता है और लागू करता है। इस प्रकार हिन्दू राज्य में विधि (कानून) का स्त्रोत लौकिक प्रभु नहीं है विधि के स्त्रोत उसके ऊपर हैं, परंतु विधि, कानून धर्म है। उनका संरक्षण करना कार्यपालिका शक्ति राजतंत्र (राजा)का कर्त्तव्य है। शुक्र नीति सार के अनुसार -राजदण्ड के भय से समस्त जन अपने अपने धर्म पर तत्पर रहते हैं, अर्थात कोई भी व्यक्ति धर्म के नीति नियमों के विरूद्ध कार्य करता है तो राजा कर्त्तव्य है कि उसे अपराध के अनुरूप दण्ड दे।

---

१७४. अयंगर, ए. एन. के., गौतम धर्मसूत्र, परिशिष्ट, पृष्ठ २१-२२

१७५. महाभारत, शांतिपर्व, ६८.९४; ९०.५

१७६. कौटिल्य का अर्थशास्त्र, अधिकरण २

१७७. मुखर्जी, राधाकुमुद, चन्द्रगुप्त मौर्य, एण्ड हिज टाईम्स, पृष्ठ ४९

मनुस्मृति के अनुसार -[१७८] दण्ड ही धर्म है, और दण्ड ही राजा है। दण्ड (अथवा धर्म) के द्वारा ही राजा सब प्रजा की रक्षा करता है और चारों आश्रमों में व्यक्तियों से अपने अपने कर्तव्यों (धर्म) का पालन कराता है। जब सब सोये रहते हैं तब दण्ड जागता रहता है। ऋग्वेद में एक उद्धरण के अनुसार -

यो व्यंसं जाहृषाणेन मन्युना यः शम्बरं यो अहन् पिप्रुमव्रतम्।

इन्द्रो यः शुष्णमशुषं न्यावृणङ्. मरूत्वन्तं सरव्याय हवामहे ॥[१७९]

राजा इन्द्र ने वृत्त के कंधों को काट डाला, फिर धर्म और नियमों का पालन न करने वाले विप्रु को इन्द्र ने मारा इनके आलावा जनता का शोषण करने वाले शंबर और शुष्ण इन दोनों असुरों का भी नाश किया, इस प्रकार सभी असुरों का नाश इन्द्र ने किया। अतः द्युलोक के राजा इन्द्र भी धर्म और नियमों का पालन न करने वालों को दण्ड देते थे अर्थात धर्म को संरक्षण प्रदान करना राजा का कर्तव्य था। यजुर्वेद [१८०] में कहागया है कि सत्य धर्म का आचरण कभी निष्फल नहीं होता, सच्चे धर्म का पालन कर चुकने पर मानव अवश्यमेव परमात्मा के निकट सहवास से लाभ उठा सकता है। इसी प्रकार अन्यत्र कहा गया है कि धर्म मार्गों को जानने वाले विद्वानों ! तुम लोग धर्म के मार्गों को जानकर योग्य मार्ग को प्राप्त करो, योग्य मार्ग से चलो।

देवा गातुविदो गातुं वित्त्वा गातुमित।

मनसस्पत इमं देव यज्ञँस्वाहा वाते धाः ॥[१८१]

जिस प्रकार अग्नि विस्तृत महान् पुरूषार्थ युक्त धर्म का पालक है, उसी प्रकार सबका अग्रणी तेजस्वी राजा विशाल शक्ति सम्पन्न और राजधर्म का पालक होकर उत्तम सत्य पर आश्रित व्यवस्था से पराक्रम प्राप्त करे।

अग्निः पृथुर्धर्मणृस्पतिर्जुषाणो अग्नि पृथुर्धर्मणस्यपतिज्यस्य वेतु स्वाहा।

स्वाहाकृताः सूर्यस्य रश्मिभिर्यतध्वइंऽ सजातानां मध्यमेष्ठयाम ॥[१८२]

ऋग्वेद[१८३] में एक स्थान पर कहा गया है कि हम सभी अग्नि की स्तुति करते हुये प्रतिदिन इस अग्नि के संरक्षण में रहें और धर्म युक्त धन को प्राप्त करके हम सभी संगठित होकर आनंद का उपभोग करें।

१७८. मनुस्मृति, ७.१४५-५१ और २.६-२६
१७९. ऋग्वेद, १.१०१.२
१८०. यजुर्वेद, १.१८
१८१. यजुर्वेद, ८.२१
१८२. यजुर्वेद, १०.२९
१८३. ऋग्वेद, ४.२०.४

इस प्रकार वैदिक काल से ही राजा को धर्म का पोषक, समर्थक और रक्षक माना गया है, प्राचीन भारत में यह मान्यता थी कि धर्म और सदाचार से ही सुख की प्राप्ति होती है। तथा उनकी उन्नति तभी संभव है जब राजा स्वयं उसका आदर्श रूप हो। राज्य में धर्म का स्थान राजा से अधिक महत्वपूर्ण था राजा केवल उसी समय तक राजपद का अधिकारी था जब तक वह धर्माधीन रहकर धर्म सम्मत विधि से राज्य का संचालन करे।

प्राचीन समय में राजा अभिषेक के समय जो प्रतिज्ञा करता था उसमें धर्म संरक्षण और प्रजा पालन सबसे प्रमुख थी। राजा रत्नियों की निष्ठा प्राप्त करने के लिये लौकिक भाव के साथ साथ परलौकिक दृष्टि से देवताओं की आराधना में आहूतियां अर्पित करता था। उदाहरण धर्म मय शक्ति के लिये सविता को गार्हपत्य के लिये अग्नि को,वनस्पति और कृषि की रक्षा के लिये सोम को, वाक्शक्ति केलिये वृहस्पति को, उत्तम शासन हेतु इन्द्र को, पशु रक्षा के लिये पशुपति रूद्र को, सत्य के लिये मित्र को और सबसे अन्त में धर्म पति वरूण को आहूति दी जाती थी।[१८४] इसी प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण[१८५] में वर्णन है कि राजा अभिशषेकोपरान्त प्रजा के रक्षण की धर्म पूर्वक पालन करने की शपथ लेता है। हिन्दू राजतंत्र के अनुसार धर्म ही सच्चा अधिपति है और राजा दण्ड या शासन का वह रूप है जो धर्म की रक्षा और स्थापना करता है। उपरि अंकित आहूतियां राजा के कर्तव्यों का प्रतीक है। वैदिक मंत्रों द्वारा राजा में दैवीय गुण आरोपित किये जाते थे।

परवर्ती कालों में भी राजा धर्म को संरक्षण प्रदान करते थे तथा धर्म के अनुरूप ही अपने कर्त्तव्यों का निर्वहन करते थे। गुप्तकाल[१८६] चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के कार्यों का वर्णन करते हुये फाह्यान कहता है, कि उस समय राजा मंदिर बनवाते थे, जमीन और मकान दान देते थे, और वे धार्मिक भिक्षु थे उनके भोजन आवास की व्यवस्था करवाते थे। हर्षवर्धन[१८७] के धार्मिक कार्यों की व्याख्या करते हुये ह्वेन्सांग कहते है कि हर्ष प्रति पांचवे वर्ष एक समारोह प्रयाग गंगा यमुना के संगम पर 'महादानभूमि' में करता था वह वहां बौद्धों, ब्राह्मणों, जैन,साधुओं,तथा अन्य सम्प्रदाय वालों को, अनाथ, पीड़ित अपंगों को इतना धन और सम्मति दान करता था कि राजा कोष रिक्त हो जाते थे। इसी प्रकार मौर्य काल में अशोक ऐसा धर्म चाहता था जिसको जन साधारण अपना सके। इसीलिये अपनी प्रजा के नैतिक उत्थान के लिये उसने धर्म के मूल सिद्धांतों का उपदेश दिया। धर्म के बाह्य रूप में कुछ मतभेद हो सकता है। किन्तु धर्म नैतिक रूप स्वरूप में कोई मतभेद नहीं है।

---

१८४. मुखर्जी राधाकुमुद, हिन्दू सभ्यता, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ १००-१०१

१८५. ऐतरेय ब्राह्मण, ८.१५

१८६. ओमप्रकाश, प्राचीन भारत का इतिहास, छठा संस्करण १९७३, पृष्ठ २६१

१८७. लुणियां वी. एन., भारतीय संस्मृति, १९९५-९६ पृष्ठ १६१

तेरहवें शिलालेख में वह स्वयं लिखता है कि सब धर्मों में चाहे वे ब्राह्मण हों, चाहे श्रवण धर्म के मूल आचार एक से हैं। इस प्रकार परवर्ती काल में भी राजा धर्म के अनुरूप ही अपने अधिकारों का प्रयोग करते थे तथा धर्म के अनुरूप ही कर्त्तव्यों का निर्वहन करते थे।

न्याय संबंधी -

निष्पक्ष न्याय व्यवस्था श्रेष्ठ शासन की आधार शिला है किसी भी शासन व्यवस्था का उत्तम संचालन तभी संभव है जब राजा द्वारा निष्पक्ष न्याय प्रदान किया जाये।

बाल्मीकि और तुलसी दोनों ही यह मानते हैं कि राजा को न्यायी होना चाहिये। बाल्मीकि के अनुसार राजा स्वयं धर्मासन पर बैठकर पुरोहित,मंत्रियों व नैगमों के साथ न्याय करता था। राजा को सभी शिकायतों को शीघ्र ही सुनना चाहिये और निष्पक्षता पूर्वक न्याय करना चाहिये। जिन व्यक्तियों को राजा न्याय पूर्वक दण्डित करता था वे पाप से मुक्त हो जाते थे। यदि राजा न्याय नही करता तो व स्वयं पाप का भागी होता है। तुलसीदास के अनुसारश्रीराम का जन्म सज्जनों की रक्षा एवं दुष्टों के संहार हेतु हुआ। राम ने सदा धर्म की रक्षा की और आताताथियों का संहार किया। रामायण [१८८] में उल्लेख है कि साधारणत: स्त्री और पुरूष दोनों ही समान रूप से कामार्थी बनकर राजकीय न्यायालय में आ सकते थे। रामायण में ही एक स्थान पर राजा नृग का उद्धरण मिलताहै जिसनें आनंद भोग में लिप्त रहने के कारण दो ब्राह्मणों के गाय से संबंधित झगड़े पर ध्यान नही दिया था। न्याय के लिये आये ब्राह्मणों ने आलसी राजा को गिरगिट हो जाने का श्राप दिया। इससे स्पष्ट होता है कि न्यायिक क्षेत्र में राजा का कर्तव्य मुख्य रूप से दक्ष और अनुभवी सहायकों के नियुक्ति तथा निष्पक्ष न्याय से संबंधित है।

महाभारत के शांति पर्व में राजा के न्यायिक कर्त्तव्यों के बारे में कहा गया है कि प्रजा को अभियोगों को सुनने तथा उन पर निर्णय देने के लिये महान अनुभवी और विविध विषयों के ज्ञाता विद्वान पुरूषों की नियुक्ति करना चाहिये और इस प्रकार व्यवहार स्थापना करना चाहिये।[१८९] न्याय के क्षेत्र में राजा द्वारा पक्षपात किया जाना सर्वथा अनुचित माना गया है राजा का परम कर्तव्य है कि किसी भी व्यक्ति की महत्वपूर्ण स्थिति होने पर भी वह उसके साथ न्याय देने में पक्षपात न करे यहां तक कि प्रजा के पुत्र पौत्रों का भी दोष पाया जाये तो अपराधानुसार उन्हें समुचित दण्ड देना चाहिये।[१९०] भीष्म ने तो स्पष्ट रूप से कहा है कि राजा के व्यवहार का लोप हो जाने पर राजा को न

---

१८८. रामायण, उत्तरकाण्ड, सर्ग ५३,

१८९. महाभारत, शांतिपर्व, ६९.२७

१९०. महाभारत, शांतिपर्व, ६९.२६

तो स्वर्ग की प्राप्ति होतीहै और न ही यश की ही। जो राजा राज्य में धर्म के अनुसार दण्ड का प्रयोग करता है वह धर्म की प्राप्ति करता है। उचित दण्ड की व्यवस्था करना राजा का सनातन धर्म है।[१९१]

न्यायिक प्रकिया द्वारा राजा अपराधियों का पता लगाता है और उसके अपराधानुसार समुचित दण्ड की व्यवस्था करना भी राजा के प्रमुख कर्तव्यों में से एक था दण्ड देने से पूर्व राजा को चाहिये कि उलझी हुई प्रवृत्तियों ,उद्देश्य, समय,धन आर्थिक दशायें आदि को ध्यान में रखकर न्याय करे। न्याय के प्रशासक या दण्ड के व्यवस्थापक के रूप में राजा को निरंकुशता को नहीं अपनाना चाहिये क्योंकि यह स्पष्ट ही विदित होता है कि प्रजा को पालन करने के निमित्त राजदण्ड धारण करना भी राजा का क्षत्रिय धर्म है सिर झुकाना धर्म नहीं है। [१९२]

न्याय के अन्तर्गत विधि, दण्ड, व्यवहार आदि शब्दों का उल्लेख प्राचीन भारतीय चिन्तकों ने किया था। विधि वे नियम माने जा सकते हैं जिनका पालन अनिवार्य हो तथा जिनका उल्लंघन किसी न किसी रूप में दण्डनीय हो। मनु के अनुसार वास्तविक शासक दण्ड होता है। कात्यायन स्मृति में व्यवहार शब्द के दो अर्थ बताये गये है। एक में व्यवहार का अर्थ विधि अथवा नियम से है तथा दूसरे अर्थ में व्यवहार शब्द को तीन भागों में बांटा गया है वि+अव+हार। इसमें 'वि' का अर्थ बहुत , 'अब' का अर्थ संदेह तथा 'हार' का अर्थ हटाना है। अर्थात जिसके द्वारा विविध संदेहों को दूर किया जाये वह व्यवहार है।

प्राचीन काल में न्यायालयों के लिये धर्मासन, धर्मस्थान तथा धर्माधिकरण आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। स्थूल रूप से न्यायालय दो प्रकार के थे : (१) राज्य न्यायालय(२)विभिन्न प्रकार के अन्य न्यायालय। राज न्यायालय वह सभा थी जहां राजा सर्वोच्च न्यायाधीश होता था। अन्य प्रकार के न्यायालयों को क्षेत्रीय न्यायालय कहा जा सकता है जो क्रमानुसार छोटे बड़े स्तर के होते थे।[१९३] स्मृतियों में राज-न्यायालय का विस्तृत विवरण मिलता है। बृहस्पति ने चार प्रकार के न्यायालयों का उल्लेख किया है:

(१) प्रतिष्ठित (२) अप्रतिष्ठित (३) मुद्रित (४)शासित।

किसी ग्राम या नगर में स्थायी रूप से प्रतिष्ठित न्यायालय होते थे। अप्रतिष्ठित न्यायालय अनेक ग्रामों में समय समय पर प्रतिष्ठित होते थे। वे राज मुद्रा का प्रयोग कर सकते थे शासित न्यायालय में राजा स्वयं उपस्थित रहता था। विभिन्न प्रकार के न्यायालयों में राज सम्मानित कुल, श्रेणी पूग एवं गण आदि के अपने न्यायालय थे जिन्हें सीमित क्षेत्र में न्याय करने का अधिकार था।

१९१. महाभारत, शांतिपर्व, ६९.३१.६९.२९

१९२. महाभारत, शांतिपर्व,२४.३०

१९३. अरोड़ा नताशा, प्राचीन भारत में न्याय व्यवस्था, पृष्ठ ६६

कुल न्यायालय में परिवारों के पारस्परिक झगड़ों का निपटारा किया जाता था। राज्य सम्मत व्यापारिक संगठन जो एक ही प्रकार की वृत्ति करते थे, श्रेणी कहलाते थे। इनमें व्यापारी अलग अलग जातियों के भी होते थे। समय के साथ श्रेणियों की सख्या में वृद्धि होती गयी। मनु द्वारा श्रेणी धर्म अर्थात श्रेणियों के नियमों एवं परम्पराओं को उनके विवादों को सुलझाने हेतु मान्यता प्रदान की गई। याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार राजा का कर्तव्य था कि वह समूहों (श्रेणी,निगम,पाषण्ड,गण) आदि के धर्मों (नियमों परम्पराओं)कि सुरक्षा करे। उन्होंने इन संघों को राजकृत नियमों के समकक्ष रखा है।

निजधर्माविरोधेन यस्तु समायिको भवेत्।
सोऽपि यत्नेन संरक्ष्यो धर्मो राजकृतश्चय: ॥[१९४]

प्राचीन भारत न्याय निर्णय के कुछ मूलभूत सिद्धांतों की जानकारी मिलती है न्याय में विलंब अथवा पक्षपात करना दण्डनीय माना जाता था। शासन के अधिकारियों को न्यायाधिकारियों के कार्य में हस्तक्षेप करना अनुचित माना जाता था।

नोत्पादयेत्स्वयं कार्य राजा वाऽयस्य पुरूष: ॥[१९५]

मनु ने पांच प्रकार के दण्डों का उल्लेख किया है- जुर्माना,कारावास,देश निष्काशन, अंगविच्छेद एवं प्राणदंड। अपराधों की गहनता को देखते हुए दंड दिये जाते थे। मनु ने दो प्रकार के चोरों का उल्लेख किया है-प्रकाश एवं अप्रकाश। उनमें उत्कोचक (घूस लेने वाले) उपधिक (डांटकर छीनने वाले) वंचक, कितव(जुआंरी) मंगलादेशवृत (दूसरों का मंगल बताकर जीविका चलाने वाले) धूर्त, वेश्यायें आदि प्रकाश चोर कोटि में है। अप्रकाश चोर रात्रि में चोरी करने वाले चोर थे। राजा का कर्तव्य था कि समाज के इन दोनों प्रकार के चोरों को समुचित दण्ड दे।अलग अलग अपराधों के लिए अलग अलग दण्डों का विवरण मनु स्मृति में मिलता है। उच्च वर्ण के लोगों पर हीन वर्ण के लोगों की अपेक्षा चोरी के लिए अधिक अर्थदण्ड लगाया जाता था।जिस चोरी के लिए शूद्र चोर पर वस्तु के मूल्य का आट गुना दण्ड लगता था,उसके लिए वैश्य,क्षत्रिय और ब्राह्मण चोर पर क्रमश: १६ गुना, ३२ गुना और ६४ गुनादण्ड लगता था।[१९६]

दण्ड का यथा योग्य प्रयोग करता हुआ राजा त्रिवर्ग (धर्म अर्थ और काम) से समृद्धियुक्त होता हैऔर इसके विपरीत विषयाभिलाषी, क्रोधी,क्षुद्र राजा दण्ड के द्वारा ही मारा जाता है। असहाय, मूर्ख, लोभी, शास्त्रज्ञान-हीन और विषयों में आसक्त राजा के द्वारा न्याय पूर्वक दण्ड प्रयोग नहीं किया

---

१९४. याज्ञवल्क्य स्मृति, २.१८६

१९५. मनुस्मृति, ८.४३

१९६. मनुस्मृति, ८.३३७-३३८

जा सकता। धनादि के विषय में शुद्ध, सत्य प्रतिज्ञा, शास्त्रानुसार, व्यवहार करने वाला अच्छे सहायकों वाला और बुद्धिमान राजा ही दण्ड का उचित प्रयोग कर सकता है राजा को चाहिए कि राज्य में न्यायानुसार दण्ड प्रयोग करे, शत्रुओं के देश में कठोर दण्ड का प्रयोग करे, स्वभाविक मित्रों में सरल व्यवहार करे और छोटे अपराध करने पर ब्राह्मणों में क्षमा को धारण करे। इस प्रकार न्यायपूर्ण व्यवहार (दण्डप्रयोग) से राजा का संसार में यश फैलता है।[१९७]

उत्तर वैदिक साहित्य में उल्लिखित न्याय संबंधी उदाहरणों में परम्परागत दैवी विश्वासो की झलक मिलती है। छान्दोग्य उपनिषद्[१९८] के अनुसार चोरी करने के अभियोग में अभियोगी को न्यायाधीश के पास ले जाया जाता था। एक लोहे के दहकते हुये परशु को अभियोगी को हाथों में लेना पड़ता था। यदि वह जल जाता था तो उसे मार डाला जाता था। यदि नहीं जलता था तो निर्दोष घोषित कर दिया जाता था। व्यवहारिक रूप में उनका जलना स्वाभाविक था पर लोगों में यह विश्वास था कि निर्दोष होने पर भगवान उसकी रक्षा करते हैं।

शुक्रनीति सार के अनुसार- साहस व स्तेय आदि हिंसा मूलक कृत्यों को छोड़कर राजा द्वारा कुल, श्रेणी, गण के लोगों को अपने अन्य विवादों को स्वयं देखने का अधिकार दिया जाना चाहिये। कुल द्वारा उचित निर्णय न होने पर श्रेणी, श्रेणी द्वारा उचित निर्णय न होने पर गण एवं गण द्वारा भी न होने की स्थिति में राजा के न्यायालय में अपील की जा सकती थी।

राजा ये विदिता: सम्यक कुलश्रेणिगणादय: ।[१९९]
साहस्तेयवर्ज्यानि कुर्य: कार्याणिते नृणाम् ॥
विचार्य श्रेणिभि: कार्य कुलैर्यन्न विचारितम् ।
गणैश्च श्रेण्यविज्ञातं गणाज्ञातं नियुक्त कै: ॥

प्रस्तुत विवरण से स्पष्ट है कि श्रेणियों को न्यायालय संबंधी अधिकार प्राप्त थे। सामान्यतया उनके पारस्परिक झगड़े निजी न्यायालयों में ही तय कर लिये जाते थे। विशिष्ट परिस्थितयों में विशेषकर हिंसाजनक अपराधों में राजन्यायालय द्वारा उनके झगड़ों का निपटारा होता था। 'पूग' एक ही ग्राम या बस्ती में रहने वाली विभिन्न जातियों एवं विभिन्न वृत्तियां करने वालों के समुदाय को कहते थे। कुछ विद्वानों ने पूग एवं गण को समानार्थी माना है। जबकि कात्यायन के अनुसार 'पूग' कुलों का संघ है। तथा गण व्यापारियों का संघ है। अनेक स्मृतिकारों के अनुसार श्रेणी के न्यायालयों की अपेक्षा पूग-गण बड़े न्यायालय थे।

---

१९७. मनुस्मृति, ७.१४-३३
१९८. छान्दोग्य उपनिषद्, ६.१६

कौटिल्य[२००] ने भी दण्ड के संबंध में विशद चर्चा की है कौटिल्य ने राजा को न्याय पालिका का अध्यक्ष कहा है वह कानूनों का उल्लंघन करने वालों को दण्ड देता है साथ यह भी कहा गया है कि राजा को उचित न्याय वितरण के लिये समुचित व्यवस्था करनी चाहिये और महत्वपूर्ण केन्द्रों पर न्यायाधीश नियुक्त किये जाने चाहिये जिससे कि जनता के जीवन और सम्पत्ति की रक्षा की जा सके तथा अपराधियों को उचित दण्ड दिया जा सके। कौटिल्य ने विभिन्न प्रकार के दण्ड - शारीरिक दण्ड, जुर्माने का दण्ड, बन्दीगृह का दण्ड, अपराध के अनुसार दण्ड,अपराध की सामर्थ्य के अनुसार दण्ड [२०१] विशेष परिस्थिति के अनुसार दण्ड, दण्ड के भय से आतंक पैदा करने का सिद्धांत, लज्जित करने का सिद्धांत तथा कौटिल्य ने बंदीगृहों में रखे जाने वाले अपराधियों के आचरण सुधारने के साधन भी बताये हैं। इस प्रकार राजा का कर्तव्य है कि वह राज्य व्ययस्था के सुचारू संचालन के लिये उचित न्याय की व्यवस्था करे।[२०२]

ब्राह्मण काल में न्याय व्ययस्था बनाये रखना राजा का प्रधान कर्तव्य था कि राज्य में न्याय व्यवस्था स्थापित हो। प्रजा सुख और शांति से तभी जीवन व्यतीत कर सकती है, जबकि समाजहित के लिये 'ऋत' पर आधारित नियमों का न्यायपूर्वक पालन किया जाये और समाज का कोई भी व्यक्ति समाजहित के लिये निर्धारित मर्यादाओं का उल्लंघन न कर सके। इस काल का राजा न्याय व्यवस्था के सुचारू संचालन के लिये प्रयत्नशील रहता था। स्वयं न्याय सभाओं में उपस्थित होकर न्याय कार्यों का निरीक्षण और त्रुटियों का परिमार्जन करता था।[२०३] अपराध और अन्याय करने वाला व्यक्ति राजदण्ड से अवश्य दण्डित किया जाता था। यदि किसी कारण से अपराधी दण्ड न पा सके तो उसके परिवार से संबंधित उसके पुत्र आदि को दण्डित किया जाता था।[२०४] इतनी कठोर दण्ड व्यवस्था ब्राह्मण कालीन राज्य शासन के न्याय सिद्धांत पर किसी प्रकार की शंका का अवसर नहीं रहने देती। अत: इस काल में राजा को वरूण की भांति ध्रतव्रत नियम और व्यवस्था का संरक्षक साधुओं का प्रतिपालक और दुष्टों को दण्डित करने वाला समझा जाता था।[२०५]

मौर्य प्रशासन में दो प्रकार के न्यायालय थे :

१. कंटकशोधन (फौजदारी संबंधी)

२. धर्मस्थीय (दीवानी न्यायालय)

---

२००. कौटिल्य का अर्थशास्त्र, अधिकरण २.५. १-५

२०१. कौटिल्य का अर्थशास्त्र, अधिकरण ४.८:२३

२०२. कौटिल्य का अर्थशास्त्र, अधिकरण ३.९.१८

२०३. ऐतरेय ब्राह्मण, १३.१४

२०४. ऐतरेय ब्राह्मण, ६.७

दोनों न्यायालयों में तीन तीन न्यायाधीश बैठकर न्याय करते थे। कंटकशोधन न्यायालयों के न्यायाधीश को 'प्रदेष्टा' कहते थे। धर्मस्थीय न्यायालयों के न्यायाधीश को 'धर्मस्थ' कहा जाता था। वास्तविक अपराधी का पता लगाने के लिये गुप्तचरों की भी सहायता ली जाती थी। अपराध की स्वीकारोक्ति हेतु अपराधी को पीड़ित (कर्मपात:) भी किया जाता था न्यायालयों के कार्यकर्ताओं को अनुचित कार्य करने पर दण्ड का भागी होना पड़ता था। स्वयं न्यायाधीश के अनुचित निर्णय देने, न्याय में विलंब करने अथवा किसी पक्ष को अधिक समर्थन देने पर अर्थदण्ड के भागी होते थे।

गुप्त युगीन स्मृतियों से तत्कालीन न्याय व्यवस्था की झलक मिलती है। उदाहरणतया बृहस्पति ने चार प्रकार के न्यायालयों का उल्लेख किया है - प्रतिष्ठित, अप्रतिष्ठत, मुद्रित, शासित। चीनी यात्री फाह्यान के वर्णन से गुप्तकालीन जन-जीवन में अपराध एवं दण्ड के विषय में जानकारी मिलती है। उसके वर्णन के अनुसार प्रजा सुखी है गुरूतर अपराधों के लिये साधारणतया अर्थदण्ड दिया जाता है। राजद्रोह करने तथा उसे बार-बार दोहराने पर केवल दाहिना हाथ काट लिया जाता है। सम्पूर्ण देश में जीव वध नहीं होता था। गुप्त युग में नगरों के राजकीय न्यायालय धर्मासनाधिकरण कहे जाते थे। न्यायव्यस्था से संबंधित अधिकारियों के नाम दाण्डिक, चौरोद्धरणिक, दाण्डपाशिक आदि मिलते है।

वैदिक साहित्य मे वरूण देवता से संबंधित ऋचाओं के आधार पर उन्हें तत्कालीन सर्वोच्च न्यायाधीश की संज्ञा दी जा सकती है। वे पापियों को दण्ड देने वाले, प्रायश्चित करने पर क्षमा दृष्टि रखने वाले दूरदर्शी कहे गये हैं। सम्भवत: तत्कालीन मान्यता के अनुसार वरूण देवता की कृपा से राजा द्वारा न्याय करना सम्भावित था। वैदिक कालीन सभा में भी न्याय होता था। ऋग्वेद के अनुसार न्याय के लिये भूमि, खेल में धोखा, ऋण, उत्तराधिकार, चोरी, आक्रमण एवं हत्या संबंधी विषयों का समावेश था। द्यूत क्रीड़ा में ऋणी होने पर दास बनने का दण्ड दिया जाता था। सम्भवत: न्याय की प्रक्रिया सरल थी। ऋग्वेद में ऋषि वसिष्ठ का उदाहरण मिलता है, जिन्होनें कहा था - यदि मैं यातुधान (दोषी) हूँ तो मर जाऊँ अन्यथा व्यर्थ दोष लगाने पर दोष लगाने वाला मर जाए। ऋग्वेद में मध्यमशी का उल्लेख मिलता है सम्भव है वादी एवं प्रतिवादी के बीच मध्यस्थता का कार्य करने वाला मध्यमशी हो।

अद्या मुरीय यदि यातुधानो अस्मि यदि वायुस्ततप पुरूषस्य।

अधा स वीरैर्दशभिर्वि यूया यो मा मोघ यातुधानेत्याह।[२०६]

---

२०५. शतपथ ब्राह्मण, ५.३.३.६

२०६. ऋग्वेद, ७.१०४.१५

ऋग्वेद में ही एक स्थान पर कहा गया है कि राजा को चाहिये वि वह हमेशा उत्तम यशवालों की सहायता करे तथा कुटिल गतिवाले, अतिथियों को कष्ट देने वाले और आलसी लोगों को मारता है। इन्द्र अतिथिग्व, कुत्स आदि सज्जनों की रक्षा करता है, पर यदि वे बुरे कर्म करने लग जायें तो उन्हें दण्ड भी देता है। राजा भी सज्जनों का पालन करे, पर यदि वे ही कुमार्ग पर चलने लगें तो उनको दण्डित करे।

त्वमाविथ सुश्रवसं तवोतिभि स्तव त्रामभिरिन्द्र तूर्वयाणम्।

त्वमस्यै कुत्समतिथिग्वमायुं महे राज्ञे यूने अरन्धनाय: ॥[२०७]

इन्द्र पराये धन को खाने चाले, दूसरों के रक्त को चूसने वाले सर्पवत् कुटिल व्यवहार करने वाले आदि दुष्टों को मारता है, उसी प्रकार राजा भी दुष्टों का विनाश करे, तभी वह प्रजा के आदर का पात्र हो सकेगा।[२०८] इंद्र, सज्जनों पर शस्त्र फेंकने वाले, बुरे मार्ग से जाने वाले दुष्ट, शस्त्र अपने पास रखने वाले हिंसक, का वध करते है, तथा सज्जनों की हर तरह से रक्षा करते हैं। उसी प्रकार दुष्टों से सज्जनों की रक्षा करना राजा का कर्तव्य है।[२०९] हे इंद्र ! पास में ही शत्रुओं की गर्जना सुनाई देती है, अत: तू उन्हें मार, पीस और उनका विनाश कर।[२१०] जो अज्ञानी ज्ञान से युक्त मित्र और वरूण के व्रतों का उल्लंघन करते हैं या उनके तेजों का नाश करना चाहते हैं, उन नास्तिक और दुष्टों को यह तीक्ष्ण दाढों अर्थात तीक्ष्ण ज्वालाओं वाला जला डाले। राष्ट्र में भी ऐसे लोग हों जो कि राष्ट्रीय अनुशासन का उ़ल्लंघन करते हैं, उन्हें ज्ञानीजन या नेता नष्ट करें।

प्र ताँ अग्निर्बभसत् तिग्मजम्भ स्तपिष्ठेन शोचिषा य: सुराधा:।

प्र ये मिनन्ति वरूणस्य धाम प्रिया मित्रस्य चेततो ध्रुवाणि ॥[२११]

हे स्वर्ग कन्ये! हमारे यज्ञ कर्म में प्रकाशित हो और यहां आने में देरी न कर। जिस तरह राजा चोर डाकू को कष्ट देता है वैसे कष्ट तुम्हें न हो। जो शत्रु और चोर होगा उसको कष्ट देना योग्य है। जिससे उसका आचरण सुधरे और वह सज्जन बने ऐसा राजप्रबंध राजा द्वारा करना चाहिये। अत: स्पष्ट होता है कि अपराधी व्यक्ति को ही राजा द्वारा दण्ड दिया जाना चाहिये।[२१२]

---

२०७. ऋग्वेद, १.५३.१०

२०८. ऋग्वेद, २.१४.५

२०९. ऋग्वेद, ३.३०.१५

२१०. ऋग्वेद, ३.३०.१६

२११. ऋग्वेद, ४.५.४

२१२. ऋग्वेद, ४.७९.९

जिस प्रकार यज्ञकर्ता सोम का रस निकालकर यज्ञ स्थान से यज्ञ के विरोधियों को दूर करता है, उसी प्रकार राजा अपने राज्यसे शत्रुओं को दूर करता है। अथवा उन्हें दण्ड देता है।[२१३]

अथर्ववेद में भी राजा की न्याय संबंधी शक्तियों के विषय में वर्णन बहुत कम आया है। केवल दो मंत्रों में दण्ड विधान का वर्णन प्राप्त होता है। चोर को ये दण्ड दिये जाते थे : उसका सिर कटवाना, उसकी गरदन कटवाना, उसके हाथ पैर कटवाना, उसको शिला आदि से पिसवा देना और सूखे खंभे पर लटकाना आदि।

यो अद्य स्तेन आयत्यघायुर्मर्त्यो रिपु:।
रात्री तस्य प्रतीव्य प्र ग्रीवा: प्र शिरो हनत्॥[२१४]

प्र प्रादौ न यथायति प्र हस्तौ न यथाशिषत्।
यो मलिम्लुरूपायति स संपिष्टो अपायति।
अपायति स्वपायति शुष्के स्थाणावपायति॥[२१५]

यजुर्वेद में भी न्याय तथा दण्ड संबंधी विवरण अनेक कण्डिकाओं में प्राप्त होता है। एक स्थान पर कहा गया है - हे दुष्टों का दमन करने वाले! जो पुरूष स्त्रियों के बीच प्राणियों का मांस खाने वाला व्यभिचारी पुरूष हो, उस पुरूष को ताड़न करो, और अपनी प्रजा के मध्य उत्तम सुख को स्थापित करो, तथा अपने योग्य न्याय का संचालन करो।

उत्सक्थ्या अव गुदं धेहि समञ्जि चारया वृषन्। य स्त्रीणां जीवभोजन:॥[२१६]

हे (वरूण) सब पापों के निवारक वरूण परमेश्वर। हे पवित्र करने वाले जगदीश्वर। जिस प्रकार से सबके पालक को तू देखता है, उसी प्रकाश से तू सब मनुष्यों को भी देख। अर्थात समान दृष्टि से सब पर न्यायपूर्वक शासन कर। उसी प्रकार राजा को सब प्रजाओं पर न्यायपूर्वक शासन करना चाहिये।

येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु। त्वं वरूण पश्यसि॥[२१७]

इसी प्रकार सबके साथ प्रेम करने वाला, सबसे श्रेष्ठ, न्यायकारी, परम ऐश्वर्यवान, विश्व का अधिपति, सर्वव्यापक और विशेष क्रम से कार्य करने वाला ईश्वर हम सबका कल्याण कर।

---

२१३. ऋग्वेद, ९.७.५

२१४. अथर्ववेद, १९.४९.९

२१५. अथर्ववेद, १९.४९.१०

२१६. यजुर्वेद, २३.२१

२१७. यजुर्वेद, ३३.३२

अर्थात राजा को भी निष्पक्ष न्याय कर प्रजा का पालन करना चाहिये।[२१८] एक स्थान पर कहा गया है कि हे वीर पुरूष ! तुझको सत्य के दर्शानिवाले न्यायकारी पद पर नियुक्त करता हूँ, उत्तम श्रेष्ठ पद पर नियुक्त करता हूँ। अर्थात रजा का कर्तव्य है कि वह इस सत्य दर्शानि वाले न्यायकारी पद पर बैठकर निष्पक्ष न्याय कर उस पद की गरिमा को बनाये रखे।[२१९] हे राजन् ! तुम चारो दिशाओं में प्रबल हथियारों से युक्त हो, तुम सत्य न्याय व्यवस्था के केन्द्र और विस्तृत शक्तिवाले हो तुम पूर्ण आयु तक हमारी रक्षा करो।

चतु:स्रक्तिर्नाभिर्ऋतस्य सुप्रथा: स नो विश्वायु: सप्रथा: स न: सर्वायु: सप्रथा:।

अप द्वेषो अप ह्वरोऽन्यव्रतस्य सश्चिम ॥[२२०]

इस प्रकार वैदिक काल में राजा ऋत तथा न्याय के द्वारा प्रजा का रक्षण करता था। तथा अधर्मी, अन्यायी पुरूषों को दण्ड देता था।

सैनिक संबंधी -

सैनिक संबंधी शक्तियों और कर्तव्य के अन्तर्गत राजा का एक रूप सैन्य विभाग के प्रधान के रूप में हमारे सामने उपस्थित होता है। सेना का नेतृत्व एवं संचालन राजा के रक्षात्मक कार्यो के अन्तर्गत सम्मिलत थे। सेना से संबंधित समस्त अधिकारियों की नियुक्ति करना राजा का प्रधान कर्तव्य था सैनिकों की नियुक्ति प्रशिक्षण निवास एवं वेतनआदि निश्चित करने का दायित्व राजा पर ही था क्षत्रिय होने के कारण राजा के लिये यह अनिवार्य कर्तव्य था कि वह युद्ध करे और युद्ध के मैदान से डरकर न भागे। युद्ध में प्राप्त लूट का वितरण भी वही करता था, वह सेना का निरीक्षण करता था और उच्च सैनिक अधिकारियों को भी नियुक्त करता था। राजा ही सेना का सर्वोच्च सेनापति होता था; उसे प्रतिदिन सेना के अंगो का निरीक्षण करना होता था राजा की विभिन्न प्रकार की सेना हुआ करती थी तथा भिन्न-भिन्न प्रकार के अस्त्र शस्त्र होते थे जिसके माध्यम से सेनां युद्ध करती थी।

वाल्मीकि तथा तुलसी दोनों ने चतुरंग बल अथवा सेना उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त वाल्मीकि ने सेना को एक अन्य आधार पर पांच प्रकार की बताया है - मित्र बल - मित्र राजाओं की सेना; अटवी बल - वन प्रदेशों तथा वन्यजनों से भरती की गई सेना; मौल बल - वह सेना जिसे राज्य क्षत्रिय वर्गों में से भरती करता था और इसी कार्य हेतु रखता था; भृत्य बल - केवल

२१८. यजुर्वेद, ३६.९
२१९. यजुर्वेद, ३७.१०
२२०. यजुर्वेद, ३८.२०

वेतन हेतु भरती होने वाले सैनिक और अंतिम द्विषद् बल ऐसे सैनिक जो शत्रु सेना से भागकर दूसरी ओर की सेना से मिल गये हों।[२२१] वाल्मीकि ने बालकाण्ड[२२२] में अक्षौहिणी सेना का उल्लेख किया है। जब मुनि विश्वामित्र ने राजा दशरथ से राक्षसों के संहार हेतु राम-लक्ष्मण को मांगा तो राजा उनके वचन सुनकर थोड़ी देर के लिये चेतना हीन हो गये और होश में आने पर राजा ने कहा -राम अभी बालक ही है, मैं उसमें राक्षसों के साथ युद्ध करने की योग्यता नहीं देखता। मेरे पास अक्षौहिणी सेना है, जिसका मैं सेनापति व स्वामी हूँ। मैं अपनी सेना तुम्हारे साथ भेज सकता हूँ किंतु राम को न ले जाईये।

तुलसीदास ने रामचरितमानस में कई स्थानों पर चतुरंग सेना का उल्लेख किया है इसके अतिरिक्त उन्होनें अन्य आधार पर कई प्रकार का बताया है - बुद्धिबल, तपबल, शस्त्रबल, आत्मबल, और सैन्य बल। तुलसीदास ने सैन्य बल को राजा के महत्वपूर्ण बताया है।

इसके अतिरिक्त वाल्मीकि तथा तुलसी दोनों ने विभिन्न प्रकार के शस्त्रों का उल्लेख किया है। वाल्मीकि ने राम द्वारा मारीच को मारने हेतु मानव अस्त्र, आग्नेय अस्त्र, और वायव्य अस्त्र के प्रयोग का वर्णन किया है। राक्षसों की सेना द्वारा प्रयुक्त अस्त्रों के नाम ये हैं- ढाल, तोमर, मुद्गर, पट्टिश, शूल, कुल्हाड़े खड्ग, चक्र, शक्तियां परिध, धनुष, गदा, तलवार,मूसल तथा वज्र इत्यादि।[२२३] इसके अलावा किष्किन्धाकाण्ड[२२४] में वानर राजा बाली ने एक राक्षस से युद्ध किया जिसमें उसने मुक्कों से, घुटनों से,पांवो से, पत्थरों ओर वृक्षों से युद्ध किया। तुलसी के अनुसार आर्य, वानर और राक्षसो द्वारा प्रयुक्त शस्त्रों अस्त्रों में बड़ा अंतर है। आर्य धनुर्विद्या में निपुण थे, उनके पास बाण, विशिख, तीर, सर, नाराच, सामक आदि विभिन्न प्रकार के बाण थे। राम की घनुष-टंकार ही शत्रुदल में भय का संचार कर देती थी। इसके अतिरिक्त उनके पास अग्निबाण तथा मंत्र प्रेरित अन्य बाण भी थे। उनकी सफलता का रहस्य मंत्रबल था। उन्हें मंत्र प्रेरित बाणों को पुन: वापस लौटा लेने की विधि भलिभांति ज्ञात थी और उनके बाण में माया को नष्ट कर देने की अद्भुत क्षमता थी। राक्षस धनुर्विद्या में निपुण होते भी मंत्र बल से अनभिज्ञ थे; वे माया युद्ध में प्रवीण थे।

ब्राह्मण ग्रंथों में भी राजा के सैन्य संबंधी शक्ति तथा कर्तव्यों का विस्तृत वर्णन मिलता है। कौषितकी ब्राह्मण के अनुसार युद्ध के समय राजा स्वयं सेना का संचालन करता था।[२२५] युद्धों से

---

२२१. सलेटोरे बी. ए., एन्शियेन्ट इंडियन पॉलिटिकल थाट एण्ड इन्सटीट्यूशन्स, पृष्ठ ३८०

२२२. वाल्मीकि रामायणं, बालकाण्ड, सर्ग ७

२२३. वाल्मीकि रामायण, अरण्यकाण्ड, सर्ग १७

२२४. वाल्मीकि रामायण, किष्किन्धाकाण्ड, सर्ग ९

२२५. कौषीतिकी ब्राह्मण ५.५

समाज की सम्पूर्ण शान्ति व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाती थी। अत: राजा का प्रधान कर्तव्य था कि वह राष्ट्र के शत्रुओं का समूलोच्छेद करके सम्पूर्ण राज्य में शान्ति व्यवस्था स्थापित करे। इस कर्तव्य का निर्वाह राजा पूर्ण रूप से करता था। अत: उसका नाम चर्षणीघृत भी है।[२२६] युद्ध की अनिवार्यता के कारण ही राज्याभिषेक के समय राजा में सेनानी के गुणों का धारण करने का कृत्य किया जाता था।[२२७] युद्ध में विजयी होने के पश्चात राजा का महत्व बढ़ जाता था जनता विजयी राजा का सम्मान करती थी।[२२८] देवों के राजा इंद्र थे देवों ने श्रेष्ठ गुणों के कारण इंद्र को अपना राजा चुना था।[२२९] राजा का प्रादुर्भाव ही आक्रमण की भीषण विभीषिका से त्राण पाने के लिये हुआ था। मरूत् इंद्र के सचिव थे। कठिन परिस्थिति में भी इंद्र की सहायता करते थे। इंद्र युद्ध में वृत्र आदि असुरों का वध तथा देवों का नेतृत्व करता था।[२३०]

युद्ध स्थल पर राजा सैनिकों के साथ रहता था तथा सेना का नेतृत्व करता हुआ सैनिकों का उत्साहवर्धन करता. था।[२३१] कभी-कभी ऐसा भी होता था कि जब सेना यह समझती थी कि शत्रु पक्ष बलवान है, वह हमको जीत लेगा, तो वह से पलायन कर जाती थी, परंतु राजा के लिय यह आवश्यक था कि वह युद्ध स्थल में युद्ध करता रहे। वृत्र वध के समय भय के कारण जब देवता भाग गये तो इंद्र अपने सचिव मरूतों के साथ युद्ध करता रहा और विजय प्राप्त की।[२३२] शत्रु के आक्रमण के समय शत्रुपक्ष की निश्चित पराजय के लिय योजनाबद्ध रूप से सैनिको को तीन श्रेणियों में विभाजित करके युद्ध किया जाता था।[२३३] और शत्रु को समूलोच्छेद का प्रयास किया जाता था।[२३४]

कभी-कभी आमने सामने युद्ध की अपेक्षा, माया प्रपंच तथा कपट से भी शत्रु को पराजित करने अथवा अभीष्ट वस्तु को प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता था। सोम राजा के ऊपर असुरों ने सहसा आक्रमण किया, तब अग्नि ने माया से सोम राजा की रक्षा करके उसको बचा लिया।[२३५] युद्ध के समय शत्रु पर आक्रमण करने के साथ अपनी सुरक्षा का पूर्ण ध्यान रखा जाता था।

---

२२६. सायण भाष्य, ऐतरेय ब्राह्मण, १३.१४

२२७. ऐतरेय ब्राह्मण, ३९.२

२२८. ऐतरेय ब्राह्मण, १२.१०

२२९. कौषितिकी ब्राह्मण, ६.१४; ऐतरेय ब्राह्मण ३८.१

२३०. ऐतरेय ब्राह्मण, १२.५ तथा १२.९

२३१. ऐतरेय ब्राह्मण, ७.६

२३२. ऐतरेय ब्राह्मण, १२.९

२३३. ऐतरेय ब्राह्मण, १४.१

२३४. ऐतरेय ब्राह्मण, १५.६

२३५. ऐतरेय ब्राह्मण, ५.४

शत्रु के आक्रमण से त्राण पाने के लिये विशाल 'पुरों' का निर्माण किया जाता था। जो सब प्रकार से सुदृढ होते थे तथा वे 'पुर' चांदी ओर स्वर्ण से निर्मित होते थे।[२३६] युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिये मंत्र योजना का विशेष महत्व था। युद्ध के समय शत्रु पक्ष के पराजित हो जाने पर उसके उपयोगी समान को छीन लिया जाता था।[२३७] पराजित शत्रु अपना समान कई बार समुद्र में फेंक देते थे। जिससे देव उसका उपयोग न कर सकें।[२३८] युद्ध में विजय प्राप्त करने के बाद प्रजा राजा का विशेष सम्मान करती थी, तथा उसको अनेक उपाधियों से विभूषित करती थी। विजित इंद्र को महेन्द्र की उपाधि मिल जाने के पश्चात प्रजा ने इंद्र का अभिनंदन वैसे ही किया था जैसे वैभवशील व्यक्तियों का किया जाता है।[२३९] राजा के सहायक सैनिकों का भी विजय के उपलक्ष्य में सम्मान किया जाता था।[२४०] युद्ध में प्राप्त धन का एक चौथाई भाग भी सैनिकों को दिया जाता था।[२४१] जब दो राजा सम्मिलत रूप से एक पक्ष में होकर शत्रु से युद्ध करते थे तब विजय के पश्चात युद्ध में प्राप्त धन को वे दोनों समान रूप से बांट लेते थे।[२४२]

इस काल में विभिन्न प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों का भी वर्णन प्राप्त होता है। १. वज्र - यह इंद्र का प्रधान आयुध था, इसमें तेज धार वाले आठ चक्र होते थे।[२४३] महाभारत में भी कहा गया है कि इस आठ चक्र वाले आयुध की रचना महादेव ने की थी।[२४४] २. धनुषबाण की गणना क्षत्रिय आयुधों में की गई है, क्षत्रिय छोटे से ही धनुष की शिक्षा का अभ्यास करते थे।[२४५] ३.प्रशस् - इससे शारीरिक बल,मंत्र अथवा यन्त्र से फेंककर प्रहार किया जाता था। अस्त्र आयुधों में प्रशस् का विवरण उपलब्ध होता है। यह आधुनिक भाले के समान कोई अस्त्र रहा होगा।[२४६] ४. असि - असि का रूप वर्तमान तलवार के समान था यह शुद्ध लोहे से बनी होती थी।[२४७] ५. परशु - यह भी असि के समान पकड़ने के स्थान में पतला और आगे फैला हुआ होता था। इसका प्रयोग लकड़ी आदि छीलने के लिये किया जाता था।[२४८] ६. अंकुश - इस शस्त्र का उल्लेख जल से वस्तु निकालने के लिये किया

२३६. कौषी. ब्राह्मण, ८.८
२३७. ऐतरेय ब्राह्मण, १६.६
२३८. ऐतरेय ब्राह्मण, २२.६
२३९. ऐतरेय ब्राह्मण, १२.१०
२४०. ऐतरेय ब्राह्मण, ६.१
२४१. ऐतरेय ब्राह्मण, ९.१
२४२. ऐतरेय ब्राह्मण, २८.७
२४३. ऐतरेय ब्राह्मण, ६.१
२४४. महाभारत, ७.१३५.७६
२४५. ऐतरेय ब्राह्मण, ३४.१
२४६. ऐतरेय ब्राह्मण, ६.६
२४७. ऐतरेय ब्राह्मण, ३३.४
२४८. कौषीतिकी ब्राह्मण, १०.१

जाता था।[२४९] परंतु ऋग्वेद में अंकुश इंद्र के आयुध के रूप में उल्लिखत है। ७. दण्ड आयुध - इसकी तीक्ष्ण धार नहीं होती थी इसका अग्रभाग मोटा होता था। यह वज्र के तीन रूपों में से एक था।[२५०] ८. पाश - रज्जु के रूप में निर्मित होता था।[२५१] शत्रु के हनन के लिये अथवा बांधने के लिये पाश को विशेष कौशल से शत्रु के ऊपर फेंका जाता था। कौषीतिकी ब्राह्मण के अनुसार पाश वरूण आयुध[२५२] तथा ऋग्वेद के अनुसार यह सोम देवताओं का आयुध था।[२५३] ९. युद्ध के समय शत्रु के तीक्ष्ण आघात से सुरक्षा पाने के लिये रक्षात्मक आवरणों का प्रयोग किया जाता था। रक्षात्मक आवरण में मुख्य रूप से क़वच (चर्म) होता था इसको शरीर पर धारण किया जाता था।[२५४]

कौटिल्य ने सेना के ६ प्रकार बताये हैं।[२५५] मौलबल (राजधानी की रक्षा करने वाली), भृतबल (बेतन भोगी सेना), श्रेणिबल (विभिन्न प्रदेशों में रखी गई सेना), मित्रबल (मित्र राजा की सेना), अमित्रबल (शत्रुराजा की सेना), अटवीबल (जंगल की सुरक्षा हेतु सेना), साथ ही वे हस्तिसेना, अश्वसेना, रथसेना व पत्ति (पैदल) सेना का उल्लेख करते हैं।[२५६] कौटिल्य ने राजा को ही सेना का सर्वोच्च्च सेनापति कहा है उसे प्रतिदिन सेना के अंगो का निरीक्षण करना होता था।

गुप्तकाल में राजा का शासन, सेना और न्याय से संबंधित कार्यो को करना पड़ता था। प्रमुख युद्धों में राजा स्वयं सेना का संचालन करता था। गुप्तकाल में महासेनापति नामक अधिकारी सेना विभाग का अध्यक्ष होता था। इनकी अधीनता में महादण्डनायक नाम के अधिकारी हुआ करते थे। रण भाण्डागारिक सेना की सामग्री जुटाने का सारा कार्य करता था।[२५७]

ह्वेनसांग के अनुसार हर्ष की सेना के चार अंग क्रमश: पदाति, अश्वारोही सेना, रथ सेना, और गज सेना थी। 'हर्षचरित' में सेना के अन्तर्गत ऊंटों का उल्लेख मिलता है, उस युग में नौ सेना के भी उल्लेख मिलते हैं। हर्षचरित के अनुसार हर्ष की सेना में हाथियों की संख्या उनके 'अपुत' थी।[२५८] ह्वेनसांग के अनुसार हर्ष की सेना में साठ हजार हाथी थे। बाण ने हाथियों को फौलादी दीवार की संज्ञा दी है, जो शत्रु की वाण वर्षा को झेल सकती थी इससे ज्ञात होता कि उस समय शस्त्र रूप में धनुष बाण का प्रचलन था।

---

२४९. ऐतरेय ब्राह्मण, २२.६
२५०. ऐतरेय ब्राह्मण, १०.३
२५१. ऐतरेय ब्राह्मण, १२.३
२५२. कौषी ब्राह्मण, ५.३
२५३. ऋग्वेद १.८३.४, १०.६३.११
२५४. ऐतरेय ब्राह्मण, ४.९
२५५. अर्थशास्त्र, २.३३
२५६. अर्थशास्त्र, ९.२
२५७. त्यागी, एण्ड भाटिया, हिन्दू राजशास्त्र, पृष्ठ १६९
२५८. अग्रवाल, वासुदेव शरण, हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृष्ठ ३९

राष्ट्रकूट शासकों के सैन्य प्रशासन के संबंध में अभिलेख महत्वपूर्ण जानकारी देते हैं राजा की स्थिति विजिगीषु की थी। अत: वह अपने साम्राज्य विस्तार में तत्पर रहता था। ये सेनाएँ बाह्य आक्रमणों से राज्य की रक्षा करती थी। मुस्लिम लेखकों के अनुसार राष्ट्रकूट राजा अपने सैनिकों को नियमित वेतन देते थे।[२५९] लेखों में सैन्य अधिकारियों के नाम महाप्रचण्ड, दण्डनायक तथा महाबलाधिकृत मिलते हैं। राष्ट्रकूटों के पास हस्तिसेना भी थी। उत्तर भारत के प्रतिहार एवं पाल शासकों के साथ राष्ट्रकूटों के युद्ध हुये। युद्ध में मारे गये सैनिकों के परिवारों को पेंशन दी जाती थी। युद्ध में राजा ही सम्पूर्ण सेना का नेतृत्व करता था।

लगभग ९९३ ई. से १०७० ई. तक श्रीलंका पर चोलों का प्रभुत्व रहा। चोलो की सुदृढ नौसेना ने दक्षिण पूर्व एशिया के कुछ क्षेत्रों में विजय की थी। चोल शासकों की उपलब्धि के मूल में उनकी विशाल सेना तथा सुगठित शासन पद्धति का योगदान रहा होगा। अनेक चोलों राजाओं को चक्रवर्तिगल, 'उदैयार' तथा त्रिलोक सम्राट उपाधियां धारण की थी। ब्राह्मण ग्रंथों तथा वेदों में भी विजयोपरान्त उपाधि प्रदान करने की परम्परा थी। वैदिक काल में सर्वप्रथम सैन्य व्यवस्था का विशद वर्णन प्राप्त होता है। 'अथर्ववेद के अनुसार- इन्द्र सेनापति था।

वह स्वयं युद्ध में जाता था। उसके नेतृत्व में शत्रु सेनाओं को जीतने का उल्लेख है।[२६०] देवों के दो सेनापति इंद्र और मेदि का उल्लेख है।[२६१] सेनापति त्रिषन्धि की सेना का भी उल्लेख है।[२६२] अबुर्दि और त्रिषन्धि, इन दोनों का सेनापति के रूप में उल्लेख है। त्रिषन्धि वज्र को भी कहते है। इनमें तीन जोड़ होते हैं - बाण की लकड़ी वाला हिस्सा, लोहे का टुकड़ा और अगला नोक वाला हिस्सा।[२६३]

सेना के २१ भेद बताये गये हैं।[२६४] सेना में रथी होते थे। ये रथ पर बैठकर युद्ध करते थे। पदाति पैदल सेना के लिये है। दोनों का पौर्यापर्य भी बताया गया है कि रथी पदातियों को सरलता से जीत लेते हैं।[२६५] घुड़सवार सेना भी होती थी। घुड़सवार सेना जंगलों में रीछ आदि जानवरों को मारती थी।[२६६] इंद्र कीं सेना में सैकड़ों टुकड़ियां थी। उनको लेकर वह विजययार्थ प्रस्थान करता

२५९. अल्तेकर, राष्ट्रकूटाज़ एण्ड देयर टाईम्स, पृष्ठ १७३
२६०. अथर्ववेद, ५.३.१
२६१. अथर्ववेद, ११.९.४
२६२. अथर्ववेद, ११.१०.४
२६३. अथर्ववेद, ११.९.२३, ऐतरेय ब्राह्मण, १.२५
२६४. अथर्ववेद, १.२७.१
२६५. अथर्ववेद, ७.६२.१
२६६. अथर्ववेद, १८.२.३१

था।[२६७] इंद्र के लिये कहा गया है कि वह अद्वितीय वीर है। वह शत्रुओं की सेना को जीतता है।[२६८] सेना से आक्रमण किया जाता था। और शत्रुसेना को आक्रमण करके भगाया जाता था या नीचा दिखाया जाता था।[२६९] अबुर्दि और न्यबुर्दि ये दोनों सेनापति हैं।[२७०] अथर्ववेद में एक स्थान पर इन दोनों सेनापतियों का वर्णन है और अन्यत्र त्रिषन्धि का वर्णन है।[२७१] इंद्राणी का सेनानी के रूप में वर्णन है वह सेनानी के रूप में अपराजित और अधर्षणीय है।[२७२]

युद्ध में विजयी पक्ष को सहस्रों प्रकार का धन मिलता था, अत: युद्ध को प्रधान कहा गया है।[२७३] छोटे बड़े युद्ध होते थे। उनमें सहायतार्थ इंद्र को बुलाया जाता था।

इन्द्रो मदाय वावृधे शवसे वृत्रहा नृभिः।
तमिन्महत्स्वाजिषूतेमर्भे हवामहे स वजिषु प्र नोऽविषत्॥[२७४]

महायुद्ध भी होते थे। युद्ध में दूर देशों के राजा भी आते थे। युद्ध के पश्चात वे अपने देशों को जाते थे।[२७५] अंशुमति नदी के किनारे देवों और असुरों का युद्ध हुआ था। इंद्र ने बृहस्पति के साथ रहकर इंद्र की सेना को हराया था।

अथ द्रप्सो अंशुमत्या उपस्थेऽधारयत्तन्वं तित्विषाणः।
विशो अदेवीरभ्या इ चरन्तीर्बृहस्पतिना युजेन्द्रः ससाहे॥[२७६]

युद्ध में विजय के लिये जयध्वनि की जाती थी।[२७७] सेना के प्रस्थान के समय सैनिक हर्षित होकर जयध्वनि करते थे, झंडे लिये हुये चलते थे।[२७८] सेना के साथ मित्रगण भी चलते थे।[२७९]

---

२६७. अथर्ववेद, २०.५१.२
२६८. अथर्ववेद, १९.१३.२
२६९. अथर्ववेद, ७.६२.१
२७०. अथर्ववेद, ११.९.४
२७१. अथर्ववेद, ११.९.१ से २६; अथर्ववेद ११.१०.१ से २७
२७२. अथर्ववेद, १.२७.४
२७३. अथर्ववेद, २०.७०.१०; ऋ. १.७.४
२७४. अथर्ववेद, २०.५६.१; ऋ. १.८१.१
२७५. अथर्ववेद, ११.९.२६
२७६. अथर्ववेद, २०.१३७.९ ऋ. ८.९६.१५
२७७. अथर्ववेद, ४.३१.४
२७८. अथर्ववेद, ३.१९.६
२७९. अथर्ववेद, ११.९.२

युद्ध कार्य में शत्रुसेना के सैनिकों को पकड़ते थे; और उन्हें बांधकर लाते थे।[२८०] शत्रुसेना के सैनिकों को निहत्था बना दिया जाता था।[२८१] इंद्र ने युद्ध में शत्रुओं की ये चीजे जीती थी - घोड़े, गाय, सोना और अन्य उपयोगी वस्तुएँ।[२८२] घूंसेबाजी का भी युद्ध होता था। इसमें घूंसा मारकर ही शत्रु को मारा जाता था।[२८३] युद्ध में जो सैनिक मर जाते थे, उनकी स्त्रियों के वैधव्य दुख का भी वर्णन मिलता है। ऐसी स्त्रियाँअपने बाल विखेरती थीं,आभूषण उतारतीं थी,रोतीं थीं और छाती पीटती थीं।[२८४]

अथर्ववेद के अनेक सूक्तों में शत्रुनाशन का वर्णन है।[२८५] शत्रु भौतिक और आध्यात्मिक दोंनो प्रकार के हैं। इनको नष्ट करने के उपाय है-विचारशक्ति, दृढ़निश्चय और ज्ञान।[२८६] ज्ञान से शत्रुओं को नष्ट करना।[२८७] इन तीन को शत्रु कहा है-व्याघ्र, चोर और भेड़िया। इनको भगाना चाहिए।[२८८]

शत्रु को ईश्वर के न्याय पर छोड़ना यह सात्विक लोगों की पद्यति थी।[२८९] दुष्टों और शत्रुओं का नाश किया जाता था,नीचा दिखाया जाता था।और उनका तिरस्कार किया जाता था।[२९०] शत्रु की योजनाएँ नष्ट की जाती थी।

व्याऽकूतय एषामिताथो चित्तानि मुह्यत।
अथो यद्‌द्यैषां हृदि तदेषां परि निर्जहि॥[२९१]

शत्रुओं का तेज नष्ट किया जाता था।[२९२] शत्रुओं की सेना को बेहोश करके उनके हाथ काट दिए जाते थे।[२९३] शत्रुसेना को बेहोश करके उनके देखने की शक्ति नष्ट कर दी जाती थी।[२९४]

---

२८०. अथर्ववेद,११.९.३
२८१. अथर्ववेद,६.६६.१ से ३
२८२. अथर्ववेद,२०.११.९
२८३. अथर्ववेद,२०.७०.१८
२८४. अथर्ववेद,११.९,७-८; ११.९.१४
२८५. अथर्ववेद,१.१९.१ से ४; ६.१०३.१ से ३; ६.१०४.१ से ३
२८६. अथर्ववेद,३.६.८
२८७. अथर्ववेद,३.१९.३
२८८. अथर्ववेद,४.३.१
२८९. अथर्ववेद,३.२७.१
२९०. अथर्ववेद,१.२.२; ११.१.६; ११.१.१२ और २१
२९१. अथर्ववेद,३.२.४
२९२. अथर्ववेद,७.१३.१; ७.११४.१
२९३. अथर्ववेद,३.१.१; ३.२.१

उनको बहोश करके उनकी चेतना शक्ति नष्ट कर दी जाती थी।[२९५] जो दूसरों को दास बनाना चाहते हैं, उन्हें नष्ट किया जाता था।[२९६] शत्रुओं को सुधारने और उन्हें सत्मार्ग पर लाने का प्रयत्न किया जाता था।[२९७] शत्रुओं पर समुद्रीमार्ग से आक्रमण किया जाता था।[२९८]

विजय प्राप्ति के लिये ब्रम्ह शक्ति अर्थात ज्ञान बल आवश्यक है।[२९९] विजय प्राप्ति के लिये क्षत्र शक्ति आवश्यक है।[३००] विजय प्राप्ति के लिये ज्ञान, कर्म, इच्छाशक्ति इन तीनों की आवश्यकता है।[३०१] त्रिषन्धि सेनापति ने इस अस्त्र का प्रयोग करक शत्रु सेना को नष्ट किया था।[३०२] इस अस्त्र का उल्लेख ऋग्वेद में भी मिलता है।[३०३]

धूमाक्षी और कृधुकर्णी सामवेद में इन दोनों अस्त्रों का वर्णन है।[३०४] धूमाक्षी का धुंआ आंख में घुसकर दु:ख देता था। कृधुकर्णी सम्भवत: कानो को दु:ख देने वाला अस्त्र था यह पटाखा या बम का गोला था जो फटकर बहुत जोर की आवाज़ करता था जिससे सैनिकों के कान फट जाते थे।[३०५] अथर्ववेद में पूतिरज्जु अर्थात बारूद की बत्ती जलाने का वर्णन है।[३०६] इसके जलाने से बदबू फैलती थी। इससे आग धुंआ बदबू निकलती थी जो शत्रुओं में भय पैदा करती थी।

तलवार, परशु, तथा अन्य आयुध युद्धास्त्रों में थे।[३०७] अन्य शस्त्रादि के नाम है - तलवार, भाला[३०८], आरा।[३०९] लोहे की बेड़ियां युद्ध बंदियों को बाधने के लिये होती थी।[३१०] वीरों का शस्त्र ही मित्र होता है।[३११]

---

२९४. अथर्ववेद,३.१.६
२९५. अथर्ववेद,३.२.२
२९६. अथर्ववेद,१.१९३
२९७. अथर्ववेद,३.१.४
२९८. अथर्ववेद,५.६.४
२९९. अथर्ववेद,१०.५.१
३००. अथर्ववेद,१०.५.२
३०१. अथर्ववेद,१०.५.१५
३०२. अथर्ववेद,११.१०.१९
३०३. ऋग्वेद, १०.१०३.१२; यजुर्वेद १७.४४; सामवेद १८६१
३०४. ऋग्वेद, ११.१०.७
३०५. ऋग्वेद, ११.१०.७
३०६. ऋग्वेद, ८.८.२
३०७. ऋग्वेद, ११.९.१
३०८. ऋग्वेद, २०.१२६.१८
३०९. ऋग्वेद, ४.१२.७
३१०. ऋग्वेद, ६.६३.२
३११. ऋग्वेद, २०.१३८.३

अथर्ववेद के कई सूक्तों में दुन्दुभि का वर्णन है। यह दुन्दुभि वीरों को उत्साहित करने के लिये बजाई जाती थी।[३१२] दुन्दुभि लकड़ी की होती थी और चमड़े की मढ़ी होती थी। वीरों को उत्साहित करने के लिये यह बजाई जाती थी।

उच्चैर्घोषो दुन्दुभि: सत्वनायन्वानस्यत्य: संभृत उस्रियाभि: ।

वाचं क्षुणुवानो दमयन्त्सपत्नान्त्सिह इव जेष्यन्नभि तंस्तनीहि ॥[३१३]

इसका शब्द शक्ति और स्फूर्ति देने वाला बताया गया है।[३१४]

इसके अलावा रथ और ध्वजाएं भी युद्ध में हुआ करती थी। रथ सुखदायी होते थे।[३१५] सुन्दर सुवर्ण जटित भी इसके अलावा देवों द्वारा विभिन्न प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों का उपयोग किया जाता था।

धनुष बड़े -बड़े भी होते थे इससे सैकड़ों और हजारों तक को मारा जा सकता था।[३१६] धनुष पर वांण की प्रत्यंचा या डोरी होती थी यह धनुष के दोनों कानों पर बांधी जाती थी।[३१७] बांण नुकीले होते थे। इनका घाव गहरा होता था।[३१८] इनके अगले भाग में लोहे की नोक होती थी। ये सुई की तरह तीक्ष्ण और वायु की तरह तीव्र गति वाले होते थे।[३१९] बांण विष में बुझे हुये होते थे।[३२०] बांणों को रखने के लिये तरकस होते थे।[३२१]

दिव्य और मानवी अस्त्र-दो प्रकार के होते थे। दिव्य अस्त्र मानवी अस्त्रों से गुण में बढ़े हुये होते थे।[३२२] वज्र यह इन्द्र का अस्त्र था। त्वष्टा ने यह अस्त्र इन्द्र के लिये बनाया था।[३२३] वज्र में तीन जोड़े होते थे, अत: उन्हें त्रिषन्धि कहते थे।[३२४] देवों ने इस त्रिषन्धि वज्र को तेज और बल के लिये अपनाया था।[३२५] इन्द्र का वज्र नीला और फौलाद का बना हुआ था।[३२६]

---

३१२. ऋग्वेद, ५.२०; ५.२१; ६.१२६
३१३. अथर्ववेद, ५.२०.१
३१४. अथर्ववेद, ५.२०.३ ; ५.२०.८
३१५. अथर्ववेद, २०.२३.९
३१६. अथर्ववेद, ११.२.१२
३१७. अथर्ववेद, १.१.३; ७.५०.३
३१८. अथर्ववेद, १.२.३
३१९. अथर्ववेद, ११.१०.३
३२०. अथर्ववेद, ४.६.५
३२१. अथर्ववेद, १९.१३.४
३२२. अथर्ववेद, १.१९.२
३२३. अथर्ववेद, २०.३५.६
३२४. अथर्ववेद, ११.१०.३
३२५. अथर्ववेद, ११.१०.११
३२६. अथर्ववेद, २०.३०.३

आग्नेय अस्त्र दिव्य अस्त्र था। इससे अग्नि की वर्षा होती थी । यह साथ ही धुंआ फकता था । इससे शत्रु बेहोश हो जाते थे ।[३२७]

वायत्य और आग्नेय अस्त्र प्रचण्ड वेग वाले थे ये शत्रुओं को नष्ट करने के लिये छोड़े जाते थे ।[३२८]

सम्मोहन अस्त्र से शत्रुओं को बेहोश किया जाता था।[३२९] तामस अस्त्र अश्रु गैस के तुल्य था । यह धुंआ फैला देता था । जिससे चारों ओर अंधेरा हो जाता था । सैनिको का दम घुटने लगता था । और वे इधर-उधर भागते थे । इसके छोड़ने से शत्रु एक दूसरे को पहचान नहीं सकते थे ।[३३०] रथ होते थे। ऐसे १०० रथों का उल्लेख है ।[३३१] रथ को सजाया जाता था ।[३३२] इन्द्र का रथ युद्ध में विजयी होता था ।[३३३] रथों पर बैठकर युद्ध किया जाता था।[३३४] अग्नि के पास अनेक रथ थे।[३३५]

अथर्ववेद में ही एक बहुत बड़े रथ का उल्लेख है उस रथ पर कुत्स के साथ १००आदमी बैठते थे । उसमें तीन प्रकाश लगे होते थे ।[३३६] आर्यों की सेना में ध्वजों पर सूर्य का चिन्ह होता था । आर्यो की सेना देव सेना कही जाती थी ।[३३७] आर्यो के ध्वज लाल रंग के होते थे ।[३३८] युद्ध में प्रत्येक दल के अपने झण्डे होते थे।[३३९] सैनिक युद्ध में जाते समय झण्डे हाथ में लेके चलते थे ।[३४०] इस प्रकार राजा द्वारा अस्त्र शस्त्र के संचालन की विस्तृत जानकारी सर्वप्रथम वेदों में ही प्राप्त होती है ।

---

३२७. अथर्ववेद, ६.६७.२

३२८. अथर्ववेद, ३.१.५; ३.२.३

३२९. अथर्ववेद, ११.१०.२१

३३०. अथर्ववेद, ३.२.६

३३१. अथर्ववेद, २०.१३१.५

३३२. अथर्ववेद, २०.१३.३

३३३. अथर्ववेद, १९.१३.५

३३४. अथर्ववेद, २०.७६.८

३३५. अथर्ववेद, २०.१३.४

३३६. अथर्ववेद, २०.७६.२

३३७. अथर्ववेद, ५.२१.१२

३३८. अथर्ववेद, ११.१०.२

३३९. अथर्ववेद, १९.१३.११

३४०. अथर्ववेद, ११.१०.१

आर्थिक संबंधी-

प्रशासन को सुचारू रूप से संचालित करने के लिये राज्य की आय का होना आवश्यक है। वास्तव में राज्य की आय राज्य के स्थायित्व एवं सम्पन्नता का मूल आधार है। राज्य की आय के स्त्रोत के रूप में बलि, भाग, कर, शुल्क आदि शब्दों का प्रयोग प्राचीन भारती य साहित्य एवं पुरातात्विक स्त्रोंतों में देखने मिलता है ऋग्वेद में सर्वप्रथम 'बलिहृत' शब्द आया है जिसका तात्पर्य राजा के लिये 'बलि' नामक कर लेने वाले से था। इस प्रकार ऋग्वैदिक युग में 'बलि' नामक कर के रूप में प्रजाकी आय होती थी। प्रजा राजा के सम्मानार्थ स्वेच्छा से बलि देती थी।

स निरूध्या नहुषो युह्वो अग्निर्विशश्चक्रे बलिहृत: सहोभि:।[३४१]

वैदिक साहित्य के अनुशीलन से स्पष्ट होता है, कि देवताओं को प्रसन्न करने हेतु अर्पित की जाने वाली भेंट को बलि कहा जाता था। इस धारणा को दृष्टिगत रखते हुये यह कहा जा सकता है, कि वैदिक युग में प्रजा राजा को संतुष्ट करने हेतु बलि देती रही होगी। ऋग्वेद में एक स्थान पर उल्लेख है कि धनी लागों को राजा वैसे ही खाता है जैसे अग्नि वन को। सम्भवत: वैदिक युग में सम्पन्न लोगों से राजा को विशेष धन मिलता था। इसी आधार पर ऋग्वेद में यह उपमा दी गई है।

वैदिक रत्नियों में 'संग्रहीता' एवं 'भागधुक्' नामक पदाधिकारियों के नाम मिलते है। 'संग्रहीता' शब्द के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि यह पदाधिकारी राजकीय करों का संग्रह करने वाला रहा होगा। 'भागधुक' नाम से भी ऐसा प्रतीत होता है कि प्रजा द्वारा उत्पादित वस्तुओं में से वह कर के रूप में राजा का भाग लेता रहा होगा। वैदिक युग में आय का प्रमुख साधन कृषि एवं पशु पालन थे। अथर्ववेद[३४२] के एक मंत्र में राजा द्वारा ग्राम के अश्वों एवं गायों में से 'भाग' (हिस्सा) लेनेकी कामना की गई है। इससे स्पष्ट होता है कि पशुपालन से राजकीय आय होती थी। वैदिक युगीन भारत छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था। अनेक जनजातियां पुरू,यदु,अनु, द्रुह्य, तुर्वसु, भरत, त्रित्सु, संजय इत्यादि अपना स्वतंत्र जीवन अस्तित्व रखती थी। इन राष्ट्रों में समय-समय पर आपस में संघर्ष होता रहता था। विजेता राजा पराजित राष्ट्र से सम्पदा तथा दास-दासिया आदि प्राप्त करता था। प्राय: पराजित राजा को अपनी रक्षा क लिये कर देना पड़ता था। वैदिक साहित्य में इसके लिये खण्डणी शब्द का प्रयोग मिलताहै। इस प्रकार के युद्धों से भी राजकीय आय होती थी।

रामायण [३४३] में भी बलि शब्द का उल्लेख प्राप्त होता है। जिसका तात्पर्य षष्ठ भाग से

---

३४१. ऋग्वेद, ७.६.५

३४२. अथर्ववेद, ४.२२.२

३४३. रामायण, ३,६.११,

है। रामायण में ही [३४४] विवरण मिलताहै क मूल और फल पर जीविकोपार्जन करने वाला मुनि जो धर्म करता है उसका १/४ भाग राजा का होता है। इसका आधार इस सिद्धांत का प्रतिपादन था कि सभी को कर देना चाहिये। चूंकि मुनि के पास कर देने के लिये द्रव्य तो होता नहीं अत: कल्पना की गई कि राजा इसके तप के चर्तुमांश का भागी होगा।

महाभारत के सभापर्व एवं शान्तिपर्व में भी राजकीय आय से सबंधित वृहत् उल्लेख मिलते है। महाभारत [३४५] के अनुसार राजभक्त एवं राजा के विश्वासपात्र राजकीय कर्मचारियों की नियुक्ति आय व्यय को लिपिबद्ध करने हेतु की जाती थी। इन्हें गणक या लेखक कहा जाता था। ये राजकर्मचारी दिन के प्रहर में अपना कार्य पूर्ण कर लेते थे। व्यापारियों से शुल्क ग्रहण करने के लिये शुल्कोपजीवी नामक कर्मचारी होते थे। कई महत्वपूर्ण आय स्त्रोतों के लिये आमात्यों की नियुक्ति की जाती थी जिनमें खान, शुल्कतर (नदी पार करना) तथा लवण से संबंधित आमात्य महत्वपूर्ण थे।[३४६] महाभारत के विवरण के अनुसार राजकीय आय का एक महत्वपूर्ण साधन पराजित राजाओं की सम्पत्ति थी। इसके अतिरिक्त सम्राटों की विजय अभियान के समय प्रजा से अतुल धन मिलता था। यज्ञानुष्ठानों पर प्रजा उपहार रूप में राजा को धन देती थी। इस प्रकार के धनागम की संज्ञा प्रीत्यर्थबलि [३४७] थी। महाभारत की मान्यता के अनुसार भूमि की उपज का छटा भाग राजा को बलि के रूप में प्राप्त होता था। अपराधियों को अर्थ दण्ड देने से भी राजकीयआय होती थी। शास्त्रानुसार इस प्रकार धन काआगमन राजा का वेतन समझा जाता था। शान्तिपर्व में उल्लेख है कि जनता कोष रहित राजा कीं अवज्ञा करती है। राजलक्ष्मी राजा को सत्कार प्रदान करती है। उस युग में राजकीय आय के संरक्षण हेतु दो प्रकार के विधान बताये गये थे: पहला-कोष, जिसमें स्वर्ण, रत्न एवं राजकीय मुद्राएं संग्रहित की जाती थीं। दूसरा- कोष्ठागार में विविध प्रकार के वस्त्रों अनाज एवं अन्य सामग्रियों का संग्रह किया जाता था। निश्चित ही कोष्ठागार में अनेक प्रकोष्ठ होते रहे होगें, क्योंकि अन्न वस्त्र तथा अन्य वस्तुयें अलग-अलग रखी जाती रही होगीं।

कोष एवं कोष्ठागार को सदैव परिपूर्ण रखना राजनैतिक दृष्टि से आवश्यक था तथा ऐसा करना राजा का कर्तव्य समझा जाता था। उस समय कोष कोष्ठागार को परिपूर्ण करने के नियम थे महाभारत में उल्लेख है[३४८] कि यदि राजा को कर्म वृद्धि की आवश्यकता पड़े तो एकदम से कर नही बढ़ाना चाहिये वरन् वृद्धि क्रमश: की जानी चाहिये।

---

३४४. रामायण, अरण्यकाण्ड, ६.१४
३४५. महाभारत, सभापर्व, ५.६२
३४६. महाभारत, शांतिपर्व, ६९.२८
३४७. महाभारत, सभापर्व, अ. ४७-४८
३४८. महाभारत,८८.७

अल्पेनाल्पेय देयेन वर्धमानं प्रदापयेत्।
ततो भूयस्ततो भूय: क्रमवृद्धिं समाचरेत्॥

भीष्म ने बछड़े का उदाहरण देते हुये कहा है कि जैसे बछड़े को गाय का समुचित मात्रा में दूध मिलता रहे तो वह बलवान बनता है और बड़ा होकर अधिक भार वहन करने में समर्थ होता है। लेकिन यदि गाय से अधिक दूध दुहकर बछड़े के लिये उचित से कम छोड़ा जाय तो वह दुर्बल और अक्षम हो जाता है।

मधुदोहं दुहेराष्ट्रं भ्रमरान्न प्रपातयेत्।
वत्सापेक्षी दुहेच्चैव स्तनाश्च न विकुट्टयेत्॥

इसी प्रकार राष्ट्र के निवासियों से अधिक कर लेने पर वे निर्बल होने के कारण महान कार्य करने में अक्षम हो जाते हैं। अत: राजा को कर के संबंध में वही नीति अपनानी चाहिये जो बछड़े के संबंध में अपनाई जाती है। महाभारत के शांतिपर्व [३४९] भीष्म द्वारा युधिष्ठिर को उपदेश देते हुये उल्लेख मिलता है कि जिस प्रकार मधुमक्खी या भौंरा पुष्प से पुष्प को बिना क्षति पहुचायें, मधुपान करता है उसी प्रकार राजा को प्रजा से कर लेना चाहिये। गाय का दूध तो दुहा जाता है पर उसके थन नहीं काटे जाते। इसी तरह प्रजा से उचित कर लिया जाये, अधिक कर वसूल कर उसे दुखी न किया जाये। महाभारत[३५०] के अन्य स्थल पर राजा के लिये कहा गया है कि हे राजा तुम माली के समान बनो, कोयला बनाने वाले के समान नहीं। ऐसा करने से तुम दीर्घकाल तक प्रजा का पालन करते हुये राज्य सुख का उपभोग कर सकोगे।

शुक्रनीतिसार[३५१] में भी यही तथ्य उल्लिखित है तात्पर्य यही है कि आय के मूल स्रोत को नष्ट न करके समुचित मात्रा में राजा को उचित समय पर कर ग्रहण करना चाहिये। व्यापारी तथा शिल्पी वर्ग से कर ग्रहण करने के संदर्भ में महाभारत में वर्णन है कि व्यापारियों का पण्य पर कुल कितना खर्च आया है, इस तथ्य को दृष्टिगत रखते हुये कर लगाना चाहिये। शुक्र [३५२] अन्यत्र कहता है - कि सेना और प्रजा रक्षण के निमित्त और यज्ञ करने हेतु कोष संग्रह किया जाना चाहिये। ऐसा कोष राजा के लिये इस लोक तथा परलोक में सुखदायी होता है। भोगविलास के लिये संग्रहित कर दुख का कारण बन जाता है। राजा को तीर्थ स्थानों से आपातकाल को छोड़कर कभी कर नहीं लेना चाहिये। राजा शत्रुओं को नष्ट करने के लिये सेना का संग्रह करे, तब उस समय वह विशिष्ट दण्ड,

---

३४९. महाभारत, शान्तिपर्व, ८८.४

३५०. महाभारत, शान्तिपर्व, ७१.२०

३५१. शुक्रनीतिसार, ४.११३

३५२. शुक्रनीतिसार, ४.११७-३४

शुल्क आदि बढ़ाकर प्रजा से धन संग्रह कर सकता है। यदि राजा पर आपत्ति आवे तो वह धनवानों से ब्याज पर धन ले सकता है। यदि आपात काल को छोड़कर राजा कर बढ़ा देता है या प्रजा के धन का शोषण करता है तो प्रजा, राज्य, कोष और राजा नष्ट हो जाते हैं। राजा को बुद्धिबल से कोष आदि की वृद्धि का उपाय करना चाहिये। जिस प्रकार माली अनुपयोगी वृक्षों को काटकर उपयोगी वृक्षों को रखता है उसी तरह राजा को अपनी प्रजा की रक्षा करके और शत्रु का करदायी बनाकर अपने कोष को भरता है, वही उत्तम होता है।

कामन्दक[३५३] के अनुसार कोष बहुत ग्रहण वाला (जिसमें बहुत सा धन आये) थोड़े खर्च वाला, धन से प्राप्त किया हुआ, मनचाहे द्रव्यों से भरापूरा, और सज्जनों से सेवित होना चाहिये। कोषाध्यक्ष को चाहिये कि कोष मोती, सोना और रत्नों से भरा हो, ताकि कैसा भी व्यय आ पड़े उसे कोष सह सके। कोषाध्यक्ष को धर्म और अर्थ के निमित्त, भ्रत्यों के भरण पोषण और आपत्ति के निमित्त कोष की रक्षा करनी चाहिये। कोष का मूल राजा है अत: सार्वजनिक कल्याण के कार्य करने चाहिये। लोक में लक्ष्मी ही वंश है अर्थात धन के बिना जीवन संभव नहीं हैं, जिस राजा के पास कोष है उसे प्रजा चाहती है। राजा को कृषि, व्यापार खान आदि से आय स्वच्छ वृत्ति से बढ़ानी चाहिये। तथा राजा को धर्म, अर्थ और काम की वृत्ति के लिये समय पर प्रजा से धन ग्रहण करना चाहिये।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी राजकीय आय से संबंधित वृहत् वर्णन मिलते हैं। 'कोषामिसंहरणम्' अंश में उल्लिखित अंश के अनुसार बड़े या छोटे जनपदों में से अन्न का तृतीय या चतुर्मांश कर के रूप में लिया जाना चाहिये। धान्यों का चौथा भाग, और वन में होने वाले अन्न, रूई, लाख, जूट, छाल, कपास, ऊन, रेशम, औषधि, गंध, पुष्प, फल, शाक, लकड़ी, बांस, सूखा मांस आदि का छठा भाग राजकर के रूप में वसूल किया जाना चाहिये। हाथीदांत, गाय आदि के चमड़े आदि का अर्ध भाग राजकर के रूप में लिये जाने का विधान कौटिल्य ने बताया है। सोना, चाँदी, हीरा, मणि, मोती, मूंगा, घोड़े और हाथी आदि व्यापारिक वस्तुओं पर उनके खर्च का ५०वाँ भाग सूत, कपड़ा, तांबा, पीतल, कांसा, गंध, जड़ी-बूटी और मदिरा पर ४०वाँ भाग, गेहूँ, धान आदि अनाज, तेल,घी, लोहा और बैलगाड़ियों पर ३०वाँ भाग, कांच के व्यापारी तथा बड़े-बड़े कारीगरों पर २०वाँ भाग, छोटे-छोटे कारीगरों तथा दुश्चरित्रा नारियों को घर में रखने वालों से १/१० भाग तथा लकड़ी, बांस, पत्थर, मिट्टी के बर्तन, पकवान तथा हरे शाक आदि पर १/५ भाग कर लेने का विवरण मिलते हैं।

---

३५३. कामन्दकीय नीतिसार, ४:६२-६४, १३:३३-३६, ५:६१-८८

विशेष स्थिति में जैसे राज्य पर आकस्मिक आपदा पड़ने पर राज्य, जनता से धन प्रदान करने के लिये याचना करता था। अर्थशास्त्र में इस प्रकार की याचना को प्रणय तथा महाभारत में प्रार्थना की संज्ञा दी गई है। कौटिल्य के अनुसार - विपत्ति पड़ने पर राजा को चाहिये कि वह धर्नाजन के लिये जनता के अंधविश्वासों का उपयोग करे जैसे अपने गुप्तचरों द्वारा देवालयों की स्थापना कर वहां, भेंट चढ़ाने के लिये निवासियों को प्रेरित करे। लोगों को किसी कूप में दूर से ऐसा सर्प दिखावें जिसके बहुत से सिर हो, उद्यान में वृक्षों पर असमय फल फूलों का आना दिखाकर जनता से धन प्राप्त करें।[३५४] परिस्थिति के अनुसार नियमित कर में पूर्ण या आंशिक छूट देने के उल्लेख कौटिल्य[३५५] के अर्थशास्त्र में मिलते हैं। उदाहरण यदि कोई व्यक्ति अपने उद्योग से बेकार भूमि को कृषि योग्य बनावे या सरोवर आदि का निर्माण करके सिंचाई द्वारा भूमि की उत्पादन शक्ति में वृद्धि करे तो शासन उससे नाममात्र का कर लेकर भूमि दे और धीरे धीरे उसे बढ़ाकर ४-५ वर्षों में सामान्य स्तर तक लावे। कौटिल्य[३५६] के अनुसार राजा को चाहिये कि वह कृषकों को बीज, पशु एवं धन पहले से दे दे, जिसे कृषक सरलतापूर्वक कई भागों में लौटा सकते हों। इस प्रकार की कृपा को 'अनुग्रह' की संज्ञा दी गई है। राजा को इस प्रकार अनुग्रह एवं परिहार (छूट) करना चाहिये जिससे कोष में वृद्धि हो।

अर्थशास्त्र में चुंगी के रूप में लिये जाने वाले शुल्क का विशद उल्लेख मिलता है। इस विवरण के अनुसार - शुल्काध्यक्ष नगर के मुख्य द्वार के निकट या दक्षिण में शुल्कशाला का निर्माण कराये। इस भवन पर पताका लगी हो। शुल्क ग्रहण करने वाले ४ या ५ व्यक्ति विक्रय हेतु आए हुये माल के व्यापारियों से पूंछकर यह लिखें - आप कौन हैं, कहां के रहने वाले हैं, कितना माल आपके पास है, आपने अभिज्ञान मुद्रा कहा से प्राप्त की थी।[३५७] यदि सामान पर मुहर न लगी हो तो दुगना शुल्क लिया जाए और यदि कूट मुहर (जाली मुहर) लगी हो तो आठ गुना। जिसकी मुहर टूट गई हो उस सामान को शुल्क शाला में पड़े रहने का दण्ड दिया जाये।[३५८] अर्थशास्त्र में चुंगी के अतिरिक्त उत्पादन कर, निस्क्राम्य कर (निर्यात कर) तथा आयात कर के उल्लेख मिलते हैं। विविध व्यवसायों पर राज्य का सीधा नियंत्रण रहता था। नमक, मदिरा, खनिज द्रव्य तथा वनों आदि पर राज्य का अधिकार होता था।[३५९]

---

३५४. कौटिल्य अर्थशास्त्र, ५.२

३५५. कौटिल्य अर्थशास्त्र, ४.९

३५६. कौटिल्य अर्थशास्त्र, २.१

३५७. कौटिल्य अर्थशास्त्र, २.२१

३५८. कौटिल्य अर्थशास्त्र, २.२१

३५९. कौटिल्य अर्थशास्त्र, २.२२

प्राचीन भारतीय साहित्यिक विवरणों में राजकीय आय संबंधी विवेचन मिलते हैं। इन ग्रंथों के अनुसार राजकीय आय के प्रमुख साधन निम्न थे।

१. उपज पर राजा का भाग

२. चुंङ्गी

३. दण्ड से प्राप्त धन

मनुस्मृति, गौतम, विष्णु धर्मसूत्र, मानसोल्लास, आदि ग्रंथों में भूमि की उपज के क्रमशः १/६, १/८, १/१० तथा १/१२ भाग का अधिकारी बताया गया है। बृहस्पति एवं विष्णु धर्मोत्तरपुराण में इन करों के उगाहने की दशाओं का वर्णन किया गया है। राजा 'शूक धान्य' (जौ गेहूं) का १/६ भाग, शिम्बोधान्य (ऐसे धान्य जिनके बीच में बीज हो या बीज कोष) का १/८ भाग, वर्षों से न जोते गये खेत से उत्पन्न अन्न का १/१० भाग, वर्षा ऋतु में उत्पन्न अन्न का १/८ भाग एवं वसन्त ऋतु में उत्पन्न अन्न का १/६ भाग लेता है।[३६०] मनुस्मृति (७/१३०), गौतम (१०/२५), विष्णु धर्मसूत्र (३/३४), मानसोल्लास (२/३) आदि में इस तरह का वर्णन है।[३६१]

मनु स्मृति के अनुसार जिस प्रकार जोंक, बछड़ा और मधुमख्खी थोड़े थोड़े अपने अपने खाद्य (क्रमशः) रक्त, दूध और मधु को ग्रहण करता है; उसी प्रकार राजा को प्रजा से थोड़ थोड़ा वार्षिक कर ग्रहण करना चाहिये। एक अन्य स्थान पर यह कहा गया है कि राजा को कर न लेने से अपनी जड़ तथा अत्यधिक कर लेने से प्रजा की जड़ नहीं कटनी चाहिये।[३६२] मनुस्मृति में ही एक स्थान पर कर को राजां का वेतन कहा गया है।[३६३] स्मृतियों में ही विभिन्न प्रकार के साधनों में पहला बलि था। राजकोष के लिये बलि प्रजा से कर रूप में जो धन धान्य या आवश्यक सामग्री प्राप्त की जाती थी, उसे प्राचीन भारत में बलि कहा जाता था। मनु के अनुसार प्रत्येक राजा बलि का अधिकारी नहीं होता; केवल वही राजा इसका अधिकारी है जो इससे प्राप्त धन या सामग्री का प्रजा रक्षण में ही सदुपयोग करता था। जो राजा निर्दोष प्रजा की दुष्टों से रक्षा न कर छठे भाग के रूप में बलि भाग लेता है, वह राजा सब लोगों के सब पापों का ग्रहण करने वाला होता है।[३६४] दूसरा शुल्क - यह बाजार या हाट में व्यापारियों द्वारा विक्री के लिये लायी गई वस्तुओं पर लगाया जाता था। इस विषय में मनु ने कहा है कि व्यापारियों को जो लाभ हो उसका २०वाँ भाग राजा को शुल्क के रूप में मिलना

---

३६०. काणे पी. वी. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग २, अनुवादक अर्जुन चौबे, काशयप पृष्ठ ६७१

३६१. काणे पी. वी. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग २, अनुवादक अर्जुन चौबे, काशयप पृष्ठ ६७२

३६२. मनुस्मृति, ७:१२९ व १३९

३६३. मनुस्मृति, ८:३०८

३६४. मनुस्मृति, ८:३९८

चाहिये।[३६५] तीसरा दण्ड् कर- इसका अर्थ दण्ड या जुर्माने से है। राजा को चाहिये कि वह व्यक्ति के दोष और उसकी सामर्थ्य को देखकर अर्थदण्ड दे। और इस प्रकार से प्राप्त होने वाले धन का राजकोष में संचय होना चाहिये।

ब्राह्मण ग्रंथों में भी राजकीय आय के दो रूप सामने आते हैं। (१) कर (बलि) और (२) युद्ध। इस युग में प्रजा से कर लेना राजा की आय का मुख्य स्रोत था। वैदिक युग में तो प्रजा राजा को स्वेच्छा से कर देती थी। जिसको बलि नाम दिया गया। बाद के कालों में राजा के लिये कर देना अनिवार्य हो गया और उसे राज्यकर के रूप में नियमित रूप से लिया जाने लगा। कर को एकत्रित करने जिस कर्मचारी की नियुक्ति की जाती थी उसे 'भागधुक' कहा जाता था। राज्यभिषेक के समय राजा को विषयत्ता कहा गया था।[३६६] जिसका अभिप्राय है राजा नियमित रूप से प्रजा से कर लेता था।[३६७]

राज्य की आय का दूसरा स्रोत युद्ध था। प्राय: परम्परा थी कि राज्याभिषेक के अनन्तर राजा विजययात्राएँ करते थे, अन्य राज्यों को जीतने कि साथ इनको प्रचुर मात्रा में वन सम्पत्ति की प्राप्ति होती थी। इस विस्तृत राशि में से विस्तृत धनराशि पुरोहितों को दक्षिणा के रूप में दी जाती थी।[३६८] इस प्रकार के उदाहरण ब्राह्मण ग्रंथों में मिलते हैं, जबकि राजाओं ने युद्धों द्वारा पृथ्वी को जीतकर प्रभूत धन-सम्पत्ति एकत्रित की, और जीते हुये धन का विशाल भाग पुरोहितों को दान में दिया। राजा 'अंग' ने पृथ्वी पर विजय प्राप्त करके अपने पुरोहित 'उदमय' को दस हजार हाथी तथा अनेक देशों से एकत्रित की गई आभूषणों से विभूषित दस सहस्र दासियां दान दी गई।[३६९] दुश्यन्त के पुत्र ने भी पृथ्वी को जीतकर विजय में प्राप्त प्रसूत धन दान किया था।[३७०] इस काल में यह भी परम्परा थी कि युद्धों में जीते गये धन के चौथाई भाग के अधिकारी सैनिक होते थे, तथा शेष तीन चौथाई भाग का अधिकारी राजा होता था।[३७१]

सातवाहन शासक व्यवस्था में भी राजकीय आय का मुख्य स्रोत कर व्यवस्था थी। सातवाहन कर व्यवस्था की जानकारी उनके दानपत्रों में वर्णित कई अंशों के अध्ययन से मिलती है। राजा की अपनी भूसम्पत्ति होती थी। व्यक्तिगत भू-स्वामित्व विद्यमान था। यदि राजा किसी की

---

३६५. मनुस्मृति, ७:६३,६५

३६६. ऐतरेय ब्राह्मण, ३८.१ तथा ३९.३

३६७. कोषितिकी ब्राह्मण, ४.१२ तथा ऐ. ब्रा. २५.८

३६८. ऐतरेय ब्राह्मण, ३९.८-९

३६९. ऐतरेय ब्राह्मण, ३९.८

३७०. ऐतरेय ब्राह्मण, ३९.९

३७१. ऐतरेय ब्राह्मण, ९.१

व्यक्तिगत भूमि दान करना चाहता था तो पहले उसके स्वामी को उसका समुचित मूल्य देकर खरीदना पड़ता था। धर्मशास्त्रों द्वारा विहित भूमि की उपज का १/६ भाग राजा कर के रूप में प्राप्त करता था। गौतमी पुत्र सातकर्णि के एक लेख में उसे धर्मानुकूल कर ग्रहण करने वाला कहा गया है। दानपत्रों में परिहारों की जो सूची मिलती है उससे आभास होता है कि नमक पर राज्य का एकाधिकार था। सातवाहन युग आन्तरिक उद्योग एवं व्यापरिक वस्तुओं के नियति का स्वर्ण युग था। अत: चुंगी द्वारा राजकीय आय एवं नियति से प्राप्त लाभ पर राजा का भाग रहा होगा।

गुप्तकाल के राजकीय आय संबंधी सर्वोच्च अधिकारी 'भाण्डागाराधिकृत्' कहे जाते थे। राष्ट्र का भूमिकर संबंधी सर्वोच्च अधिकारी 'ध्रुवाधिकरण' कहलाता था। प्रमाता नामक राजकीय कर्मचारी का कार्य खेतों की माप करना था। अक्षपटलिक, महाक्षपटलिक और करणिक नामक अधिकारी भूमिकर संबंधी लेखों को संग्रहीत करते थे। भूमिकर प्राय: अन्न के रूप में १/६ से १/४ भाग तक देना पड़ता था। बंजर भूमि, वनों तथा खानों से गुप्त सम्राटों का आय प्राप्त होती थी। भूमिकर को 'भागकर' तथा उद्रंग कहा जाता था। चीनी यात्री फाह्यान के अनुसार जो लोग राजकीय भूमि जोतते थे उन्हें भूमि से उत्पन्न अन्न का एक अंश देना पड़ता था। कारीगरों तथा व्यापारियों को भी कर देना पड़ता था। उस समय राजा दुखी, असहाय जनों की सहायता एवं कलाकारों को आश्रय देने में राजा प्रचुर धन व्यय करता होगा।

राष्ट्रकूट[३७२] शासन की आय का प्रमुख स्रोत भूमिकर था। अभिलेखों में इसके लिये उद्रंग एवं 'भागकर, शब्द आये हैं। राष्ट्रकूट राजा कृष्ण तृतीय के ताम्रपत्रों में उल्लेख है कि उद्रंगकर एक वर्ष के अंदर तीन बार वसूल किया जाता था। इन्हें क्रमश: भाद्रमास, कार्तिक, एवं माघमास में लिया जाता था। मंदिरों एवं ब्राह्मणों के निमित्त दिये गये भूमिदान या तो कर मुक्त थे या कर में छूट दी जाती थी। राजस्व के अन्य स्रोतों मे अधीनस्थ शासकों एवं सामन्तों द्वारा दिये जाने वाले कर, कतिपय आकस्मिक कर, अर्थदण्ड के रूप में प्राप्त धन,राजकीय सम्पत्ति जैसे - वनों एवं खानों से प्राप्त कर सम्मिलत थें। नियमित कर न देने पर संबंधित व्यक्ति की भूमि शासन द्वारा अधिगृहीत कर ली जाती थी। राष्ट्रकूट राजाओं को अपने साम्राज्य की रक्षा तथा विस्तार के लिये अतुल धन की आवश्यकता पड़ती रही होगी इसके लिये प्रजा पर कर भार अधिक हो जाता था।

वैदिक काल में भी राजकीय आय के स्रोत कर एवं युद्ध बताये गये हैं। ऋग्वेद में एक स्थान पर कहा गया है -

ध्रुवं ध्रुवेण हविषाऽभि सोमं मृशामसि।
अथो त इंद्र: केवली र्विशो बलिहृतस्करत्॥[३७३]

---

३७२. अल्तेकर अनंद सदाशिव, राष्ट्रकूटाज़ एण्ड देयर टाईम्स पृष्ठ २५१

३७३. ऋग्वेद, १०.१७३, ६

कि राजा कर लेने का एकमात्र अधिकारी था। इससे यह ज्ञात होता है कि इस समय तक यह निश्चित हो चुका था कि राजा को प्रजा से कर लेने का नियमित रूप से अधिकार है। कर लेने का अधिकार राजा के अतिरिक्त किसी को प्राप्त नहीं था। अन्यत्र कहा गया है[३७४] कि राजा का कर्तव्य है कि वह राष्ट्र में अन्न और धन की व्यवस्था इतनी उत्तम रखे कि सभी प्रजाऐं सुखी और आनंदित रहे।[३७५] परंतु प्रजा का भी कर्तव्य था कि वह राजा का उचित भाग उसे प्रदान करे।[३७६] एक स्थान पर कहा गया है कि उत्तम मार्ग से कमाया गया धन ही समृद्धि का कारण है अत: राजा को भी उत्तम मार्ग से ही धन प्राप्त करना चाहिये।

ऋग्वेद के अनुसार [३७७] सूर्य की किरणें पृथ्वी पर आकर सभी पदार्थों को पुष्ट बनाती हैं और यज्ञ को समृद्ध करती हैं ये सब पर शासन करती हैं तथा सूर्य इन किरणों के द्वारा जल को चुराता है जिसे न कोई देख सकता है। उसी प्रकार राजा भी पृथ्वी पर शासन करता है तथा पालन करता है तथा वह समस्त प्रजाओं से कर उसी प्रकार ग्रहण करे जिससे प्रजा को कर ग्रहण करने का आभास ही न हो अर्थात उन पर अत्याचार न करे। चूंकि राजा प्रजा का पालन करता है, इसीलिए प्रजा को चाहिए कि वह अपने संरक्षण के लिए अपने अर्जित धन से राजा को योग्य कर देवे।जो प्रजा आर्थिक दृष्टि से शसक्त होने पर भी कर नहीं देती,तो राजा को उससे जबरदस्ती कर प्राप्त करना चाहिए।

यो देह्योअनमयद् वधस्नै र्यो अर्यपत्नीरूषमश्चकार।[३७८]

स निरूध्या नहुषो मह्वो अग्नि र्विशश्चके बलिहत:सहोभि:॥

[३७९]यजुर्वेद में भी कहा गया है 'इन्द्राय भागं श्रेष्ठतमाय कर्मणेआप्यायध्वं' अर्थात अपने नरेन्द्र को आय का भाग श्रेष्ठ कर्म करने के लिए बढ़ाकर उसे दो। जो मनुष्यों के शत्रुओं का विनाश करता है वह इन्द्र है। प्रजा द्वारा आय का उचित भाग देने से राजा उनका कल्याण करेगा। इससे दोनों को प्रगति का मार्ग प्राप्त होगा। यजुर्वेद[३८०] में ही अन्यत्र राजा द्वारा भूमि से कर वसूलने का विवरण प्राप्त होता है।[३८१] एक स्थान पर राजा को करों का ग्रहण करने वाला होने के कारण आदित्य कहा गया है।

---

३७४. ऋग्वेद, १.५४.११

३७५. ऋग्वेद, १.१७०.३

३७६. ऋग्वेद, ३.५२.१०

३७७. ऋग्वेद, ४.४४.४

३७८. ऋग्वेद, ७.६.५

३७९. यजुर्वेद, १.१

३८०. यजुर्वेद, २३.२२

३८१. यजुर्वेद, ३९.६

अथर्ववेद में भी राजा द्वारा प्रजा से कर ग्रहण करने का विवरण प्राप्त होता है। कर आय का सोलहवां भाग लियां जाता था।[३८२] कर का निश्चय प्रजा और प्रजा के प्रतिनिधि करते थे। कर यथा समय दे देने पर स्वर्ग प्राप्त होता है। इस प्रकार के भाव भी जनता में फैलाये जाते थे ।[३८३] जनता स्वेच्छा से कर देती थी । राजा उस कर को रक्षार्थ स्वीकार करता था ।[३८४] कर राज्य की रक्षा के लिए था,इसीलिए सजात अर्थात् राजपरिवार से सम्बद्ध लोगों को भी देना पड़ता था ।[३८५]

राज्य की आय के विविध साधन थे । राजा विविध प्रकार के कर लगाता था । अत: उन्हें बहुधा विरूपा: कहा गया है। विरूपा: का अभिप्राय है-अनेक प्रकार के कर । ये अनेक प्रकार के कर सामान्य कर,विशेषकर,सुखद कष्टकारी और कष्टसाध्य आदि होते थे । [३८६]

अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि नदी से भी आर्थिक लाभ उठाया जाता था ।[३८७] यह कर सम्भवत: नावों,नावों पर बैठकर पार जाने वाले यात्रियों से लिया जाता था ।अथर्ववेद में घी, दूध, जल का भी आय के साधनों में उल्लेख है।[३८८] इससे ज्ञात होता है कि घी की बिक्री पर भी ग्वालों से कुछ कर लिया जाता था। नदी और नालों से आय का अभिप्राय यह हैकि सिंचाई के लिए नदी,नहर,नालों से जो पानी लेते थे उन्हें कर देना पड़ता था।

कर का उपयोग विविध कार्यों में होता था। उनमें से कुछ कार्यों का उल्लेख पाया जाता है। अवि-जनता के पालन के लिए, शितिपाद-आक्रमणकारियों से रक्षा के लिए, स्वधा राज्य के संचालन के लिए ।

यद्राजानो विभजन्त इष्टापूर्तस्य षोडशं यमस्यामी सभासद:

अविस्तस्मात्प्र मुञ्चति दत्त: शितिपात्स्वधा ।[३८९]

कर पंचजनों की रक्षा के लिए था ।[३९०] सबल निर्बलों को न सता सके,ऐसी व्यवस्था के लिए कर था ।[३९१] कर के अन्य ये उपयोग बताये हैं-प्रजा की सभी कामनाओं की पूर्ति के लिए,राज्य के

---

३८२. अथर्ववेद, ३.२९.१
३८३. अथर्ववेद, ३.२९.३
३८४. अथर्ववेद, ३.२९.७
३८५. अथर्ववेद, ११.१.६
३८६. अथर्ववेद, ३.४.७
३८७. अथर्ववेद,१.१५.३
३८८. अथर्ववेद,१.१५.४
३८९. अथर्ववेद,३.२९.१
३९०. अथर्ववेद,३.२९.४
३९१. अथर्ववेद,३.२९.३

विस्तार के लिए,प्रभुत्व और सत्ता के विस्तार के लिए और अभीष्ट लाभ के लिए।[३९२] कर का दुरूपयोग न हो, इसके लिए चेतावनी दी गई है कि यदि कर का दुरूपयोग होगा,तो राजा अपने प्राणों,अपनी आत्मा और अपनी प्रजा का विरोध करेगा।

भूमिष्ट्वा प्रति गृह्वात्वन्तरिक्षमिदं महत्।
माहं प्राणेन् मात्मना मा प्रजया प्रतिगृह्य वि राधिषि॥[३९३]

अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि ब्राह्मणों से कर नहीं लिया जाता था।[३९४] यदि कोई कर लेना चाहता तो वह पापी समझा जाता था। इस प्रकार सम्पूर्ण प्राचीन भारत में आर्थिक व्यवस्था के मूल तत्व वेदों से ही उद्भूत हुये है।

अन्य कर्तव्य -

उपर्युक्त कर्तव्यों के अतिरिक्त राजा के कुछ अन्य कर्तव्य भी थे मनु के अनुसार राजा विद्या और संस्कृति को प्रोत्साहन देता था। उसका यह भी कर्तव्य था कि वह शासन, दर्शन व अध्यात्म संबंधी शास्त्रों का वेदों तथा न्याय शास्त्रों के विद्ववानों से अध्ययन करता रहे। मनु ने षाड्गुण्य पर भी विचार प्रकट किये हैं[३९५] ये छः गुण संधि विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव, संश्रय हैं। राजा को उचित प्रकार से इनका पालन करना चाहिये। मनु ने राजा की सेना के भी छः प्रकार बताये है। तथा मनु ने व्यूह रचना, समतल भूमि युद्ध, के प्रकार, सैनिकों का उत्साहवर्धन व परीक्षण, परराष्ट्र पीड़न, तडागादि भेदन, शत्रु की प्रकृतियों का भेदन, समादि उपायों से विजय प्राप्त करने पर भी विचार व्यक्त किये है।[३९६]

राजा का एक अन्य महत्वपूर्ण कार्य था सार्वजनिक कल्याण। जनता का योग क्षेम राजा का धर्म माना गया है। सार्वजनिक स्थानों एवं वस्तुओं की रक्षा हेतु सचेष्ट रहना, सार्वजनिक समारोहों उत्सवों का आयोजन करना जिनके भरण पोषण का अन्य कोई साधन नहीं था उन अनाथ और असहाय प्राणियों की रक्षा का उत्तरदायित्व उस पर ही था। महाभारतकार एवं कौटिल्य दोनों विधवा, दीन दुःखी एवं दुर्बल तथा स्वामी रहित पशुओं का आश्रयदाता एकमात्र राजा को ही बताते है। शांतिपर्व[३९७] में कहा गया है कि राजा ऐसे व्यक्तियों को भोजन एवं वस्त्र द्वारा सहायता प्रदान करे।

---

३९२. अथर्ववेद,३.२९.२

३९३. अथर्ववेद,३.२९.८

३९४. अथर्ववेद,५.१९.३

३९५. मनुस्मृति, ७.१६०

३९६. मनुस्मृति, ७.१८७-१९९

३९७. शांतिपर्व, ८७.२५

नित्य उद्योगशील बनकर व्यवहारिक तथा राजनीतिक कार्यों को भलीभांति करे। क्योंकि नीति पर चलने से ही उसकी उन्नति संभव है एवं उसे ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है और समस्त विघ्न बाधाएँ दूर हो जाती है राजा को चाहिये कि वह प्रजा सुशिक्षित ओर समृद्ध बनाने का हर संभव प्रयास करे वह प्रजानुरंजक बने, वह अधर्म आचरण अनर्थकारी व्यवहार एवं अनाचरण से स्वयं दूर रहे प्रजा को भी दूर रखे, वह स्वयं तथा अपनी प्रजा को त्रिवर्ग को संतुलित उपयोग करने का प्रोत्साहन दे राजा का कर्तव्य है कि वह ज्ञानी ब्राह्मण सन्यासी तथा इसी प्रकार के निर्भीक निष्काम व्यक्तियों के उच्च परामर्श एवं आदेश का आदर करे।

महाभारत में कहा गया है कि मद्य, मांस, वेश्या आदि के व्यसनों पर भली भांति नियंत्रण करने की व्यवस्था करनी चाहिये, क्योंकि मनुष्य कामासक्त होने पर उचित, अनुचित का विचार नहीं करता।[३९८] इस प्रकार धर्म , राजनीति, न्याय अर्थव्यवस्था, प्रशासन, जन कल्याण आदि विभिन्न क्षेत्रों में राजा द्वारा अनेक कार्य किये जाते थे। एक श्रेष्ठ राजा वही समझा जाता था जो अपने कर्तव्यों का समुचित रूप से पालन करते हुये प्रजा को सुख समृद्धि प्रदान करे।

रामायण में भी कहा गया है कि राजाओं को पवित्र होना चाहिये, उन्हें वृद्धों, विद्वानों और चरित्रवानों का आदर करना चाहिये, राजाओं को अनुशासित रहना चाहिये तथा राजा स्वयं व्यसनों व दुष्प्रवृत्तियों से स्वयं दूर रहे एवं प्रजा को दूर रखे। संक्षेप में उन्हें अपनी प्रजा को संतुष्ट, सुदृढ, समृद्ध और सुखी बनाना चाहिये।

मेंगस्थनीज ने गुप्तकाल के राजाओं को कार्य करते देखा था। उसने लिखा है कि राजा दिन में नहीं सोता था राजा आन्तरिक तथा बाह्य दोनों रूपों में राज्य की रक्षा करते थे। संभवतः यही कारण था कि इन राजाओं का प्रभाव न केवल भारत वरन् सिंहल तथा अन्य दीपों तक विस्तृत था। स्वयं को देव कहने वाले राजा धर्मशास्त्रों के आदेशों का पालन करते थे। राजा उस समय निरंकुश नहीं थे प्रजा का उन पर अंकुश रहा होगा। शासन सेना एवं न्याय से संबंधित कार्य राजा में केन्द्रित थे, तथापि राजा अपने अधिकारों से समाज को व्यवस्थित करने की चेष्टा करते थे। राज्य के समस्त महत्वपूर्ण अधिकारियों की नियुक्ति सम्राट स्वयं करता था।

कामन्दक ने भी राजा के कर्तव्यों को इस प्रकार बताया है - कि उसे निरंतर राज्य के सातो अंगो के लाभ का प्रयत्न करना चाहिये। राजा के चार मुख्य कर्तव्य ये हैं - न्याय द्वारा धन उपार्जन, उसकी रक्षा, उसे बढ़ाना और सत्पात्र में उसका निक्षेप। राजा को चाहिये कि वह प्रथम अपने को विनय, सम्पन्न करे, फिर मंत्री, फिर भृत्य, फिर पुत्र और उसके बाद प्रजा को सम्पन्न करे। पालन में तत्पर राजा महालक्ष्मी को प्राप्त करता है।[३९९] राजा को सदा प्रजा में अनुरक्त और प्रजा - पालन में तत्पर

---

३९८. महाभारत, शांतिपर्व, ८९-१३,१४,१८

३९९. कामन्दकीय नीतिसार, १.१७-२४

सदैव वर्णाश्रम धर्म का पालन करना चाहिये; जो राजा चारों वर्ण और चारों आश्रमों को अपनी विद्या में प्रतिष्ठित देखंता है वही राजा अंश का भागी होता है। और वही राजा त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) वृद्धि को प्राप्त हाता है। जो इसके विपरीत शासन करता है उससे देश के तो क्या वन के लोग भी कुपित होते हैं।[४००] राजा को अन्य अधिकारियों की नियुक्ति सोच विचार कर करनी चाहिये। राजा को सभी प्राणियों को अजीविका देने की व्यवस्था करनी चाहिये, जो राजा ऐसा नहीं कर पाता उसको सब व्यक्ति इस प्रकार छोड़कर चले जाते हैं। जिस प्रकार पक्षी सूखे पेड़ को त्यागकर चले जाते हैं।[४०१]

शुक्र[४०२] ने भी राजा के अन्य कर्तव्यों के विषय में कहा है कि राजा को दुष्टों को दण्ड, प्रजा का पालन, राजसूय यज्ञों का पालन, न्याय से कोष बढ़ाना, राजाओं को कर दाता बनाना, शत्रुओं का मर्दन, दान देना और भूमि का विस्तार बढ़ाना चाहिये तथा राजा को मित्र, भ्राता, पुत्र, बंधु, सभासद आदि के विषय में सदा ही चिंतन करना चाहिये।

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में राजा की दिनचर्या का वर्णन करते हुये उसके अन्य कर्तव्यों के विषय में विस्तृत विवरण दिया है। दिन और रात का समय आठ आठ भागों में विभाजित कर लगभग डेढ़ डेढ़ घंटे की अवधि में राजा के अनेक कार्यों का विवरण अर्थशास्त्र में वर्णित है इसमें संगीत की ध्वनि के साथ सोकर उठना, धर्म के आदेशों (शास्त्रम्) तथा आगामी दिनों के कार्यों पर विचार करना, नीति सम्मत योजनाएँ निर्धारित करना, तथा गुप्तचरों को तदनुसार भेजना, पुरोहित, राजगुरु आदि का आर्शीवाद प्राप्त करना (स्वस्त्यापन्), चिकित्सक, पाकशाला के पदाधिकारियों एवं ज्योतिषों से भेंट, राजदरबार में बैठकर सैनिक एवं वित्तीय परामर्शदाताओं के विचार सुनना, प्रजाजनों से राजदरबार मे मिलना, भोजन, धर्मग्रन्थों का अध्ययन, मंत्रीपरिषद् से मंत्रणा, सैन्य व्यवस्था निरीक्षण, मनोरंजन आदि भी सम्मिलत हैं।[४०३]

वैदिक काल में भी राजा द्वारा अन्य महत्वपूर्ण कार्य किये जाते थे। राजा से यह आशा की जाती थी कि प्रशासन धार्मिक कानूनों व प्रथाओं के अनुसार हो। शासन का उद्देश्य प्रजा का हित करना था। उस काल के विचारों के अनुसार आवश्यक था कि वह समुदाय के कल्याण में सक्रिय सहयोग दे। जब राष्ट्र का विचार विकसित हुआ तो उसने प्रजा के आर्थिक व सामाजिक आवश्यक्ताओं पर बल दिया और राजा को इन्हें पूरा करने के लिये सभी प्रकार का प्रयत्न करना पड़ता था। उसके कार्य पुलिस कार्यों तक सीमित नहीं थे, परंतु उसे कृषि कल्याण और प्रजा के लिये जीवकोपार्जन के साधनो को भी देखना होता था। यजुर्वेद में एक मंत्र से यह स्पष्ट हो जाता है

इयं ते राट्! यन्तासि यमनो ध्रुवो असि धरूणः।
कृषै त्वा क्षेमाय त्वा रय्ये त्वा पोषाय त्वा॥

---

४००. कामन्दकीय नीतिसार, २.१० व ३८

४०१. कामन्दकीय नीतिसार, ५.५९ और ८१

४०२. शुक्रनीतिसार, १.१२३-२५

४०३. मुखर्जी राधाकुमुद, चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल, पृष्ठ ७५-७६

इसी प्रकार ऋग्वेद में राजा के अन्य कर्तव्यों के अन्तर्गत कहा गया है। हर राष्ट्र के राजा का यह कर्तव्य है कि अपने राष्ट्र में कंजूस, धूर्त, हिंसको को न रहने दे। राष्ट्र में शान्ति रखे।[४०४] राजा हमेशा उत्तम यश वालों की सहायता करे तथा कुटिल गति वाले, अतिथियों को कष्ट देने वाले लोगों को मारता है तथा सज्जनों की रक्षा करता है परंतु यदि वे बुरे कर्म में लग जाये तो उन्हें भी दण्डित करता है।[४०५] राजा का कर्तव्य है कि वह इंद्र की तरह भी राष्ट्र में नहरपम्पों आदि के द्वारा जल के प्रवाह की उत्तम व्यवस्था करे और प्रकाश की योजना उत्तम हो।[४०६] राजा को प्राचीनत्व की रक्षा अवश्य करनी चाहिये, क्योंकि प्राचीन प्रथाओं में राष्ट्र की संस्कृति और सभ्यता निहित रहती है।

अस्मा इदु प्रय इव प्रय यंसि भरम्याङ्गषं वाधे सुवृक्ति।
इन्द्राय हृदा मनसा मनीषा प्रत्नाय पत्ये धियो मर्जयन्त ॥[४०७]

मानवों को सुख देने वाला ही सच्चा राजा होता है, वही सर्वशक्तिमान और प्रभावी होता है। जिस प्रकार सूर्य निरलस होकर सब को प्रकाश देता है। वैसे ही नेता आलस्य छोड़कर उन्नति के मार्ग में दत्तचित रहे। जिस प्रकार सूर्य विश्व का मार्गदर्शक है। उसी प्रकार नेता मानवों को मार्ग बताये।[४०८] राजा अपने राष्ट्र में शिक्षा का प्रसार करे और सदा सावधानी से कुशलतापूर्वक कर्म करते हुये विजय प्राप्त करे।[४०९] कुमार्ग पर चलने वालों, दुराचारी, नैतिक नियमों का उल्लंघन करने वालों, असत्य बोलने वालों का राजा द्वारा नाश करना अत्यंत आवश्यक है।[४१०] राजा का एक महत्वपूर्ण कर्तव्य है कि राजा सत्य का संरक्षण करे और अपने बल से शत्रु का नाश करे। वह दुष्ट व्यापारियों का धन छीन ले, तथा लोगों का बल बढ़ावे जिससे वे शत्रु का नाश कर सके।[४११] राष्ट्र के राजा को चाहिये कि वह राष्ट्र में इतनी सुन्दर व्यवस्था करे कि उसके राष्ट्र में हर जगह समृद्धि हो।[४१२] जब राजा अपने अनुयायियों की रक्षा करेगा, तभी वे राजा की प्रशंसा करेगें।[४१३] राजा सज्जनों को कभी कष्ट न दे, इसके विपरीत वह दुष्ट बुद्धिवालों को नष्ट करके अपने संकट से तारने वाली तथा कल्याणकारी शक्तियों से सज्जनों की रक्षा करे।[४१४] जिस प्रकार इंद्र कहीं भी हो वह प्रजा के पास आ जाता है; उसी प्रकार राजा को सर्वत्र राज्य में घूमकर प्रजा और राज्य का निरीक्षण करते रहना चाहिये।

इस प्रकार वैदिक काल में भी मुख्य कर्तव्यों के अलावा राजा के अन्य कर्तव्य भी थे।

□□□

---

४०४. ऋग्वेद, १.३६.१५
४०५. ऋग्वेद, १.५३.१०
४०६. ऋग्वेद, १.५५.६
४०७. ऋग्वेद, १.६१.२
४०८. ऋग्वेद, १.९८.१
४०९. ऋग्वेद, १.१०१.९
४१०. ऋग्वेद, ४.५.५
४११. ऋग्वेद, ६.१३.३-४
४१२. ऋग्वेद, ७.३४.११
४१३. ऋग्वेद, ८.१.८
४१४. ऋग्वेद, ८.६०.७-८

अध्याय -८

राजा की प्रभुता

प्रभुता का अधिवास राजा, संसद या जनता में से किन्हीं में भी हो सकता है, क्योंकि यह राज्य शासन के स्वरूप पर निर्भर करता है। वास्तव में प्रभुता राज्य की विशेषता अथवा उसका विशेष लक्षण है, जो उसे सभी प्रकार के संघों या संगठनों से अलग करता है। इस अध्याय में हम राजतंत्र व्यवस्था के अन्तर्गत राजा की प्रभुता के विभिन्न सिद्धांत, राजा में प्रभुता का समावेश तथा राजा की शक्तियों पर रोक इन विषयों पर विस्तार से अध्ययन करेंगे।

प्रभुता के विभिन्न सिद्धांत -

प्राचीन काल से ही राजा की प्रभुता संबंधी धारणा प्रचलित रही है। वैदिक युग में अंतिम शासनाधिकार राजा व समिति में रहते थे, इसीलिये शासनाधिकारों के वे अंतिम अधिष्ठान माने जा सकते हैं। गणतंत्रों में अंतिम अधिकार केन्द्रीय समिति में केन्द्रित थे। जब समितियों व गणतंत्रों का अस्त हुआ तब राजा सर्वसत्ताधारी बन गया। उसी समय पुरोहित वर्ग राजा की सत्ता को ठोस तथा स्थाई बनाने की आवश्यकता पर बल दे रहा था। राजा के देवत्व संबंधी विचार राजनीतिक धारणाओं को प्रभावित कर रहे थे। अथर्ववेद में राजा के विशेषाधिकारों का वर्णन भी प्राप्त होता है कि राजा ही एकमात्र कर का एकत्रित करने वाला हो, राजा राज्य का मुख्य अध्यक्ष बना रहे, वह प्रजाधन का एक मात्र स्वामी, नेता वा मानवीय शासकों में सर्वश्रेष्ठ बने। इस प्रकार राजा की प्रभुता का विचार विकसित हो रहा था; उसे 'इंद्र सखा' कहा गया है। राजा के विशेषाधिकारों व परमाधिकारों में वृद्धि हो रही थी।

सिद्धांत की दृष्टि से यह माना गया था कि धर्म राजा से परे है, वह उसका अनादर नहीं कर सकता[१] वह उसके अधीन है। अत: धर्म को हम एक दृष्टि शासन सत्ता का सर्वोच्च अधिष्ठान मान सकते हैं। परंतु विचारकों ने यह नहीं बताया है कि धर्म का उल्लंघन करने पर राजा का प्रतिवाद व नियंत्रण कैसे किया जाना चाहिये। इसीलिये धर्म को शासन सत्ता का अंतिम अधिष्ठान समझना उचित नहीं होगा। कुछ विचारकों ने यह भी कहा है कि राजा धर्म के अनुसार बर्ताव नहीं करेगा, तब भी उसे दण्ड नहीं मिलना चाहिये। चूंकि वह दण्ड से परे है।[२] उसके धर्म भंग करने पर उसे केवल परमेश्वर ही स्वर्ग में दण्ड दे सकता है।

प्रभुता के सिद्धांत के विषय में अब हम पाश्चात्य एवं आधुनिक युग के विद्वानों के मतों को जानने का प्रयत्न करेंगे कि किस प्रकार पाश्चात्य एवं आधुनिक जगत में इस सिद्धांत का प्रतिपादन हुआ। अधिकतर विचारक इसे (प्रभुता) राज्य का आवश्यक तत्व मानते हैं। "प्रभुता के सिद्धांत का प्रतिपादन फ्रांसीसी लेखक बोंदा ने सोलहवीं शताब्दी में किया; उसके अनुसार प्रभुता नागरिकों तथा

---

१ शतपथ ब्राह्मण १४.१४

२ शतपथ ब्राह्मण ५.४.७

प्रजाजनों के ऊपर वह सर्वोच्च शक्ति है जो कानून द्वारा सीमित नहीं होती।'' वर्तमान समय में प्रभुता की सबसे मान्य परिभाषा जॉन आस्टिन - की है; - ''यदि किसी समाज के अधिकांश व्यक्ति किसी निश्चित उच्चतर व्यक्ति की आज्ञाओं का स्वभाव से पालन करते हों और वह स्वयं अपने ही जैसे किसी दूसरे उच्चतर व्यक्ति की आज्ञा का पालन न करता हो तो वह निश्चित उच्चतर व्यक्ति उस समाज का प्रभु है और उसके सहित वह समाज एक स्वतंत्र राजनीतिक समाज है। उसके आदेश कानून होते हैं।''[३] आधुनिक विचारकों के अनुसार प्रभुता के मुख्य लक्षण इस प्रकार हैं -

१. यह प्रभु का मौलिक अधिकार होता है, वह इसे किसी से प्राप्त नहीं करता।

२. प्रभुता पर सीमाऐं नहीं होती, यह पूर्ण होती हैं।

३. प्रभुता अविभाज्य होती है।

४. यह अदेय है, राज्य का प्राण है।

५. प्रभुता स्थाई रूप में राज्य में निवास करती है।

स्पैलमेन ने कहा है कि - प्राचीन भारत में यूरोपीय अर्थ में प्रभुता की धारणा न थी। ऐसी राजनीतिक सत्ता की धारणा जो सबके ऊपर प्रधान सत्ता हो और जो विधि की रचियता के रूप में सभी सामाजिक संगठनों के ऊपर वैधता की श्रोत हो, के बारे में प्राचीन भारतीय दार्शिनिकों ने कभी विचार नहीं किया।[४] पाश्चात्य लेखकों ने प्रभुता के और लक्षण बताये है। जैसे - प्राचीन भारत में प्रभुता के विचार का एक अस्तित्व विशेष रूप या अर्थ में अवश्य था। कानूनी प्रभुता उन संस्थाओं में रहती है जो राज्य के सर्वोच्च क़ानून बनाती है। उसके पीछे जनता की प्रभुता होती हैं, क्योकि प्रजातंत्र में अंतिम सत्ता जनता के हांथ में रहती है। इसे ही राजनीतिक या लोकप्रिय प्रभुता कहते है। प्रभुता का अधिवास राजा, संसद या जनता में से किन्ही में भी हो सकता है, क्योंकि यह राज्य शासन के स्वरूप पर निर्भर करता हैं। वास्तव में प्रभुता राज्य की विशेषता अथवा उसका विशेष लक्षण है जो उसे अन्य सभी प्रकार के संघों या संगठनों से अलग करता है। राज्य यर्थाथ में राज्य इसलिये होता है कि वह बल या दण्ड शक्ति का प्रयोग कर सकता है। यदि सामाजिक जीवन से नियंत्रण को (दण्ड) हटा दिया जाये तो राज्य का ही लोप हो जायेगा।

डॉ. सिन्हा ने प्राचीन भारतीय राज्य में प्रभुता ''नामक शोध ग्रंथ में प्रभुता की धारणा का ऐतिहासिक दृष्टि से विस्तार पूर्वक विवेचन किया है, परंतु उसका संक्षिप्त रूप इस प्रकार है - प्राचीन भारतीय विचारक प्रभुता की धारणा से अनभिज्ञ न थे, परंतु इसका स्वरूप और सार आजकल के स्वरूप

---

३ गार्नर जे. डब्लू - पॉलिटिकल साईन्स एण्ड गवर्नमेंट, पृष्ठ १६५.
4 P. Shamshere and M. Mohsin, The Panchayat, A Planned Democracy, Page - 108.

व सार से भिन्न थे। भारतीय आर्य समाज में राजपद साधारणत: निर्वाचित था यद्यपि कालांतर में यह पद अनुवांशिक हो गया। वैदिक काल में सभा और समिति नाम की दो लोकप्रिय संस्थायें भी थी जो राज्य के महत्वपूर्ण मामलों पर विचार करती थी। विशाल राज्यों के उदय के साथ उनके भौतिक साधन बढ़े,राजाओं की सैनिक शक्ति में अपार वृद्धि हुई और समिति और सभा का स्थान क्रमश: राजसभा व मंत्रीपरिषद ने ले लिया। इस प्रकार राजा श्री की शक्तियाँ व प्रतिष्ठा बढ़ती गई और उन्होंने अपनी शक्तियों पर बल देना आरंभ किया। चौथी शताब्दी ई. पू. में मौर्य वंश की स्थापना के परिणामस्वरूप भारत में प्रथम ऐतिहासिक साम्राज्य की स्थापना हुई, जो सर्वोपरिता के लिये संघर्ष का फल था।

प्राचीन भारत में प्रभुता राजा में समाविष्ट थी और शाही प्रभुता राज्य की सत्ता का प्रतीक थी। वैदिक साहित्य में प्रभुता के भारतीय रूपांतर 'क्षत्र और क्षत्रश्री' थे। अर्थशास्त्र में उसके लिये 'स्वामित्व' शब्द का प्रयोग हुआ है। कौटिल्य के मतानुसार - राज्य के सात आवश्यक तत्वों में एक, किंतु प्रथम, तत्व प्रभुता था; वह यथार्थ में प्रभु था और राज्य का चिन्ह भी। स्वामी राज्य का नेता अथवा अध्यक्ष था। उसने राज्य पर शासन करने का एक नया अधिकार (देवी) अर्जित किया। इससे क्षत्रश्री अथवा प्रभुता के सार में बड़ा योग मिला। और गुप्त काल में तो उसने विभिन्न धर्मों का एक दूसरे के प्रति क्या दृष्टिकोण रहे इसे भी विनियमित किया। उसने आदेश दिया कि उनके बीच में पूर्ण समता रहे और सभी धर्मों को सहन किया जाये। साम्राज्य के उदय से करद पद्धति की उत्पत्ति हुई, चक्र अथवा राज्यमण्डल में साम्राट की प्रभुता का अर्थ अधिराज सत्ता हुआ; परंतु उसके अपने राज्य क्षेत्र के भीतर उसकी प्रभुता साम्राज्य में अन्य प्रदेशों से अधिक वास्तविक थी। प्राचीन भारत में प्रभुता का स्वरूप ऐसा था; यह उस राजा के अधिराज सत्ता के समान थी जो चक्रवर्ती था।"[५]

सिन्हा ने अपने दूसरे ग्रंथ में उपर्युक्त मत का समर्थन किया है। उनका कथन है - "गुप्त सम्राट और हर्ष सम्राट शक्तिशाली विजेताऔर कुशल शासक थे। उन्होनें समझा कि धार्मिक असहिष्णुता का सर्वसाधारण के कल्याण से मेल नहीं खाता। इस कारण उन्होनें धार्मिक सहिष्णुता की नीति अपनाई। इसमें उनका धर्म के प्रति दृष्टिकोण समाविष्ट था। अर्थात सार्वजनिक हित व प्रशासन के मामलों में वे अपने धार्मिक संबंधों से विचलित नहीं हुये। यह बात राज्य की धर्म के ऊपर सर्वोपरिता की सबसे अधिक स्पष्ट अभिव्यक्ति थी। यथार्थ प्रशासन में इस सर्वोपरिता को समझने में राजा को कानून के प्रति रूख में परिवर्तन से सहायता मिली। चूंकि जो कानून अभी तक सार और स्वरूप में धार्मिक व नैतिक थे उनसे क्रमश: ये तत्व निकलते गये और वे अधिकाधिक धर्म निरपेक्ष होते गये इस कारण विध्यात्मक (Positive) कानून (राजा द्वारा निर्मित कानून) का विकास हो रहा था। गुप्त काल में राजा ने विभिन्न धर्मों के एक दूसरे के प्रति रुख को विनियमित किया और उसने आदेश दिया कि उनके बीच आपसी शत्रुता न हो और धर्मों के प्रति सहिष्णुता का व्यवहार हो। धर्म द्रोह (धर्म का अतिक्रमण) भी राजा की

५ सिन्हा एच. एन. - सावरूटी इन ऐन्शियेन्ट इंडिया पॉलिटी, इन्ट्रोडक्शन, पृष्ठ १-३

सत्ता के अधीन आ गये। अत: प्राचीन भारतीय राज्य में प्रभुता राजा की प्रभुता थी, जो चक्रवर्ती था, धर्म प्रवर्तक था, युग निर्माता था, मानव रूप में देव था, जल और स्थल का स्वामी था और विधि और न्याय का स्रोत था। परंतु ऐसा होते हुये भी वह समाज पर अधिनायक सत्ता का प्रयोग नहीं कर सकता था।[६]

पी. राममूर्ति के अनुसार, "प्रभुता साधारणतया राजा में निहित थी जो राज्य का प्रतिनिधित्व करता था। आंतरिक दृष्टि से अपने देश में राजा की सर्वोपरि सत्ता थी, बाह्य क्षेत्र में वह अन्य राजाओं से स्वतंत्र था। यह बात यथार्थ में भारत के बारे में सच थी, जहां तक की उसके अनुभव मूलक पहलू का संबंध है प्रभुता स्वयं में कई तत्वों से मिलकर बनी थी।"[७] एम. वी. कृष्णराव का भी कथन है - "कि राजा अपने राज्य क्षेत्र में सबसे ऊपर पूर्ण सत्ताधारी था और वह सिवाय अपने द्वारा आरोपित कानूनों के किसी के द्वारा नियंत्रित न था।"[८] यथार्थ में धर्म को (कानून के रूप में) इसीलिये माना जाता था कि उसके पीछे राज्य की दण्ड शक्ति थी। कहने का तात्पर्य यह हुआ कि राज्य की सत्ता धर्म के ऊपर थी। परंतु अधिकतर हिन्दू विचारकों का मत इससे भिन्न है; इस प्रकार से धर्म को ही प्रभु अथवा राजा (व राज्य) के ऊपर सर्वोपरि मानते हैं। डॉ. वी. पी. वर्मा के मतानुसार - "प्राचीन भारत में धर्म अथवा नैतिक कानून की प्रभुता का विचार पाया जाता था। हिन्दू राजनीतिक विचारकों ने माना है कि प्राचीन भारत में धर्म की प्रभुता थी।" कुछ लेखकों ने 'धर्म' का अर्थ 'विधि या कानून' से लिया है और वे यह मानते हैं कि 'विधि की प्रभुता' के विचार को प्राचीन हिन्दू स्वीकार करते थे। धावन के अनुसार - प्राचीन भारत में राज्य के कार्य धर्म में परिवर्तन करना नहीं बल्कि उसे स्थिर रखना था। डॉ. राधाकृष्णन का मत है - "कि धर्म उन सभी संस्थाओं के योग का प्रतिनिधित्व करता है जिनके द्वारा सामान्य कल्याण को प्राप्त किया जाता था।" बान्धोपाध्याय का विचार है - "कि प्राचीन भारत में राजा कभी भी धर्म के ऊपर नहीं रहा, वे कहते है कि धर्मशास्त्र धर्म अथवा विधि को राजा और समाज के ऊपर मानते हैं।" जयसवाल ने मनु का निर्वचन करते हुये कहा है - "कि विधि अर्थात धर्म ही वास्तविक प्रभु है, न कि राजा।"[९]

धर्म की प्रभुता के विचार का समर्थन डॉ. मुखर्जी[१०] ने किया है - "चंद्रगुप्त मौर्य के ऊपर अपने प्रसिद्ध ग्रंथों ने उन्होनें कहा - हिन्दू विचारों के अनुसार तो विधि के रूप में धर्म राज्य का सच्चा प्रभु है। राजा कार्यपालिका है, जिसे दण्ड कहते हैं और जो आध्यात्मिक प्रभु के रूप में धर्म के आदेशों को स्थिर रखता है तथा उन्हें लागू करता है।" प्रभुता के विषय में डॉ वर्मा ने आगे कहा है- धर्म की प्रभुता के प्रश्न का दो स्वरों पर विवेचन किया जा सकता है - पहले ऐतिहासिक दृष्टि से हमें ऐसा साक्ष्य नहीं

---

६ सिन्हा एच. एन. - दा डवलपमेट आफ इंडियन पॉलिटी, पृष्ठ - १२३
७ राममूर्ति पी. - दा प्राबलम आफ इंडियन पॉलिटी, पृष्ठ - ३१५
८ कृष्णराव एम. वी. - स्टेडीज इन कौटिल्य, पृष्ठ - १२७ -२८
८ कृष्णराव एम. वी. - स्टेडीज इन हिन्दू पॉलिटिकल थॉट एण्ड इट्स मेथाफि टिकल, फ ाऊ ण्डेशन, पृष्ठ -१३६-३७
९ वर्मा वी. पी.-स्टेडीज इन हिन्दू पॉलिटिकल थॉट एण्ड इट्स मेथाफि टिकल, फ ाऊ ण्डेशन, पृष्ठ - ४९
१० मुखर्जी आर. के. - चंद्रगुप्त मौर्या एण्ड हिज टाईम्स, पृष्ठ - ४९

मिलता कि प्राचीन भारत में ऐसा कोई राजा था जहां धर्म अथवा उसके आदेशों को प्रभु समझा जाता था। दूसरा - जहां तक विचारात्मक दृष्टि का प्रश्न है, हम पहले ही अस्वीकार कर चुके है कि प्राचीन भारतीय विचारक प्रभुता के क्रमबद्ध और अमूर्त विचार को रखते थे। राजा की शक्ति अथवा राजा के दण्ड की बात, किंतु उन्होनें किसी अंतिम राजनीतिक प्रभु की संकल्पना नहीं की थी। परंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि प्राचीन भारत में प्रभुपूर्ण राज्य न थे।[११]

इस विषय पर अल्तेकर का मत अधिकांशत: सत्य और माननीय है। वह लिखतें हैं - आजकल जिसे हम सर्वोच्च सत्ता कहते हैं, उसकी ठीक कल्पना प्राचीन काल में न थी। अर्थशास्त्र में इस विषय पर स्वामित्व शब्द का प्रयोग आता है लेकिन उसका संबंध राजा के व्यैक्तिक अधिकारों से था, न कि शासन सत्ता से। .... सिद्धांत की दृष्टि से यह माना गया था कि धर्म राजा से परे है, वह उसका अनादर नहीं कर सकता। वह उसके अधीन है। अत: धर्म को हम एक दृष्टि से शासन सत्ता का सर्वोच्च अधिष्ठान मान सकते हैं। किंतु हमारे विचारकों ने धर्म को ठुकराने वाले राजा का प्रतिवाद या नियंत्रण कैसे किया जाना चाहिये इसका कुछ दिग्दर्शन नहीं किया है इसीलिये धर्म को शासन सत्ता का अंतिम अधिष्ठान समझना उचित होगा।

यह सत्य है कि प्राचीन भारत में प्रभुत्वपूर्ण राज्य थे और प्रभुता अधिकांशत: राजा में निहित थी। परंतु राजा के अधिकार असीमित न थे यद्यपि उसके ऊपर कोई कानूनी या संवैधानिक रोक न थी। फिर भी राजा की सत्ता पर कई प्रकार की सीमाएँ थी। सर्वप्रथम धर्म अथवा धार्मिक कानूनों की। दूसरा, राजा दण्डधर अवश्य था और वह अन्य सभी को दण्ड दे सकता था; किंतु वह स्वयं भी अदण्ड्य न था ऐसा करने से वह स्वेच्छाचारी न हो सकता था स्वेच्छाचारी, अत्याचारी राजा को प्रजा गद्दी से उतार सकती थी और ऐसे राजा का वध भी किया जा सकता था। वास्तव में दण्ड एक दुधारी तलवार की भांति था, जो दोनों ओर से वार कर सकती थी। एक ओर तो दण्ड के भय से समाज (राज्य) में शांति और व्यवस्था रहती थी, दूसरी ओर राजा भी अपने अधिकारों का प्रयोग न्यायपूर्वक अथवा धर्म व दण्ड के भय से करता था अतएव वी. के. सरकार -[१२] के अनुसार - "दण्डधर की सम्भावित निरंकुशता पर प्रभुता विषयक हिन्दू सिद्धांत में यह एक तर्क पूर्ण रोक थी।" राजा की प्रभुता पर अन्य सीमाओं में हम इन्हें भी सम्मिलित कर सकते हैं -

प्रभु को न्याय के अनुरूप कार्य करने होते थे।

प्रभु को सामाजिक प्रथाओं रीतियों का आदर करना होता था, क्योंकि प्रथाओं और रीतियों को धर्म का अंग समझा जाता था।

---

११ वर्मा वी. पी.-स्टेडीज इन हिन्दू पॉलिटिकल थॉट एण्ड इट्स मेथाफिटिकल, फाऊण्डेशन, पृष्ठ-१३७-३८

१२ सरकार वी. के. - दा पॉलिटिकल इन्स्टीट्यूशनस एण्ड थियोरीज़ ऑफ दा हिन्दूज, पृष्ठ -२०३

प्रभु वर्ण धर्म (जाति व्यवस्था) का पालन करता और कराता था।

वह सभी कार्य प्रजा के योग क्षेम अर्थात उसकी सुरक्षा और कल्याण की दृष्टि से करता था। राजा केवल धर्म कर ही लगा सकता था और राजा को जनता का सेवक समझा जाता था। राजा राज्य के सात अंगो में से एक था; अधिक से अधिक शक्तिशाली राजा को अन्य अंगों की शक्तियों का ध्यान रखना पड़ता था। ऐसा करना राजधर्म व राज्य क संगठनात्मक स्वरूप के अनुसार आवश्यक था।

वेदों में राजा की प्रभुता का वर्णन अनेक स्थानों पर प्राप्त होता है ऋग्वेद में एक स्थान पर कहा गया है कि देवों का राजा इंद्र सर्वत्र निर्भय होकर भ्रमण करता है,सारे लोक इसके नियम से चलते हैं कोई भी इसके नियम का उल्लंघन नहीं कर सकता।

त्वं हि ष्या च्यावयन्नच्युता न्येको वृत्रा चरसि जिघ्नमान: ।[१३]

तव द्यावापृथिवी पर्वतासोऽनु व्रताप निमितेव तस्थु: ॥

इस मंत्र से ज्ञात होता है कि राजा के ऊपर कोई ऐसी शक्ति नहीं थी जो राजा को नियंत्रित कर सके, उसकी आज्ञा का पालन प्रत्येक व्यक्ति को करना पड़ता था। अन्यत्र ऋग्वेद में ही कहा गया है, कि ये वीर तेजस्वी तथा अच्छा आचरण रखने वाले हैं, ये स्वयं शासित हैं, इन पर किसी की प्रभुता स्थापित नहीं है।

प्र ये दिवो वृहत: शृण्विरे गिरा सुशुक्वान: सुम्व एवयामरूत्।

न येषामिरी सधस्थ ईष्ट आँ अग्नयो न स्वविद्युत: प्र स्पन्द्रासो धुनीनाम् ॥[१४]

अर्थात राजा स्वतंत्र है, उस पर अन्य किसी की प्रभुता स्थापित नहीं है। इस मंत्र से यह भी ज्ञात होता है कि इन पर किसी की प्रभुता स्थापित न होने से ये स्वच्छंद नहीं होते, बल्कि आत्मशासित रहते हैं। ऋग्वेद के अनुसार[१५] जिस रथ के घोड़े जिस तरफ जाते है उसी तरफ रथ के पहिये भी जाते हैं। उसीं तरह जिधर देवराज इंद्र चाहता है, उधर ही सारा विश्व जाता है। यह सारा विश्व इंद्र के शासन में ही चलता है। उसी प्रकार राजा के आदेश से सारा राज्य संचालित होता है। उसे संपूर्ण राज्य की सीमाओं के अंतर्गत प्रभुता प्राप्त होती है और उसके आदेश अनुलंघनीय होते हैं। इस प्रकार प्रजा रूपी रथ का संचालन राजा रूपी धोड़े पर निर्भर करता है।

इस प्रकार वैदिक काल से ही राजा की प्रभुता के सूक्ष्म सिद्धांतों का प्रस्फुटन हो चुका था और विकास की परंपरा के साथ ही पाश्चात्य देशों में इस सिद्धांत का और विकसित रूप देखने को मिलता है।

---

१३ ऋग्वेद, ३.३०.४

१४ ऋग्वेद, ५.८७.३

१५ ऋग्वेद, ८.६.३८,

राजा में प्रभुता का समावेश :-

प्राचीन भारत में प्रभुता राजा में समाविष्ट थी और शाही प्रभुता राज्य की सत्ता का प्रतीक थी। प्राचीन भारतीय वाङ्मय में राजा को विभिन्न देवों का अंश माना गया है कई विद्वानों का मत है कि देवों की भांति ही राजा में सम्पूर्ण प्रभुता का समावेश होता है। कौटिल्य का मत है कि राजा प्रभुसत्ता का नैतिक और कानूनी मूर्तरूप है; वह मुख्यकार्यपालिका अध्यक्ष है और वही सेना का अध्यक्ष है। राज्य का प्रशासन पूर्णतया उसी के विवेक पर निर्भर करता है और न्याय प्रशासन भी उसी के हाथों में रहता है। राजा के अनेक विशेषाधिकार हैं जिनमें मुख्य निम्न हैं; राजा अदण्ड्य है, अर्थात उसके ऊपर किसी का अधिकार क्षेत्र नहीं है, वह अन्य करों से मुक्त है, उत्तराधिकारी के अभाव में सम्पत्ति पर उसी का अधिकार है; पृथ्वी के गड़े धन पर राजा का अधिकार है; उसे न्यायालय में साक्षी के रूप में बुलाया जा सकता है, और समाज में उसे सबसे ऊँचा स्थान प्राप्त है।

मौर्य काल में भी राजा को प्रभुता प्राप्त थी, राजा स्वयं ही प्रशासन का अध्यक्ष अथवा सबसे बड़ा अधिकारी था, जिसे सिद्धांत में मुख्य कार्यपालक कह सकते हैं। वही कानून निर्माता और सर्वोच्च न्यायाधीश था। सम्राट (राज्य) ही सत्ता का केन्द्र था, क्योंकि सेना और कोष उसी के आधीन थे। तब प्रजा को राजा की आज्ञा का पालन करना आवश्यक था।

गुप्त वंशीय राजाओं ने वही प्रशासन प्रणाली जारी रखी जो मौर्यकाल में विकसित हो चुकी थी। गुप्त वंश के शासकों की उपाधि 'महाराज' थी। मौर्यकाल की भांति राज्य का अध्यक्ष राजा ही होता था, जिसे कभी-कभी पूर्वगामी राजा ही नामनिर्देशित कर दिया करता था। उस काल में राजा के देवत्व की कल्पना बहुत अधिक प्रिय हुई। 'लोकधाम्नः देवस्य' अर्थात भूतल निवासी देव कहकर समुद्रगुप्त का वर्णन किया गया है, और 'लोकपाल' अर्थात दैवीय संरक्षक कहकर राजा का। किंतु देवत्व के कारण राजा को निरंकुश होने का अधिकार प्राप्त होता है, ऐसी धारणा नहीं थी। अपने में देवत्व के होते हुये भी राजा के लिये वृद्ध सेवा करना व योग्य शिक्षा पाना अत्यंत आवश्यक था। शिलालेखों में अधार्मिक, प्रजापीड़क व अहंमन्य राजाओं की कड़ी आलोचना की गई है। यह सच है कि शासन विषयक, सेना विषयक व न्याय विषयक सब अधिकार राजा में केन्द्रित थे।[१६] इसी प्रकार कौटिल्य ने राजा को कुछ सीमाओं के अधीन रखा है। राज्य के आधारभूत कानून और संस्थायें राजा के ऊपर हैं। राजा समाज के अन्य महत्वपूर्ण कार्यों में हस्तक्षेप नहीं कर सकता। राजा के लिये व्यक्तियों के स्वधर्म अर्थात आचार और नैतिकता के परंपरागत नियमों और वर्णाश्रय धर्म को बनाये रखना आवश्यक है। परंतु समय के साथ-साथ राजा की शक्तियों तथा अधिकारों में वृद्धि होती गई।

---

१६ चौधरी-राय एच. सी., पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्शियेन्ट इंडिया, पृष्ठ - ५५९

शतपथ ब्राह्मण में कुछ विचारकों ने मत व्यक्त करते हुये कहा है कि यदि राजा धर्म के अनुसार बर्ताव नहीं करता, तब भी उसे दण्ड नहीं मिलना चाहिये। क्योंकि वह दण्ड से परे है। उसके धर्म भंग करने पर केवल परमेश्वर ही स्वर्ग में दण्ड दे सकता है।[१७]

मनु ने कहा है कि मामूली मनुष्य को जिस अपराध के लिये एक पण दण्ड होता है, वहां राजा को एक हजार पण दण्ड होना चाहिये, मगर यह दण्ड कौन देगा इस विषय में मनु कुछ नहीं कहते। मनु के टीकाकार कहते है कि राजा स्वयं ही अपने को दण्डित करे व जुर्म की रकम ब्राह्मणों को दे या पानी में फेक दे चूंकि वहां दण्डकर्ता वरूण रहता है। मनु प्रणीत यह उपाय कल्पना मात्र है। उसे वास्तविक सृष्टि में कार्यान्वित करना कठिन है। यह बात सत्य है, कि यदि राजा का जुल्म असहनीय हो जाये, तो उसके खिलाफ बगावत करने की या उसे मार डालने की स्पष्ट सूचना कहीं कहीं मिलती है। किन्तु प्रत्यक्ष व्यवहार में उसको कार्यान्वित करना कठिन था। वैसे तो ग्राम सभाएँ अपने क्षेत्रों में प्राय: सार्वाधिकार सम्पन्न थी व जुल्मी करों के देने में ग्रामवासियों की ओर से इन्कार करती थी। अदालतें भी धर्मशास्त्रों के नियमों के अनुसार या जातिधर्म, श्रेणीधर्म या जनपद धर्मों के अनुसार न्याय दान करती थी न कि राजा के आदेशानुसार। किंतु राजतरंगिणी से ज्ञात होता है कि सर्वसत्ताधारी दुष्ट राजा इन दोनों के अधिकार छीनकर अपने मनमाने शासन को चला सकता था। ई. सन् ४०० से आगे सर्वोच्च शासनाधिकार राजा के हाथों में केन्द्रित रहते थे; कोई भी उससे जवाब सवाल नहीं कर सकता था; वह किसी भी प्रकार के वैधानिक नियमों से नियंत्रित नहीं था। मनु का कहना है कि वह जो दण्ड है वही राजा है, वही मनुष्य है, वही नेता कार्यकर्ता है वही चारों वर्णों का शिक्षक कहा गया है। दण्ड ही सम्पूर्ण प्रजाओं का शिक्षक है, वही सम्पूर्ण प्रजाओं का रक्षक है। सबके सो जाने पर दण्ड ही सबकी रक्षा हेतु जागता है। समाज में अराजकता, अनाचार, दुराचार, आतंक एवं शोषण को समाप्त करने के लिये ईश्वर ने राजा को पृथ्वी पर भेजा है और दण्ड शक्ति से विभूषित किया है। इस शक्ति को पाकर राजा ने सामाज में सुव्यवस्था कायम की। दण्ड से भय की उत्पत्ति होती है। 'बिन भय होय न प्रीत'। राजभक्ति की उत्पत्ति भी भय से ही होती है। राजा की शक्ति अपने क्षेत्र में सर्वोपरि होती है। उसकी शक्ति दण्ड में निहित होती है। मनु कहते है कि दण्ड राजा की प्रभुसत्ता का प्रतीक होता है। प्रभुसत्ता दण्ड में निहित होती है। राजा दण्ड के प्रयोग से ही तेजोमय होकर एकक्षत्र शासन करता है। दण्ड के भय से ही समस्त प्रजा राजओं का पालन करती है तथा शत्रु उससे आतंकित होता है। दण्ड के भय से सभी लोग अपने अपने कार्य में लगे रहते हैं तथा एक दूसरे के कार्य में हस्तक्षेप नहीं करते हैं। जिस देश में दण्ड की प्रधानता रहती है, उस देश में धर्म का वास होता है एवं प्रजा सुखी जीवन व्यतीत करती है। दण्ड ही धर्म है और धर्म ही दण्ड है। बिना दण्ड के धर्म का तथा बिना धर्म के दण्ड, राजा, समाज आदि का कोई अस्तित्व संभव नहीं है। राजा की दण्ड

---

१७ शतपथ ब्राह्मण ५.४.७

की अभिव्यक्ति उसकी चतुरंगिणी सेना तथा उसकी अन्यायियों, अत्याचारियों एवं शत्रुओं का दमन करने की शक्ति होती है। दण्ड से ही राज्य में शान्ति एवं सुव्यवस्था कायम रहती है। आसुरी शक्तियाँ उभरती नहीं, निर्बल और अशक्त भी सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं; अराजकता एवं क्रांति दबी रहती है।[१८]

मनु राजा की प्रभुता के विषय में आगे कहता है कि दण्ड धारण करने के कारण ही एक व्यक्ति राजा बनता है। दण्ड ही वह सूचक है अथवा वह चिन्ह है जिससे साधारण व्यक्ति एवम् राजामें अंतर स्थापित किया जा सकता है। दण्ड की शक्ति धारण करने के पश्चात ही राजा अपने कर्तव्यों और दायित्वों का पालन कर सकता है।[१९] वस्तुत: दण्ड राजशक्ति का प्रतीक है जिसे हम प्रभुसत्ता कह सकते हैं। वर्तमान राजनीतिक मनीषियों ने जिसे आज प्रभुसत्ता की अवधारणा कहा है, उसे मनु दण्ड का नाम देते हैं।[२०]

दण्ड की शक्ति को स्वच्छंद छोड़ना खतरे से खाली नहीं है। अत: मनु कहते है कि राजा द्वारा दण्ड का सम्यक् प्रयोग किया जाना चाहिये। राजा को विवेक द्वारा एवं संतुलित होकर दण्ड नियमों की व्याख्या एवं उनको प्रयोग करना चाहिये। मनु के विचार से राजा विधि का निर्माता नहीं बल्कि उसका व्याख्याकार है। राजा दण्ड से ऊपर नहीं होता इस प्रकार दण्ड का प्रयोग करते समय उसे विधिवेत्ताओं, ब्राह्मणों और विद्वानों से परामर्श करना चाहिये।[२१]

इस प्रकार राजा प्रभुसत्ता सम्पन्न व्यक्ति होता है मनु राजा को ही दण्ड देने का अधिकार देते हैं क्योंकि राजा सत्यवादी, शास्त्रोक्त कार्य करने में चतुर तथा धर्म, अर्थ तथा काम को जानने वाला है। अत: उसे ही दण्ड देने का अधिकार है लेकिन यदि राजा इसके विपरीत आचरण करता है। राजा असत्यवादी, छली, दुष्कर्म करने वाला है तो उसका नाश अवश्यम्भावी है।[२२]

शुक्र के मतानुसार राज्य के सप्तांग (स्वामी, आमात्य, सुहृद, कोष, राष्ट्र, दुर्ग और बल) इनमें राजा ही प्रधान है। राज़ा ही राज्य रूपी शरीर का सिर तथा राज्य रूपी वृक्ष का जड़ होता है। यदि राजा नहीं होगा तो प्रजा वैसे ही नष्ट हो जाएगी जैसे बिना नाविक के नाव नष्ट हो जाती है।[२३] राजा यमराज के समान दुष्ट को दण्ड देने वाला, अग्नि के समान शुद्ध जल से सबका पोषण करने वाला जलरूपी राजा, धन धान्य से संपुष्ट करने हेतु वरूण के रूप में राजा जनता के सुखों एवं कल्याण की अभिवृद्धि करता है।[२४]

---

१८ मनुस्मृति, ७.२६
१९ मनुस्मृति, ७.२८
२० मनुस्मृति, ८.१५
२१ मनुस्मृति, ८.१२८
२२ मनुस्मृति, ७.२७
२३ शुक्रनीति, १. ६४-६५
२४ शुक्रनीति, ४.६०-७५

अनेक प्राचीन विचारकों का मानना है कि राजा पृथ्वी पर ईश्वर का अवतार होने के कारण सर्वोच्च सत्ता है ईश्वर का अवतार होने के कारण वह शक्तिशाली तथा सम्पूर्ण राज्य सत्ता का स्रोत है। इसी आधार पर शुक्र ने राजा के विषय में मत व्यक्त करते हुये कहा है कि राजा का निर्माण आठ प्रकार के देवताओं - इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरूण, चंद्रमा, कुबेर इन आठ देवांशो से मिलकर हुआ है। राज्य संचालन के लिये इन आठ देवताओं की आवश्यक्ता होती है। शुक्र का मानना है कि इन आठ देवताओं के अंश होने के कारण तथा अपने तप के प्रभाव से राजा सभी प्राणियों का स्वामी होता है, तथा अपने अंश का भोगने वाला राजा रक्षा में प्रवीण, स्वर्ग के इंद्र के समान होता है।[२५]

यजुर्वेद में राजा को विराट् पुरूष का प्राण माना गया है। ऋग्वेद में उसे इंद्र और वरूण के नाम से अभिहित किया है और अथर्ववेद[२६] में उसकी पुष्टि की गई है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार राजा प्रजापति का प्रतिनिधि है। मनुस्मृति में इंद्रादि के अंश से राजा की सृष्टि वर्णित है। इंद्रादि आठ लोकपालों के नित्य अंश से उसकी रचना हुई है। देवांश का तात्पर्य स्पष्ट करते हुये कहा गया है कि राजा विभिन्न देवों के समान आचरण करता है, वह इंद्र के समान अपनी प्रजा में इष्ट पदार्थों की वृष्टि करता है; सूर्य के समान राष्ट्र से कर लेता है; वायु के समान दूतों द्वारा सबमें प्रवेश करता है, यम सदृश अपराधियों का नियंत्रण करता है और चंद्र के समान प्रजा हेतु सुखदायी होता है। मनु ने तो यहां तक कहा है कि यह मनुष्य ही तो है, ऐसा मानकर बालक राजा का भी अपमान नहीं करना चाहिये, क्योंकि वह राजा के रूप में दैवी शक्ति है।[२७] महाभारत एवं शुक्रनीति में इसी बात का समर्थन किया गया है। सोमदेव के अनुसार राजा परमदेव है, इसीलिये गुरूजनों से भी नमस्कार का अधिकारी होता है साधारण मनुष्यों का तो कहना ही क्या है। एक दूसरे स्थान पर कहा है - कि राजा का किसी दशा में अपमान नहीं करना चाहिये, क्योंकि (मंत्री, कोष, सेना, आदि से हीन होने पर भी) छात्र तेज धारण किये हुये सत्पुरूष रूप में राजा महती देवता ही होता है। सोमदेव ने राजा को तीन देवों की साक्षात् मूर्ति माना है। राजा ब्रह्मचर्य व्रत के अंतर्गत सब विद्याओं को धारण कर लेने से ब्रह्मा हो जाता है। राज्याभिषेक होने पर राजा का राजलक्ष्मी सौंप दी जाती है, और इस प्रकार वह लक्ष्मीपति हो जाता है। वह लक्ष्मीपति होकर प्रजारंजन कार्य में लगने से विष्णु कहलाता है। अपने विशेष प्रताप से राजा राष्ट्र-कण्टको एवं राज्य के शत्रुओं को उसी प्रकार भस्म कर डालता है जिस प्रकार कि महादेव दुष्टों और पापियों को भस्म कर डालते हैं। इसीलिये राजा महादेव है। परंतु सोमदेव ने राजा का देवत्व उसके दिव्य आचरण पर आधारित किया है; परिस्थितियों के अनुरूप समय समय पर राजा विभिन्न देवों का रूप धारण करता है। कालिदास ने कहा है - संसार के प्रशासन

२५ शुक्रनीति, ४.१२.४०

२६ अथर्ववेद, १.५.८-४

२७ मनुस्मृति, ७.४-७, ९.३०४-७ और ७८

का जुआ सृष्टिकर्ता (ईश्वर) ने राजा के कंधों पर रखा है। यदि राज्य में कोई कमी रहती है तो राजा उसके लिये दोषी है। सूर्य, वायु, पृथ्वी का भार उठाने वाले शेषनाग और राजा इन चारों को कभी अवकाश प्राप्त नहीं होता। ऋग्वेद[२८] में केवल एक ही राजा पुरूकुत्स को अर्धदेव की संज्ञा प्रदान की गई है। पुरूकुत्स का पुत्र त्रसऽदस्यु कहता है कि "देवलोक वरूण की शक्ति पर निर्भर है, किंतु मैं लोगों का राजा हूँ, मैं इंद्र एवं वरूण, मैं विशाल एवं गंभीर स्वर्ग एवं पृथ्वी हूँ। मैं अदिति का पुत्र हूँ।" पी. वी. काणे के अनुसार[२९] - "यहां पर राजा अपने को वैदिक देवों में सर्वश्रेष्ठ देवों के समान कहता है।" अथर्ववेद में - "राजा परीक्षित को मर्त्यों का देवता कहा गया है।"

आ त्वाहार्षमन्तरभूर्ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलत्।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रृशत्॥
इहैवैधि माप च्योष्ठा: पर्वत इवाविचाचलत्।
इन्द्र इवेह ध्रुवस्तिष्ठेह राष्ट्रमु धारय॥[३०]

अर्थात "हे राजा ! तुम्हें सभी लोग चाहें, तुम्हारे हाथों में से राज्य न लिया जा सके, तुम इन्द्र के समान इस संसार में स्थिर रहो एवं तुम राज्य धारण किये रहो।" प्रस्तुत अंश से निष्कर्ष निकलता है कि राजा में इंद्र का सा पराक्रम अपेक्षित था।

मौर्यकाल के पतन के बाद ब्राह्मणवाद का उदय हो रहा था। धार्मिक विधि और विचारों के उत्तोत्तर बढ़ने वाले प्रभाव से ब्राह्मण काल में ऐसा वातावरण बनने लगा था जिसमें राजा के देवत्व की भावना पनप रही थी। युद्ध में विजय इंद्रदेव की कृपा का फल कहा जाता था और इंद्र की उपाधियाँ भी राजा को धीरे धीरे लगाई जाने लगी राज्याभिषेक के समय पुरोहित कहते थे कि भगवान सविता के आदेश पर ही अभिषेक किया जाता है .... । ऐसा माना जाता है कि अभिषेक के समय राजा के शरीर में अग्नि, सविता और बृहस्पति देवता प्रवेश करते हैं। अश्वमेघ और वाज़पेय द्वारा राजा को मृत्यु के बाद देवता पद प्राप्त होता है यह धारणा थी। अत: ब्राह्मणवाद में राजा के व्यक्तित्व को देवत्व और उसकी सत्ता को दैवीय अधिकार प्रदान किया गया है।[३१] वैदिक काल के पश्चात जिस समय राजाओं में आपस में युद्ध होने लगे। इस प्रकार इस काल को ब्राह्मण काल कहा जाता है।

---

२८ ऋग्वेद ४.४२१
२९ काणे पी. वी. -धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-२, अनुवादक अर्जुन चौबे कश्यप, पृष्ठ ५९२
३० अथर्ववेद - ६.८७: १-२
३१ सिन्हा एच. एन. - दा डवलपमेट आफ इंडियन पॉलिटी, पृष्ठ - १६३-६४

ईसा की प्रथम शताब्दी के अन्दर जबकि कुषाण राज्य स्थापित होने का आया तो इस राजा के दैवत्व की भावना को अधिक बल प्राप्त हुआ इस वंश के राजाओं ने अपने को "देवपुत्र" तक कहा है। उन्होंने अपने राज्य की मुद्राओं में अपने को देवी-ज्योति से अलंकृत करके प्रदर्शित किया है। इस प्रकार से इस समय राजा को देवता मानने की भावना काफी प्रसारित हो चुकी थी। राजा के देवत्व का समर्थन अनेक स्मृतियों में किया गया है मनु ने लिखा है :-[३२]

यस्मां देषां सुरेन्द्राणां मात्राभिनिर्मतोनृप: ।
तस्मादभिवत्येष सर्वभूतानि तेजसा ॥

इस उक्ति से आशय यही है कि राजा नररूप में साक्षात् देवता है। आठों दिशाओं में आठ दिक्पालों का अंश लेकर ब्रह्मा ने उसके शरीर की रचना की थी। विष्णु पुराण में भी राजा को दैवीय माना गया है जिसका स्पष्टीकरण निम्नांकित पंक्तियों से हो जाता है :-

ब्रह्मा जनार्दनो रूद्रो इंद्रो वायुर्यमों रवि: ।
हुतवारूणो धाता पूषा भूमिर्निशाकर: ॥
एते चान्ये च ये देवा: शायानुग्रहकारिण: ।
नृपस्यैते शरीरस्था: सर्वदेव भयो नप: ॥

इस श्लोक में आये हुये अनेकों सभी देवता राजा के शरीर में वास करते हैं इस प्रकार का उल्लेख विष्णुपुराण में है। इसी देवत्व की भावना का स्पष्टीकरण बौद्ध के द्वारा भी होता है। इसी समय एक अन्य विचारधारा 'अवतारवाद' का भी उदय हो रहा था। इसके अंदर राजा को ईश्वर का अवतार माना जाने लगा। अनेकों शिलालेखों में इस तरह के प्रमाण मिलते हैं कि गाहलउवाल वंश के राजाओं को ब्रह्म और विष्णु का अवतार बताया गया है इस विचारधारा का काफी समय तक प्रचार रहा। ब्राह्मण ग्रंथों में[३३] राजा को देवत्व प्रदान किये जाने का अनेक स्थानों पर संकेत मिलता है। तत्कालीन धारणा थी कि राजा के राज्याभिषेक के समय उसके शरीर में अग्नि, सविता (सूर्य) और बृहस्पति देवता प्रवेश करते हैं। यह अभिषेक मानव नहीं वरन् (पोषण के देवता) पूषन् एवं अश्विनी कुमार करते थे। जो राजा अश्वमेघ यज्ञ या वाज़मेय यज्ञ करते थे। उन्हे मृत्यु के उपरांत देवता का पद प्राप्त होता था। इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण[३४] में एक स्थान पर उल्लेख है - अधिकांश प्रजा एक राजा की आज्ञा का पालन इसलिये करती थी क्योकि वह उसे देवाधिदेव प्रजापति का प्रतीक समझती थी। वाज़पेय यज्ञ में बाण चलाते समय ऐसा

३२ मनुस्मृति - ८.५
३३ शतपथ ब्राह्मण - १२.४.४.४,३
३४ शतपथ ब्राह्मण - ५:१५.१४

कहा गया है कि "राजन्य (राजा) प्रजापति का है वह अकेला होता हुये भी बहुतों पर राज्य करता है। प्रस्तुत स्थल पर राजा को प्रजापति की संज्ञा दी जा सकती है। प्राचीन भारत में देवत्व संबंधी धारणा के कई विचार अंतर्ग्रस्त है, प्रथम वेदों में ऐसा उल्लेख है कि कुछ देवता स्वयं राजा बने। ऋग्वेद में भी प्रार्थना गीत है जिसमें त्रसदस्यु नाम का राजा अपने को देव कहता है - 'मेरा साम्राज्य दोहरा है, संपूर्ण क्षत्रिय जाति और सभी अमर व्यक्ति हमारे हैं; देवता मुझे वरूण के कार्यों से संबद्ध करते है : मैं मनुष्यों पर शासन करता हूँ। 'मैं राजा वरूण हूँ; मुझे देवताओं ने वे शक्तियाँ प्रदान की है जिनसे असुरों का नाश होता है।' 'मैं इंद्र हूँ, वरूण हूँ, मैं महानता में वह दोनों हूँ। अथर्ववेद में राजा को इंद्र सखा कहा गया है। दूसरे राजा को अभिषेक के बाद प्रभुशक्तियाँ प्राप्त होती हैं। इन यज्ञों को देवताओं की हितकारी शक्तियाँ प्राप्त करने की विधि समझा जाता था ऐसा विश्वास था जिस व्यक्ति की ओर से यज्ञ किये जाते थे जिनसे उसे देवताओं की कृपा प्राप्त होती थी। तीसरा राजा जन्म से देवता है अर्थात उसकी सृष्टि ईश्वर द्वारा हुई। चौथा राजा अपने कार्यों में राजा देवों के समान है। यही विचार सबसे महत्वपूर्ण समझा जाता था। साथ ही धार्मिक राजा में दैवीय गुणों का समावेश रहता है।[३५] यूरोपीय विचारकों ने समझा कि राजपद ईश्वर प्रदत्त है और राजा ईश्वर का प्रतिनिधि । इससे उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि राजा को शासन करने का अधिकार है, चाहे वह बुरा शासन करे। ऐसा करने पर प्रजा उसका कुछ नहीं कर सकती उसका दायित्व केवल ईश्वर के प्रति है। इस सिद्धांत का दावा इंग्लैण्ड के राजा जैम्स प्रथम ने किया था इसके विपरीत भारतीय विचारकों के अनुसार राजा दिव्य गुणों से संपन्न होता है और उसके कार्य श्रेष्ठ ईश्वर के जैसे होते है। प्रजा रक्षण, सम्यक पालन, दुष्टों का संहार, सदाचार की उन्नति, सद्‌गुणों का विकास उसके कर्तव्य हैं। दीक्षितर[३६] ने कहा है - (इंग्लैण्ड के) स्टुअर्ट राजाओं के शासन करने के दैवीय अधिकार से भिन्न राजा की शक्ति के विषय में हिन्दू संकल्पना यह थी कि राजा का ईश्वर द्वारा निर्धारित कर्तव्य प्रजा की रक्षा करना है। प्रमसनाथ बनर्जी का विचार है कि धार्मिक राजाा को ही दैवीय समझना चाहिये। वे कहते है कि राजा देवता नहीं वरन् वह नरदेवता था। राजा का महत्व उसके कार्यों में है वह धर्म को स्थिर रखता है, धर्म का पालन करता है, इस कारण राजा का महत्व है इस प्रकार ऐसा राजा देवता है। डॉ. जयसवाल के अनुसार [३७]- संवैधानिक लेखकों ने दैवीय सिद्धांत को प्रजा की सेवा के दैवीय सिद्धांत में परिवर्तित क्रिया अर्थात राजा प्रजा का सेवक अथवा दास होता है और उसे ब्रह्मा ने ऐसा बनाया है।

---

३५ घोषाल यू. एन. - ए हिस्ट्री आफ इण्डियन पालिटिकल आईडियाज, पृष्ठ २५

३६ वर्मा वी. पी.-स्टेडीज इन हिन्दू पॉलिटिकल थॉट एण्ड इट्स मेथापोलाजिकल, फाऊण्डेशन, पृष्ठ-१८६

३७ जयसवाल के. पी. - हिन्दू पॉलिटी, पृष्ठ- २२६-२७

प्राचीन भारतीय मान्यता में राजा को दैवीय गुणों से युक्त माना जाता था। प्रयाग -प्रशस्ति में समुद्रगुप्त को पृथ्वी पर देव कहा गया है (लोकधाम्नोदेवस्य)। हरिषेण ने समुद्रगुप्त की तुलना यम, कुबेर, वरूण, इंद्र से की है (धनवरुणेन्द्रान्तकसयस्य)। संभवत: गुप्त युग में राजा को देवतुल्य मानने के मूल में यह धारणा रही होगी कि प्रजाजन उन्हें और अधिक सम्मान दें। गुप्त राजाओं की उपाधियों से तत्कालीन सम्राटों के व्यक्तित्व की झलक मिलती है। उदा.- 'समुद्रगुप्त' की उपाधियाँ अप्रतिरथ, कृतान्परशु,अप्रतिवार्य, वीर्य, सर्वराजोच्छेत्ता, व्याघ्रपराक्रम, अश्वमेधपराक्र म, पराक्रमाङ्क , परमदेवत, परमभट्टारक, महाराजाधिराज आदि। इसी प्रकार द्वितीय चंद्रगुप्त की उपाधियाँ थी- श्री विक्रम, सिंह विक्रम, अजित विक्रम, विक्रमाङ्क, विक्रमादित्य उसके पराक्रम की घोतक है तथा परम भागवत उपाधि उसकी विष्णु के प्रति आस्था की प्रतीक है। प्रथम कुमार गुप्त को अन्य उपाधियों के अतिरिक्त महेद्रादित्य कहा गया है। स्कंदगुप्त की विशिष्ट उपाधि क्रमादित्य थी।

इस प्रकार वैदिक काल से लेकर परिवर्ती कालों तक राजा में देवता के अंश होने के प्रमाण प्राप्त होते हैं। इस कारण राजा में प्रभुता का समावेश होता है। यह धारणा वैदिक काल से विद्यमान रही है।

राजा की शक्तियों पर रोक-

प्राचीन भारतीय युग में राजा को विभिन्न प्रकार शक्तियाँ व अधिकार प्राप्त थे और वह अनेक प्रकार के कार्य करता था। प्राचीन भारतीय शास्त्रकार आदर्श राजा उसे ही मानते थे जो अपने जीवन प्रजापालक के लिये न्यौछावर कर दे। परंतु उस युग में जिस प्रकार के सैद्धांतिक एवं व्यवहारिक राजतंत्र की स्थापना की गई थी उससे राजा के निरंकुश हो जाने के पर्याप्त अवसर थे। प्राचीन राजतंत्र एक व्यक्ति या वंश परंपरा पर आधारित शासन था उस समय राजा में देवत्व के सम्मिलन से उसका रूप अतिमानवीय हो गया था। मनुष्य स्वभावत: दुर्बल है और अधिकांश राजाओं से इस उच्च आदर्श के पूरी तरह निर्वहन की आशा हमेशा नहीं की जा सकती अत: महत्वाकांक्षी राजा अपने व्यक्तिगत स्वार्थ की पूर्ति हेतु राज्य शक्ति का दुरूपयोग कर सकता था। कई राजाओं के दुराचरण के ऐसे उदाहरण भी प्राप्त होते है। इन निरंकुश स्वच्छंदतावादी राजाओं की अधीनता से जनकल्याण के स्थान पर प्रजा का शोषण अधिक होने लगा। अत: राज्यतंत्र के इस स्वेच्छाचारी रूप पर अंकुश रखने हेतु भारतीय राजशास्त्र के विद्वानों, विचारकों, प्रणेताओं, आचार्यों द्वारा इस प्रकार के प्रतिबंधों की स्थापना की गई। जिससे राजा का निरंकुश रूप नहीं उभर सकता था। इन प्रतिबंधों का मूल उद्देश्य राजा द्वारा जन कल्याण हेतु अपने जीवन का समर्पण कर देना था।

प्राचीन भारत में राजा निरंकुश तथा स्वेच्छाचारी नहीं था। पाश्चात्य क्षेत्रों में प्राचीन भारतीय राजत्व के बारे में इस प्रकार के विचार मिलते है कि राजत्व निरंकुश था तथा राजा स्वेच्छाचारी तथा अत्याचारी होते थे, बिलकुल निराधार है। सेन ने इसे[३८] स्पष्ट करते हुये कहा है - प्राचीन भारत के हिन्दू लेखकों ने राजत्व जिन विरोधों के बारे में सोचा और जिनके उदाहरण विभिन्न धर्मशास्त्रों, अर्थशास्त्रों, पुराणो, नीतिशास्त्रों में बिखरे हु ए हैं, उन्हें मोटे रूप में दो शीर्षकों के अंतर्गत रखा जा सकता है- (१) निरोधात्मक (२) प्रतीफलात्मक। पहले प्रकार के प्रतिबंध राजा को पतनशील अपना अत्याचारी बनने से रोकते थे और दूसरे प्रकार के प्रतिबंध उन्हें गल्तियों के लिये दण्ड देने वाले थे। प्रथम प्रकार के प्रतिबंधों को आंतरिक और बाह्य में विभाजित किया जा सकता था, तथा बाह्य प्रतिबंधों को आंतरिक और बाह्य में उपविभाजित किया जा सकता था। दूसरे प्रकार के प्रतिबंधों में जुर्मने का दण्ड, गद्दी से उतारा जाना तथा अत्याचारी राजा का वध सम्मिलत थे। इसके अतिरिक्त शिक्षण काल में युवराज को ब्रह्मचारी का जीवन बिताना होता था। कौटिल्य तथा अन्य विचारकों ने इंद्रियों के विजय पर विशेष बल दिया है।

वैदिककाल में राजा की शक्ति समिति द्वारा प्रतिबंधित थी, वेदों में अनेक उद्धरणों से यह ज्ञात होता है कि समिति के प्रतिकूल होने पर राजा का अपने पद पर बने रहना बहुत कठिन हो जाता था। परंतु क्रमशः समिति की शक्ति क्षीण होती गई, और उसके स्थान पर दूसरी किसी लोकप्रिय संस्था की स्थापना न हो सकी। परिणामस्वरूप राजा की निरंकुशता पुनः उभरने लगी। उस पर अंकुश रखने वाले आमात्य वर्ग एवं पुरोहित की नियुक्ति भी राजा द्वारा किये जाने के कारण नियंत्रण प्रभावशाली नहीं होता था। प्राचीन काल में कोई ऐसा न्यायालय नहीं था जो राजा के कार्यों को अवैधानिक घोषित कर सके और ऐसी प्रतिनिधि सभा का भी अभाव था जो कि राजा पर आर्थिक प्रतिबंध लगा सके फलस्वरूप परिस्थितियाँ राजा के निरंकुश होने के अनुकूल थी। परंतु फिर भी भारतीय राजा दुर्गणों से बचे रहे, उन पर जो भी लोकप्रिय और संस्थागत प्रतिबंध लगाये गये राजाओं द्वारा उनका पूर्ण सम्मान किया गया।

प्राचीन भारतीय युग में मानवीय जीवन का प्रत्येक पहलू धर्म से प्रभावित था। राजनीति भी धर्म पर आधारित थी, सामाजिक मूल्यों का आधार धर्म ही था। लोगों के मन में धार्मिक और पारलौकिक दण्ड का भय था, स्वर्ग और नर्क की मान्यता अच्छे और बुरे कर्मों पर आधारित थी। राजा स्वयं धर्म का पालन करता था और अपनी प्रजा से भी धर्म का पालन करवाता था। प्रायः सभी कानूनों का स्रोत धार्मिक ग्रंथ और धर्मशास्त्र थे। राजा को इन्हीं कानूनों के आधार पर शासन कार्य का संचालन करना होता था धार्मिक कानूनों के आधार पर राजा के ऊपर यह प्रतिबंध लगाया गया था कि राजा प्रजा पीड़क न हो सके तथा प्रजा द्वारा दिये गये धन का दुरूपयोग न करे। प्रजा को कष्ट देने वाला राजा पाप का भागी

---

३८ सेन ए. के., स्टेडीज़ इन इंडियन पॉलिटिकल थॉट, पृष्ठ सं ६७

होकर नरक को जाता था। अत: इस भावना से वशीभूत होकर कोई भी राजा धर्म का अनादर नहीं करना चाहता था। धर्म वह प्रभावशाली तत्व था जिससे प्राय: सभी राजा प्रभावित थे।

मनु और याज्ञवल्क्य दोनों ने ही राजा को धर्म के अधीन रखा है और इस बात पर बल दिया है कि राजा सर्वथा प्रजा का पालन व उसकी रक्षा करे। रक्षा , प्रशिक्षण और उसकी दिनचर्या भी उसे स्वेच्छाचारिता अथवा निरंकुशता की ओर जाने नहीं दे सकते। मनु ने राजा को देवांश बताया है किन्तु बल उसके देवत्व पर है न कि उसके अधिकार अथवा चाहें जिस प्रकार शासन करने पर। "राजा चाहे बालक ही हो, इसे मनुष्य मानकर अपमानित नहीं करना चाहिये।" मनु के कथन इस से कुछ विचारकों ने यह अर्थ लिया है कि यह राजा के लिये पूर्ण स्वतंत्रता का विधान है; यह राजा को स्वेच्छाचारी बनाता है; क्योंकि उसके ऊपर कोई नियंत्रण नहीं है। परंतु अन्यत्र मनु ने दण्ड एवं धर्म को ही राजा कहा है। इन दोनों प्रसंगों को सामने रखकर यह तर्क दिया जा सकता है कि मनु ने राजा को निरंकुश राज्य सत्ता प्रदान की है परंतु बाद में असीमित शक्ति का दुरूपयोग होने के कारण मनु ने राजा की असीमित शक्ति को धर्म और दण्ड के अधीन कर दिया।

शिक्षा और संस्कार के उच्च मापदण्डों का भी राजा पर प्रतिबंध होता था। समुचित संस्कार और शिक्षा के अभाव में राजाओं का स्वेच्छाचारी होना स्वाभाविक था। प्राचीन भारत का सामाजिक एवं शैक्षणिक स्तर काफी उच्च श्रेणी का था। शिक्षा एवं संस्कार व्यक्ति के चरित्र को सम्हालने वाले थे अत: बाल्यकाल से ही राजकुमारों की शिक्षा एवं संस्कारों की समुचित व्यवस्था पर प्राचीन राजशास्त्रियों ने गंभीरतापूर्वक विचार किया है। क्योंकि तात्कालीन राजाओं में यह भावना व्याप्त थी कि उचित शिक्षा और उत्तम संस्कारों के अभाव में राजकुमार निरंकुशता के मार्ग में बढ़ेगे। अत: अपने दायित्यों के पूर्ण निर्वहन हेतु समुचित शिक्षा और ज्येष्ठ संस्कारों की व्यवस्था की जाती थी। जो राजा के स्वेच्छाचारी रूप पर प्रतिबंध का काम करते थे। अल्तेकर का कथन है - राजा को विजयी, शांत, सदाचारी और धार्मिक होना चाहिये, उसे वाणी में मधुर, व्यवहार में शिष्ट, गुरूजनों की आज्ञा का पालन करने में उत्सुक, सत्संगति का प्रेमी और लोकमत का ध्यान रखने वाला होना चाहिये। शिक्षा और संस्कार द्वारा उपर्युक्त गुणों का बीजारोपण जिस राजा में किया जा चुका है वह कदापि अपने कर्तव्य का उल्लंघन करने वाला और प्रजा का पीड़ा देने वाला नहीं हो सकता। हिन्दू राज्यशास्त्र के अनुसार- [३९] राजा की स्वेच्छाचारिता पर परोक्ष रूप से रोक लगाने के लिये गुरू और मंत्रियों की मंत्रणा थी। राजा से यह अपेक्षा भी की जाती थी कि वह अपने गुरू के उपदेशों पर ध्यान देगा तथा उनका पालन करेगा। राजा यदि गुरू की अवज्ञा करता है तो नरक का भागी होता है। इस प्रकार की धारणा उस समय जनता में प्रचलित थी।

---

३९ त्यागी एण्ड भाटिया, हिन्दू राजशास्त्र, पृष्ठ ६०-६१

वैदिक काल में राजा का निर्वाचन विश: प्रजा द्वारा होता था। उत्तर वैदिक युग तक निर्वाचन प्रथा समाप्त हो गई, किंतु युवराज या उत्तराधिकारी की नियुक्ति के समय प्रजा की अनुमति भी अनिवार्य थी। जिन्हें प्रजा चाहती थी, और जिन्हें प्रजा का संपूर्ण समर्थन प्राप्त होता था। अयोग्य राजपुत्रों को उत्तराधिकार से वंचित कर दिया जाता था। प्रजा किसी भी मूल्य पर राजा के अत्याचार सहन नहीं करती थी। प्राचीन वैदिक युग में अनेक अत्याचारी राजाओं को पदच्युत करने और अनके वध के प्रमाण मिलते हैं। शुक्र के अनुसार[४०] जनता अत्याचारी राजा को चेतावनी दे कि यदि तुम अपना व्यवहार नहीं बदलते तो हम तुम्हारा राज्य छोड़कर दूसरे सुशासित राज्य में चले जायेंगे।

अधर्मशीलो नृपतिर्यदा तं भीषयेज्जनः।

धर्मशीलातिबलव द्रिपोराश्रयत: सदा॥

उन्हें आशा थी कि प्रजा के राजत्याग द्वारा कर की हानि के डर से राजा में कुछ परिवर्तन हो जायेंगे। पर यदि वह इस पर भी न सुधरे तो प्रजा उसे गद्दी से उतार कर उसके कुल के किसी गुणवान व्यक्ति को उसके पद पर बिठा सकती थी।[४१] इतना ही नहीं यदि और कोई उपाय न रह जाये तो महाभारत ने स्पष्ट शब्दों में अत्याचारी राजा के वध की अनुमति दी है।

अरक्षितारं हर्तारं विलोप्तारमनायकम्।

तं वै राजकलिं हन्यु: प्रजा संनह्यनिर्घृणम्॥[४२]

जनता की क्रोधाग्नि में भस्म होने वाले राजाओं में राजावेन, नहुष, सुराद एवं सुमुख के नाम उल्लेखनीय हैं। जातकों में अनेक कथाओं में ऐसे प्रमाण मिलते है जिसमें अत्याचारी राजाओं को प्रजाओं द्वारा मार दिया जाता था।[४३] ऋग्वेद में एक स्थान पर कहा गया है - जो राजा आर्यवंशीय होने पर भी आचार से भ्रष्ट हो जाएँ, उन्हें मारना ही चाहिये।

उत त्या सद्य आर्या सरयोरिन्द्र, पारत:। अर्णाचित्ररथावधी:॥[४४]

डॉ. जयसवाल के अनुसार - राजा को अपने व्यय के लिये वेतन रूप में विहित धनराशि दी जाती थी। राजा अपराधियों के सिवाय किसी भी प्रजाजन का स्वामी न था, संविधानिक दृष्टि से वह सेवक होता था। राजनीतिक दृष्टि से प्रजा का स्वामी था और उसकी उपयोगिता अन्य सभी से अधिक थी। उसकी उपयोगिता और सेवा का त्याग को देखते हुये महाभारत में उसे 'सर्वधर्मपरं क्षात्रं लोकश्रेष्ठं

४० शुक्रनीतिसार, ४.१.३

४१ शुक्रनीतिसार, २.२७४-५

४२ महाभारत, १३.८६.३५-६

४३ द्रष्टव्य, 'सच्चंकिर' और 'पदकुसल-मानव' जातक।

४४ ऋ ग्वेद, ४.३०.१८

सनातनम्' कहा गया है अर्थात सदैव ही समाज में सब धर्मों से बढ़कर राजधर्म है। राजा प्रजा के हितों का थाती था और उसका कार्य भी पुरोहित जैसा नहीं था।[45] कौटिल्य ने भी कहा है कि जनता के कोप के कारण राजाओं का वध किया गया - "प्रायशः कोपवशाः राजानः प्रकृतिकोपैः हताः श्रूयन्ते।" महाभारत में भी कहा गया है कि जो राजा मूर्खता से अपनी प्रजा पर अत्याचार करता है उसे शीघ्र ही उसके जीवन और राज्य से वंचित कर दिया जाता है। अन्यत्र ऋग्वेद में एक मंत्र में राजनीति का पाठ देते हुये कहा गया है, जो राष्ट्र द्रोही है वे चाहे कितने भी ज्ञानी क्यों न हों, वृद्ध हो अथवा कितने भी पूज्य हों तो भी उनका नाश करना ही चाहिये। अर्थात राजा पर भी यही नियम लागू होता था।

अध श्रुतं कवषं वृद्धमप्स्व नु द्रुह्यं नि वृणग्वज्रबाहुः।
वृणाना अत्र सख्याय सख्यं त्वायन्तो ये अमदन्नु त्वा॥[46]

इस प्रकार राजा की निरंकुशता पर पर्याप्त सीमा तक प्रजा द्वारा नियंत्रण किया जाता था। वैदिक काल में सभा एवं समिति जैसी प्रतिनिधि संस्थाएँ थी, पुरोहित, मंत्री राजा के परामर्शदाता होते थे। ये सभा एवं समितियाँ भी राजा की स्वेच्छाचारी शक्तियों पर पर्याप्त अंकुश रखती थी। अथर्ववेद में राजा का सबसे बड़ा संकट उस समय माना गया है जब समिति से उसका विरोध हो जाता था।

न वर्षं मैत्रावरूणं ब्रह्मज्यमभि वर्षति।
नास्मै समितिं कल्पते न मित्रं नयते वशम्॥[47]

वैदिक काल में अभिषेक के समय राजा को शपथ लेनी होती थी। साथ ही विभिन्न देवताओं से वह प्रार्थना करता है एवं आर्शीवाद लेता है कि वह सभा एवं समिति द्वारा अपदस्थ न किया जाए। ड्रेकमिरर के मतानुसार- राजा की निरंकुशता पर एक व्यवहारिक रोक यह थी कि शासन सत्ता को पुरोहित के कार्यों से अलग रखा जाए। राधाकुमुद मुखर्जी के अनुसार[48] वैदिक कालीन राजा की एक क्षत्र-शक्ति की कुछ रोकथाम करने वाली दो सार्वजनिक संस्थाएँ थी, सभा और समिति जिनके द्वारा जनता के हित से संबंध रखने वाली महत्वपूर्ण बातों में, यहां तक कि स्वयं राजा के चुनाव में भी जनता की इच्छा प्रगट होती थी। वेदोत्तर काल में राजा का पद मुख्यतः दण्डधर का होता था, अर्थात वह धर्म या कानून के स्थापना और जनता को उसके अनुसार चलाने के लिये शासक मात्र था।

---

४५ जयसवाल के. पी. हिन्दू पॉलिटी, पृष्ठ - ३३९-४२

४६ ऋग्वेद, ७.१८.१२

४७ अथर्ववेद, १५.१९

४८ मुखर्जी राधाकुमुद, (अनुवादक वासुदेव शरण अग्रवाल), हिन्दू सभ्यता पृष्ठ ४८.१६१

मौर्यकाल[४९] में भी राजकार्य में परामर्श देने के लिये मंत्री परिषद की सत्ता थी वही कौटिल्य अर्थशास्त्र की मंत्री परिषद् है। इस मंत्री परिषद् की नियुक्ति न तो निर्वाचन से होती थी, न ही वंशानुक्रम इसके सदस्य होते थे अपितु परिषद के सदस्यों की नियुक्ति राजा अपनी स्वेच्छा से करता था। और उसकी सलाह से कार्य करता था। पर यदि राजा कुपुथगामी हो जाये, राज्यकार्य की सर्वथा उपेक्षा कर ऐसे कार्य में लंग जाये जिससे प्रजा का अहित हो तो मंत्रियों को और आमात्यों को यह अधिकार था कि वह उसके विरूद्ध उठ खड़े हो और उसे ठीक मार्ग पर लाने का प्रयत्न करे।

शुक्र के मतानुसार[५०] यह सच है कि राजा की शक्तियों पर कोई सीमाएँ अथवा प्रतिबंध नहीं लगाये गये है, अत: राजा का शासन अनियंत्रित अथवा निरंकुश हुआ किंतु यह स्वेच्छाचारी एवं अत्याचारी नहीं होना चाहिये। शुक्र ने मंत्रियों और सभासदों से मंत्रणा और परामर्श के सिद्धांत पर विशेष बल दिया है। सभासद एक अर्थ में जनमत का प्रतिनिधित्व करते हैं। और इसके अतिरिक्त शासन कार्य विभिन्न प्रमुख अधिकारियों, अध्यक्षों तथा राजकर्मचारियों को सौपें जाने चाहिये। इस प्रकार सत्ता का सौपा जाना भी निरंकुशता पर बड़ा प्रतिबंध है। उसने यह भी कहा है कि राज्य कि विनियमों को व्यापक रूप से प्रसारित किया जाना चाहिये। शुक्र ने न्याय के प्रशासन में भी जनता को कुछ भाग प्रदान किया है। कौटिल्य की भांति शुक्र ने राजा की दिनचर्या को भी महत्व दिया है। उसके लिये राजकर्मचारियों की देखरेख एवं राज्य का दौरा भी आवश्यक बताया है। मंत्रणा प्रणाली के अंतर्गत राज्य के आज्ञा पत्र तैयार करते समय भी राजा स्वैच्छाचारी नहीं हो सकता, उसे आज्ञापत्र जारी करने से पूर्व मंत्रियों से परामर्श भी करना आवश्यक था।

राजा पर अभिषेक के माध्यम से भी नियंत्रण रहता था। अभिषेक के समय वह एक शपथ ग्रहण करता था कि वह प्रजा के प्रति अपेक्षित कर्मों को पूरा करेगा। उसे प्रजापालन की प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी और यह एक अनिवार्य उपक्रम था। राजा के अभिषेक के समय उसका अनुमोदन कुछ ऐसे व्यक्तियों से प्राप्त किया जाता था, जिन्हें राजकृत: कहा गया है अथर्ववेद[५१] में इनका वर्णन प्राप्त होता है। इनमें रथकार, कर्मकार, राजन:, राजकृत:, सूत्र और ग्रामणी आदि सम्मिलित थे। राजकृत: राजा पर बड़ा प्रभाव रखते थे और शत्रुओं के विरूद्ध राजा के लिये उनका समर्थन अतिआवश्यक था। राजकृत: की स्वीकृति या उनके द्वारा वरण हो जाने के पश्चात ही राजा का अभिषेक होता था। इस अवसर पर राजा देश की रक्षा और अभ्युदय करने के लिये प्रतिज्ञा करता था। इस प्रतिज्ञा के विरूद्ध आचरण करने पर राजा

---

४९ विद्यालंकार सत्यकेतु, प्राचीन भारत, पृष्ठ २७४

५० बेनी प्रसाद, थियोरी आफ गवर्नमेंट इन ऐन्शियेंट इंडिया, पृष्ठ - ३५८-६०

५१ अथर्ववेद, ३.५

को पदच्युत किया जाता था। अथर्ववेद में एक राजा के बहिष्कृत होने का वर्णन मिलता है तथा अथर्ववेद[५२] में एक स्थान में स्वराज्य में राजा के पुन:स्थापन संबंधी मंत्र हैं। अथर्ववेद के एक मंत्र में राजा के राज्य से बहिष्कृत होकर दूसरे क्षेत्र में विचरने का और अपनी प्रजा विरोधियों से पुन: आछूत होकर स्वागत पाने का उल्लेख है। अथर्ववेद में एक बार सिंहासन से उतारे हुये राजा के पुन: वरण किये जाने का भी उल्लेख है।

ब्राह्मणकाल में राजा राज्यपद पर दीर्घअवधि अथवा अनुवांशिक रूप से आवस्थित रहता हुआ भी प्रजा की अनुमति से राज्य शासन का संचालन करता था। प्रजा द्वारा दी गई सम्मति का उसको सम्मान करना होता था। राज्याभिषेक के बाद भी एक निश्चित अवधि के बाद राजा को पुनरभिषेक के माध्यम से प्रजा की अनुमति प्राप्त करनी होती रहती थी।[५३] इस प्रकार अनुमति प्राप्त किया हुआ राजा प्रजा के ऐश्वर्य और आधिपत्य को प्राप्त कर लेता था।[५४] प्रजा को राजा के अनुकूल रखने का प्रयत्न किया जाता था। इसके लिये धर्म का आश्रय लिया जाने लगा था और राजा में दैवीय गुणों का विद्यमानता प्रजाजनों में प्रचारित की जाने लगी थी। धार्मिक समुदाय के प्रतिनिधित्व के रूप में पुरोहित इस कार्य में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता था।[५५]

राजा के स्वेच्छाचारी होने पर उसको सत्ता से पदच्युत कर दिया जाता था। इंद्र के विषय में प्रोक्त है कि जब उसने स्वेच्छाचारिता की, समाज के विशिष्टजनों और अपने गुरू का अपमान किया तो देवों ने उसका राजपद छीनकर उसको सोमपान के अधिकार से वंचित कर दिया।[५६] इसी प्रकार अत्याराति में जब अपने पुरोहित सत्यहव्य से छल किया तो उसको सत्ताच्युत किया गया।[५७] सत्ताच्युत रज्ञा पुरोहित की सहायता से पुन: राज्यपद को प्राप्त कर लेता था।[५८]

विकेन्द्रीकरण के प्रसार द्वारा भी राजा की शक्तियों पर नियंत्रण रखा गया। तथा प्राचीन शासन व्यवस्था में विकेन्द्रीकरण की ओर हर संभव प्रयास किया गया अल्तेकर के अनुसार - यह नहीं समझना चाहिये कि प्राचीन भारतीय विचारकों ने सब कुछ नरक के भय से लोकमत के प्रभाव या विद्रोह की संभावना पर ही छोड़ दिया था। उन्होंने ग्राम, नगर, प्रादेशिक पंचायतों और सभाओं को शासन के

---

५२ अथर्ववेद, ३.३.१ से ६

५३ ऐतरेय ब्राह्मण, ३७.१.७

५४ ऐतरेय ब्राह्मण, ३७.५

५५ ऐतरेय ब्राह्मण, २९.५, ऐतरेय ब्राह्मण, ४०.२

५६ ऐतरेय ब्राह्मण, ३५.२

५७ ऐतरेय ब्राह्मण, ३९.९

५८ ऐतरेय ब्राह्मण, ३७.६

व्यापक अधिकार देकर और विविध कार्य सौंपकर शासन के विकेन्द्रीकरण मात्र का प्रतिपादन नहीं किया बल्कि उसे व्यवहारिक रूप भी दे दिया। ये समस्त संस्थाएं जनता के सक्रिय सहयोग से कार्य करती थी। करारोपण के क्षेत्र में ग्राम सभाएँ जिन्हें एकत्रित करना चाहती थी वही कर वसूले जाते थे और उस सम्पत्ति का प्रयोग प्रजा के कल्याण में होता था। ये प्रशासनिक संस्थाएँ न्याय के क्षेत्र का भी दायित्व वहन करती थी जिससे राजा अत्याचारी नहीं हो पाता था। ग्रामों के अधिकारी वेतनभोगी कर्मचारी न होकर उनका पद और अधिकार वंश परम्परा पर आधारित था।अत: केन्द्रीय सत्ता के साथ विरोध अथवा संघर्ष की स्थिति में स्थानीय हितों के समर्थन होते थे। इस प्रकार व्यवहारिक रूप से विकेन्द्रीकरण की व्यवस्था स्वेच्छाचारी राजा पर एक शक्तिशाली प्रतिबंध था।

संक्षेप में यह कहना उचित है कि प्राचीन भारत में शासन पद्धति सीमित राजतंत्र थी। राजा की सत्ता पर विभिन्न रोकें लगी थी। राजा को शास्त्रों में विदित कानूनों (धार्मिक नियमों) और देश की प्रथाओं मे समाविष्ट कानूनों का पालन करना पड़ता था। प्रशासन के व्यवहारिक कार्य में वह अपने मंत्रियों से मार्गदर्शन पाता था जिनका समाज में महत्वपूर्ण स्थान था और जो राज्य में वास्तविक शक्ति का प्रयोग करते थे। इनके अतिरिक्त राजाओं पर ब्राह्मण वर्ग का प्रभाव था, जिन्हें जनता समाज के स्वाभाविक संरक्षक समझती थी। इन रोकों के रहते हुये, राजा के लिये यह बड़ा कठिन था कि वह देश के प्रशासन में अपनी मनचाही कर पाता। कभी-कभी अशोक व हर्षवर्धन जैसे शक्तिशाली व सक्षम शासकों के अंतर्गत, शासन देखने में पिता जैसी स्वेच्छाचारिता थी परंतु शायद ही कभी हुआ हो कि राजा की शक्ति पूर्णत: निरंकुश थी। राजा तो यह सोचता था कि शास्त्रों में एक प्रकार का राजनीतिक संविधान व नैतिक कानून भी समाविष्ट था, अत: प्राचीन भारत की शासन पद्धति को संवैधानिक राजतंत्र कह सकते हैं।[५९]

अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि राजा अपने कर्तव्यों का पालन नहीं करता था तो उसे गद्दी से उतार दिया जाता था।[६०] यदि वह अपने दोषों को स्वीकार करके प्रायश्चित करता था तो उसको पुन: गद्दी पर बैठाया जाता था। इसी प्रकार अथर्ववेद में पदच्युत राजा का पदारूढ होने के लिये प्रयत्न करने का उल्लेख है।[६१] तैत्तिरीय संहिता, शतपथ ब्राह्मण आदि में भी अपने खोये हुये राज्य और ऐश्वर्य की पुन: प्राप्ति के लिये प्रयत्न करने का वर्णन है।[६२]

---

५९ बेनर्जी पी. एन., पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन इन एन्शियेन्ट इंडिया, पृष्ठ ४६

६० अथर्ववेद, ३.८.२

६१ अथर्ववेद, ८.१०

६२ तैत्तिरीय संहिता, २.३.१; शतपथ ब्राह्मण १२.९.३.३

मनु का कहना है कि राजा धर्माधीन होता है। वह निरंकुश न बन सके इसके लिये मनु ने राजा पर अंकुश रखने की व्यवस्था का उल्लेख मनुस्मृति में किया है। मनुस्मृति के अनुसार राजा पर 'व्रत' का अंकुश होता है। 'व्रत' राजा की स्वेच्छाचारिता पर एक अंकुश है। 'व्रत' का अर्थ है सामान्य दृष्टि से संकल्प की दृढ़ भावना रखना, पर मनु ने यहां पर राजा के लिये व्रत का अर्थ प्रजापालन, दुष्ट अपराधियों को दण्ड देना आदि बताते हैं। उसके औचित्य का तर्क देते हुये उन्होंने कहा है कि प्राणी मात्र के रक्षक, आत्मा से उत्पन्न, ब्रह्म तेज से निमित्त दण्ड का सृजन ईश्वर ने किया है। दण्ड सम्पूर्ण प्रजा का शासन करता है, सबके सो जाने पर दण्ड जागता है।[६३] उसके भय से चोर चोरी नहीं करते हैं और विद्वान लोग दण्ड को धर्म मानते हैं। राजा दण्ड का प्रयोग करने का अधिकारी है पर यह उसका अनुचित प्रयोग नहीं कर सकता।[६४] मनु राजा को निरंकुश, स्वेच्छाचारी एवं मनमानी करने के लिये स्वतंत्र नहीं छोड़ना चाहते है अत: उन्होंने दण्ड व्यवस्था के लिये राजा को परामर्श दिया है कि वह न्यायालय में कुल-धर्म, जातिधर्म, देश धर्म तथा धर्म की प्रतिष्ठा करे जिससे न्यायाधीश दण्ड देते समय अपना निर्णय उपर्युक्त धर्मों के अनुकूल बनाने का प्रयत्न कर सके।[६५]

इस प्रकार से हम उस स्थिति पर पहुंच आते है, जहां कि यह स्पष्ट हो जाता है कि पाश्चात्य एवं भारतीय विचारधाराएँ पूर्णत: पृथक पृथक हैं। पाश्चात्य एवं भारतीय विचारधारा राजा को सर्वोच्च शक्ति बतलाते हुये उसको मनमाने ढंग से कार्य करने का अधिकार प्रदान करती है और प्रजा को भी किसी भी स्थिति में राजा का विरोध करने का अधिकार नहीं है। सर्वप्रथम इग्लैंड के स्टुअर्ट वंशीय राजाओं ने इस सिद्धांत का सूत्रपात किया था। भारत में तो ईश्वर से ही सारी सृष्टि को उत्पन्न समझा जाता है। परंतु भारतीय विचारधारा राजा का अंधाधुंध रूप में अनुकरण करने को नहीं कहती। मनु का विचार है, कि वही राजा अपने पद पर कायम रह सकता है जो कि अपनी प्रजा की सर्वांग उन्नति के लिये प्रयत्नशील रहता हो। इस सिद्धांत के अनुसार राजा स्वेच्छाचारी नहीं बन सकता था। इस कारण राजा के पद को दैवीय माना जाता था न कि राजा को। इस प्रकार से पाश्चात्य एवं भारतीय विचारधाराओं में महान अंतर है। परंतु फिर भी अतिप्राचीन सर्वप्रथम वैदिक काल में राजा की निरंकुशता पर प्रतिबंध रखने वाली समिति नामक संस्था का उल्लेख हमें वेदों से प्राप्त होता है।

□□□

---

६३ मनुस्मृति, ७.१८

६४ मनुस्मृति, ७.४४ से ५१

६५ मनुस्मृति ८.४१

अध्याय ९

उपसंहार

प्राचीन भारतीय राजनीति तथा शासन दो प्रणालियों से संचालित रहे हैं - राजतंत्र एवं प्रजातंत्र। राजतंत्र में शासक का आधिपत्य होता था तो प्रजातंत्र में प्रजा की इच्छा सर्वोपरि होती थी। प्राचीन भारत में दोनों ही प्रणालियों का उपयोग किया गया, परंतु राजतंत्र का ही मुख्यत: बोलबाला रहा और समय समय पर स्थापित प्रजातांत्रिक प्रणालियों को राजतंत्र ने आत्मसात कर लिया।

प्राचीन भारत का सम्पूर्ण इतिहास मुख्यत: राजतंत्र का ही इतिहास है। राजनीतिक विचारधारा ऋग्वैदिक काल से प्रारंभ होकर विस्तृत होती गई। समय के प्रवाह के साथ भारतीय राजतंत्र में ऐसे आयाम स्थापित हुये जो विश्व की अन्य संस्कृतियों के लिये आदर्श बन गये। परंतु इन आदर्शों का मूल वैदिक साहित्य में है। इसी तत्व को उजागर करने का लक्ष्य प्रस्तुत शोध प्रबंध का रहा है।

पूर्वोक्त अध्यायों में राजतंत्र के विभिन्न पक्षों का अध्ययन कर हमने यह देखा कि राजतंत्र की उत्पत्ति विषयक विभिन्न सिद्धांत, जिसके अंतर्गत निर्वाचन, दैवीय उत्पत्ति, शक्ति सिद्धांत और संविदा सिद्धांत आते हैं, और जिनका खुलकर उपयोग परवर्ती काल में हुआ, के मूल तत्व वैदिक काल में विद्यमान थे। इसी प्रकार विभिन्न प्रकार के राजतंत्र जिनका प्रभुत्व भारत के विभिन्न कालों में रहा और जिसके अन्तर्गत सामंत, माण्डिलक, राजन, महाराजा, स्वराट्, विराट्, सार्वभौम आते हैं, की प्रारंभिक अवस्था हम वैदिक काल में देख सकते हैं।

राजा की शिक्षा, गुण, योग्यता, निवास, रक्षा आदि राजतंत्र का एक महत्वपूर्ण पक्ष है। प्राचीन भारत के सम्पूर्ण इतिहास में इसकी विस्तृत झलक दिखाई पड़ती है और कौटिल्य से लेकर सभी परवर्ती विचारकों ने इन पर अपना मार्गदर्शन दिया। उन्हें जो मार्ग दर्शन प्राप्त हुआ उसके सूत्र किसी न किसी रूप में वैदिक राजनीति में उपलब्ध हैं।

युवराज तथा उत्तराधिकारी राजतंत्र का एक महत्वपूर्ण पक्ष रहा है। राजतंत्रात्मक प्रणाली में युवराज का महत्व वैदिक काल में ही स्वीकार किया गया था। उत्तराधिकारी की नियुक्ति कैसे हो इसकी प्रणाली का विश्लेषण वैदिक साहित्य में उपलब्ध है। उत्तराधिकारी यदि अल्पवयस्क हो तो उसके लिये अभिभावक का चुनाव कैसे हो और राजप्रतिनिधि की नियुक्ति कैसे हो इन सबका विवरण वैदिक साहित्य में उपलब्ध है।

राज्याभिषेक राजतंत्र का एक अत्यंत महत्वपूर्ण अंग था। इस विषय में जितना विस्तृत वर्णन वैदिक साहित्य में उपलब्ध है, वह सम्पूर्ण भारतीय राजतंत्रात्मक साहित्य में नहीं है। वैदिक काल में राज्याभिषेक के समय किये जाने वाले अनुष्ठान और विभिन्न यज्ञ प्राचीन भारत के सम्पूर्ण राजतंत्र के इतिहास के लिये आदर्श और मार्गदर्शक बने रहे।

राजा की शक्तियाँ और उसके कर्तव्य क्या होने चाहिये, इसका सर्वप्रथम दर्शन हमें वैदिक साहित्य में उपलब्ध होता है। प्रजारक्षण, प्रजापालन, कार्यपालिका का संचालन, धर्म का संचालन, न्याय का संचालन, सैनिक प्रबंध, आर्थिक प्रबंधन तथा अन्य कर्तव्य - कोई भी ऐसा पक्ष नहीं है जिस पर वैदिक साहित्य मार्गदर्शन नहीं देता है इन्हीं मार्गदर्शनों के सहारे सम्पूर्ण प्राचीन भारतीय राजतंत्र आगे बढ़ा और राजा की शक्तियों और कर्तव्यों की सीमाओं को बांधकर परिष्कृत राजतंत्र चलाना संभव हो सका।

प्राचीन भारतीय राजतंत्र में राजा की प्रभुता संबंधी विभिन्न सिद्धांत प्रतिपादित किये गये हैं। क्या राजा स्वयं को ईश्वर का प्रतिनिधि मानकर निरंकुश हो सकता था ? हमने देखा कि प्राचीन भारतीय राजतंत्र के इतिहास में राजा के लिये ऐसी स्थिति प्राप्त करना संभव नहीं था उसकी शक्तियों पर प्रतिबंध था और ये प्रतिबंध विभिन्न प्रकार के थे। राजा निरंकुश न हो सके इसका प्रावधान ऋग्वेद ने ही किया। ऋग्वेद में स्पष्ट रूप से उल्लेख है कि यदि राजा राजद्रोही हो जाये, तो भले ही वह ज्ञानी, पूज्य, वृद्ध ही क्यों न हो, उसे राष्ट्र के उच्च पद से अपदस्थ कर देना चाहिये। वैदिक कालीन सभा, समिति जैसी संस्थाएँ, जिनमें मंत्री पुरोहित आदि होते थे, आगामी युगों में आने वाले प्राचीन भारतीय राजतंत्र के आदर्श बने। वेदों द्वारा निर्धारित राज्याभिषेक के समय राजा द्वारा ली गई शपथ, सम्पूर्ण भारतीय राजतंत्र के लिये आदर्श थी और इसका निर्वाह करना प्राचीन भारत के सभी कालों में स्थापित राजतंत्र का कर्तव्य था।

अतः निष्कर्षतः हम कह सकते हैं, कि प्राचीन भारतीय राजतंत्र का मूल आधार वैदिक राजनीति तथा संस्कृति थी। वैदिक काल के पश्चात सम्पूर्ण प्राचीन भारतीय इतिहास में राजतंत्र वेदों द्वारा स्थापित मापदण्डों का अनुसरण करता रहा। वैदिक विचारधारा प्राचीन भारतीय राजनीति में निरंतर प्रवाहित होती रही। समय की परिवर्तनशीलता के अनुरूप वैदिक विचारों को विस्तृत कर, व्याख्या कर, राजतंत्र को सुचारू रूप से संचालित करना, यही वैदिकोत्तर कलीन राजतंत्र का इतिहास है।

❑❑❑

संदर्भ ग्रन्थों की संक्षिप्त सूची

मूल ग्रंथ

ऋग्वेद - संहिता और पद, सायण भाष्य, सम्पादक - एफ मैक्समूलर, द्वितीय संस्करण, १८९०-२.

हिन्दी ऋग्वेद - भाषान्तर और सम्पादक - रामगोविन्द त्रिवेदी प्रयाग, १९५४.

सामवेद - (आंगल अनुवाद) आर. टी. एच. ग्रिफिथ, बनारस, १८९३, सम्पादक टी. वेनफे, लीपक्षिग, १८४८, सत्यव्रत समाश्रमी, कलकत्ता, १८७३.

यजुर्वेद - वाजसनेयि - माध्यन्दिन, शुक्ल यजुर्वेद संहिता, उवट एवं महीधर भाष्य सहित,

सम्पादक - जगदीशलाल शास्त्री, प्रथम संस्करण, वाराणसी, १९७१.

अथर्ववेद - सम्पादक - आर. राथ और डब्ल्यू डी. ह्विटने, बर्लिन, १८५६, सायण भाष्य सहित, सम्पादक एस, पी, पंडित, बम्बई, १८९५-९८.

निरुक्त, व्याकरण, कोष एवं ग्रंथ-सूची

निरूक्त - (दुर्गाचार्य की टीका सहित) सम्पादक - वी. के. राजवाड़े, पूना, १९२१-२६.

निघण्टु तथा निरूक्त - अनुदित, निर्णय सागर, बम्बई, १९३०.

अष्टाध्यायी - सम्पादक, सतीशचंद्र बसु, बनारस १८९७.

महाभाष्य - सम्पादक, कीलहार्न, बम्बई १९०९.

कोष एवं ग्रंथ सूची

अमरकोष - सम्पादक - पंडित शिवदत्त, बम्बई, १९२९.

उपनिषद् कोष - (ए कॉकोर्डेन्स टु दी प्रिंसिपल उननिषद् एण्ड दी भगवत् गीता) जी. ए. जैकब।

धर्मकोष - (उपनिषद् काण्ड)- सम्पादक- लक्ष्मण शास्त्री जोशी, लखनऊ-सतारा, १९४९.

मीमांसा कोष - सम्पादक - केवलानंद सरस्वती, सतारा, १९५६.

हलायुध कोष - (अभिधानरत्नमाला), सम्पादक - जयशंकर सोनी, लखनऊ, १९६७.

वैदिक इण्डेक्स- आर्फ ऐण्ड सब्जेक्ट्स - १-२, ए. ए. मैक्डॉनेल एण्ड ए. बी. कीथ, लन्दन, १९१२.

वेदिक बिब्लियोग्राफी - १-३, आर. एन. दंडिकर. पूना,१९७३-७८.

शब्दकल्पद्रुम- सम्पादक - बरदा प्रसाद वशु एवं हरिचरण बसु, दिल्ली, १९६१

ब्राह्मण ग्रंथ

ऐतरेय ब्राह्मण - (आंगल अनुवाद) सम्पादक - ए. बी. कीथ, एच. ओ. एस. कैम्ब्रिज, १९२०.

कौषीतकी ब्राह्मण - सम्पादक - ई. बी. कावेल, कलकत्ता, १८६१.

जैमिनीय ब्राह्मण- सम्पादक - रघुवीर और लोकेशचंद्र, नागपुर, १९५४.

तैत्तिरीय ब्राह्मण- सम्पादक- राजेन्द्र लाल मिश्र, कलकत्ता, १८५५-७०, माधव भाष्य सहित, कलकत्ता १८४५.

शतपथ ब्राह्मण - सायण एवं हरिस्वामी - भाष्य सहित, बम्बई, १९४० सम्पादक - ए. बेबर, लन्दन, १९२४.

(आंगल अनुवाद) जे. एगलिंग, आक्सफोर्ड, १८८२-१९००.

उपनिषद्

ईशोपनिषद्- निर्णय सागर संस्करण, बम्बई, १९३०.

कठोपनिषद्- निर्णय सागर संस्करण, बम्बई, १९३०.

छान्दोग्य उपनिषद् - निर्णय सागर संस्करण, बम्बई, १९३०.

सम्पादक- ओ.बोहत्‌लिंग, प्जि लीजिंग,१८८९.

सम्पादक- श्रीराम शर्मा, बरेली,१९७२.

तैत्तिरीय उपनिषद्- शांकर- भाष्य सहिति, पंचम संस्करण, आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना, १९२९.

वृहदाण्यक उपनिषद्- निर्यय सागर संस्करण, बम्बई, १९३०, आनन्दाश्रम संस्कृत सीरजी,पूना, १८८९.

मैगायणी उपनिषद्- निर्णय सागर संस्करण, बम्बई.

श्वेताश्वतर उपनिषद्- निर्णय सागर संस्करण, बम्बई, १९३६.

श्रौतसूत्र

आपस्तम्भ श्रौतसूत्र- सम्पादक- आर.गार्वे, कलकत्ता, १८८२-१९०२.

आश्वलायन श्रौतसूत्र- सम्पादक- आर.विद्यारत्न, कलकत्ता, १८६४-७४.

काव्यायन श्रौतसूत्र- सम्पादक- ए.बेबर, लंदन, १८५५.

बौधायन श्रौतसूत्र- सम्पादक- डब्ल्यू.कैलेण्ड, कलकत्ता,१९०४-२३.

शास्त्रायन श्रौतसूत्र- सम्पादक- ए.हिलेब्रान्त,कलकत्ता, १८८६-८९.

गृहसूत्र

आपस्तम्ब गृहसूत्र- सम्पादक- चिन्नस्वामी शास्त्री, बनारस,१९२८.

आश्वालायन गृहसूत्र- सम्पादक- ए.जी.स्टेंगर, लीपझिग,१८६४.

खादिर गृहसूत्र- सम्पादक- महेशदेव शास्त्री एवं एल.श्रीनिवासायार्च, मैसूर, १९१३.

गोभिल गृहसूत्र- सम्पादक- एफ.नादर, १८८४.

मानव गृहसूत्र- सम्पादक- रामकृष्ण हर्षजी शास्त्री, बड़ौदा, १९२६.

धर्मसूत्र

आपस्तम्भ धर्मसूत्र- सम्पादक- जी.बूलर, बम्बई, १८९२,१८९४.
गौतम धर्मसूत्र- सम्पादक- स्टेंगलर, १८७६.
बौधायन धर्मसूत्र- सम्पादक ई.हुल्श, लीपझिग, १८८४.
वशिष्ट धर्मसूत्र- सम्पादक- ए.ए.क्यूरर, बंबई, १९१६.
वाल्मीकि रामायण- सम्पादक- चिन्न स्वामी शास्त्री, मद्रास, १९५८.
महाभारत- मद्रास, १९३४.
अग्निपुराण- सम्पादक- बलदेव उपाध्याय, वाराणसी, १९६६.
गरूड़ पुराण- क्षेयराज श्री कृष्णदास , बंबई, १९०६.
पद्मपुराण- सम्पादक- विष्णु नारायण, पूना, १८९३.
मर्कण्डेय पुराण - वेंकटश्वर प्रेस , बम्बई.
वराह पुराण- सम्पादक- पं. हृषीकेश शास्त्री, कलकत्ता.
वायुपुराण- सम्पादक- राजेन्द्रलाल मिश्र, कलकत्ता, १८८०.
विष्णुपुराण- (आंगल अनुवाद) एच.एच.विल्सन, कलकत्ता, १९६१.
श्रीमद्भगवत पुराण- (अनुवाद) एस.सुब्बाराव, १९२८.
स्कन्दपुराण- क्षेमराज कृष्णप्रेस, बंबई, १९०९.
नारद स्मृति- सम्पादक- मौली, कलकत्ता, १८८५.
मनुस्मृति- सम्पादक- पी.एच. पाण्ड्या, बम्बई, १९१३.
याज्ञवल्क्य स्मृति- सम्पादक- वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री, बृबई, १९२६.
कामन्दक नीतिसार- (आंग्ल अनुवाद) , एम.एम.दत्त, कलकत्ता, १८२६.
पंतजलि योगसूत्र- (अनुवाद) रामप्रसाद, १९१२.
वात्स्यायन कामसूत्र- सम्पादक- गोस्वामी, दामोदर, शास्त्री, बनारस, १९१९.
बृहत्संहिता- (आंग्ल अनुवाद) एन.चिदम्बर अय्यर, मदुरा, १८८४.
शुक्रनीतिसार- (आंग्ल अनुवाद), बी.के.सरकार, इलाहाबाद.

आधुनिक ग्रंथ

आयंगर, एस.के.- इव्यूलूशन आफ हिन्दू इडमिनिस्ट्रेटिव इन्स्टीच्यूशन्स इन साऊथ इंडिया मद्रास, १९३१.
काणे, पुण्डरीक वामन- हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, १-५, पूना, १९३०, १९४१, १९४६, १९५३.
कार्वे, इरावती- किन्शिप आर्गनाइजेशन इन इंडिया, लंदन, १९६५.
कुमार स्वामी आनंद के.- स्पिरिचुअल एथॉरिटी ऐण्ड टेम्पोरल पावर इन दी इण्डियन थियरी आफ गवर्नमेंट. दिल्ली, १९७८.

धर्मसूत्र

आपस्तम्भ धर्मसूत्र- सम्पादक- जी.बूलर, बम्बई, १८९२,१८९४.
गौतम धर्मसूत्र- सम्पादक- स्टेंगलर, १८७६.
बौधायन धर्मसूत्र- सम्पादक ई.हुल्श, लीपझिग, १८८४.
वशिष्ट धर्मसूत्र- सम्पादक- ए.ए.क्यूरर,बंबई, १९१६.
वाल्मीकि रामायण- सम्पादक- चिन्न स्वामी शास्त्री, मद्रास, १९५८.
महाभारत- मद्रास,१९३४.
अग्निपुराण- सम्पादक- बलदेव उपाध्याय,वाराणसी, १९६६.
गरूड़ पुराण- क्षेयराज श्री कृष्णदास ,बंबई, १९०६.
पद्मपुराण- सम्पादक- विष्णु नारायण, पूना, १८९३.
मर्कण्डेय पुराण - वेंकटश्वर प्रेस , बम्बई.
वराह पुराण- सम्पादक- पं. हृषीकेश शास्त्री, कलकत्ता.
वायुपुराण- सम्पादक- राजेन्द्रलाल मिश्र,कलकत्ता, १८८०.
विष्णुपुराण- (आंगल अनुवाद) एच.एच.विल्सन, कलकत्ता, १९६१.
श्रीमद्भगवत पुराण- (अनुवाद) एस.सुब्बाराव, १९२८.
स्कन्दपुराण- क्षेमराज कृष्णप्रेस, बंबई, १९०९.
नारद स्मृति- सम्पादक- मौली,कलकत्ता, १८८५.
मनुस्मृति- सम्पादक- पी.एच. पाण्ड्या, बम्बई, १९१३.
याज्ञवल्क्य स्मृति- सम्पादक- वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री, बृबई, १९२६.
कामन्दक नीतिसार- (आंग्ल अनुवाद) , एम.एम.दत्त, कलकत्ता, १८२६.
पंतजलि योगसूत्र- (अनुवाद)रामप्रसाद,१९१२.
वात्स्यायन कामसूत्र- सम्पादक- गोस्वामी,दामोदर,शास्त्री,बनारस,१९१९.
बृहत्संहिता- (आंग्ल अनुवाद) एन.चिदम्बर अय्यर, मदुरा,१८८४.
शुक्रनीतिसार- (आंग्ल अनुवाद),बी.के.सरकार, इलाहाबाद.

आधुनिक ग्रंथ

आयंगर,एस.के.- इव्यूलूशन आफ हिन्दू इडमिनिस्ट्रेटिव इन्स्टीच्यूशन्स इन साऊथ इंडिया मद्रास,१९३१.
काणे,पुण्डरीक वामन- हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, १-५,पूना,१९३०,१९४१,१९४६,१९५३.
कार्वे,इरावती- किन्शिप आर्गनाइजेशन इन इंडिया,लंदन,१९६५.
कुमार स्वामी आनंद के.- स्पिरिचुअल एथॉरिटी ऐण्ड टेम्पोरल पावर इन दी इग्यिन थिअरी आफ गर्वनमेंट, दिल्ली, १९७८.

गोण्डा जे.- एन्श्येन्ट इंडियन किंगशिप फ्राम दी रेलिजस प्वाइण्ट आफ व्यू, लीडेन, १९६९.

गैरोला,वास्पति- हिन्दू पोलिटिकल थिअरीज, कलकत्ता,१९२३.

जयसवाल काशी प्रसाद- मनु एण्ड याज्ञवलक्य ,कलकत्ता,१९३०.

डनिंग डब्लू .ए.- ए हिस्ट्री आफ पॉलिटिकल थिआरीज : एनसिऐण्ट एण्ड मिडीवल

घोषाल यू.एन.- ए हिस्ट्री श्आफ इंडियन पॉलिटिकल आईडियाज,

ड्रेकनियर- किंगशिप एण्ड कम्युनिटी इन अरली इंडिया ,

शर्मा आर.एस.- पॉलिटिकल आईडियाज एण्ड इन्स्ट्रीट्यूशन इन एनशीयेन्ट इंडिया,

भार्गव पी.एल.- इंडिया इन दी वैदिक ऐज,

वर्मा वी.पी.- वैदिक राजनीति शास्त्र,

बान्धोपाधयाय एन.सी.- डवलपमेंट आफ हिन्दू पॉलिटी एण्ड पॉलिटिकल थिअरीज, आलूम-१.

सिन्हा एच.एन.- दी डवलपमेंट आफ इंडियन पॅालिटी, सावरटी इन एनशियन इण्डियन पॉलिटी

घोषाल यू. एन. - ए हिस्ट्री आफ इंडियन पॉलिटिकल आईडियाज

शर्मा. आर.एस. - एस्पेक्ट्स आफ पॉलिअिकल आईडियाज एण्ड इन्स्टीट्यूशन इन एनशियेंट इंडिया

वर्मा वी. पी. - वैदिक राजनीति शास्त्र

मित्तल सुरेन्द्रनाथ - समाज और राज्य : भारतीय विचार

शेंडे एन. जे. - दी रिलीजन एण्ड फिलासफी आफ दी अथर्ववेद

आचार्य दीपंकर - कौटिल्य - कालीन भारत

पाण्डेय श्यामलाल - कौटिल्य की राजव्यवस्था

प्रसाद बेनी - थ्योरी आफ गर्वनमेंट इन एनशीयेन्ट इंडिया

ड्रेकमीअर चार्ली - किंगशिप एण्ड कम्युनिटी इन अरली इंडिया

बाजपेयी अ. प्र. - हिन्दू राजशास्त्र

मुखर्जी रा. क. - (अनु. वा. श. अग्रवाल), हिन्दू सभ्यता

अलतेकर अ. स. - प्राचीन भारतीय शासन पद्धति

घोषाल यू. एन. - ए हिस्ट्री आफ इंडियन पॉलिटिकल आईडियाज

सेलीटोर बी.ए. - एनशीयेन्ट इंडियन पॉलिटिकल थाट एण्ड इन्स्टीट्यूशन

जयसवाल के. प्री. - हिन्दू पॉलिटी

अयंगर रंगास्वामी के.वी. - राजधर्म

दिकशितार वी. आर. आर. - हिन्दू एण्ड कम्युनिटी इन इयरली इंडिया

अल्तेकर अ. स. - प्राचीन भारतीय शासन पद्धति

लॉ एन. एन. - आस्पेक्ट्स आफ एन्शिऐन्ट इंडियन पॉलिटी

स्पेलमेन जान डब्लू - पॉलिटिकल थ्योरी इन एनशियेन्ट इंडिया

राममूर्ति पी. - दा प्राबलम आफ दा इंडियन पॉलिटी
कृष्णाराव एम. व्ही. - स्टेडीज इन कौटिल्य
सरकार बी. के. - दी पॉलिटिकल इन्स्ट्यूशन एण्ड स्टेट इन इंडियन पॉलिटिकल थाट
सेन ए. के. - स्टेडीज इन हिन्दू पॉलिटिकल थाट
वर्मा वी. पी. - स्टेडीज दन हिन्दू पॉलिटिकल थाट एण्ड इट्स मेथाफिजिकल फउण्डेशन्स
वी. पी. वर्मा. - वैदिक राजनीतिशास्त्र
डार्कमियर चार्लीज - किंगशिप एण्ड कम्युनिटी इन इयरली इंडिया
धर्मा पी. सी. - रामायण पॉलिटी
शेन्डे एन. जे. - दा रिलीजन एण्ड फिलासफी आफ दी अथर्ववेद
दिकशितार वी. आर. आर. - हिन्दू एडमिनिस्ट्रेटिस इन्स्टीट्यूशन
मेक्समूलर एफ. - दा सेकर्ड बुक ऑफ दा ईस्ट, वाईल
महालिंगम टी. वी. - साऊथ इंडियन पॉलिटी
बेनर्जी पी. एन. - पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन इन एनशीयेन्ट इंडिया
शुक्ल देवीदत्त - प्राचीन भारत में जनतंत्र
मिश्रा एस. एन. - एनशीयेन्ट इंडियन रिपब्लिक
शर्मा आर. - इवोल्यूशन आफ इंडियन पॉलिटी
चौधरी रामकृष्ण - प्राचीन भारतीय राजनीति और शासन व्यवस्था
बाजपेयी अ. प्र. - हिन्दू राजशास्त्र
मिश्र एस. एन. - एनशीसेन्ट इंडियन रिपब्लिक
चटर्जी एच. एल. - इन्टरनेशनल लॉ एण्ड इन्टर स्टेट रिलीजन्स इन एनशीयेन्ट इंडिया
मुखर्जी बी. - कौटिल्य कॉन्सेप्ट्स आफ डिपलोमेसी
मुखर्जी टी. वी. - इन्टर स्टेट रिलीजन्स इन एनशीयेन्ट इंडिया
राममूर्ति पी. - दी प्राबलम आफ दी इंडियन पॉलिटी
चौधरी पी. के. - स्टेडीज इन एनशीयेन्ट इंडियन लॉ एण्ड जस्टिश
अन्जारिया जे. जे. - दा नेचर एण्ड ग्राऊन्डस आफ पॉलिटिकल ओबलाइलेशन इन हिंदू स्टेट
पाण्डेय, राजवली - हिन्दू संस्कार, बनारस, १९६९.
बनर्जी पी. एन. - पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन इन एनशिसेन्ट इंडिया, लंदन १९१६.
बेनी प्रसाद - थ्योरी आफ गवर्नमेंट इन एनशियेन्ट इंडिया
बान्धोपाध्याय, एन.सी.- कौटिल्य आर. एन. एक्सपोजिशन आफ हित सोशल एण्ड पॉलिटिकल थ्योरी, कलकत्ता, १९२७.
बान्धोपाध्याय, एन. सी.- डवलपमेंट आफ हिन्दू पॉलिटी एण्ड पॉलिटिकल थ्योरीज
मजुमदार, आर. सी. - कारपोरेट लाईफ इन एनशियेन्ट इंडिया

मिश्र, राजछत्र - अथर्ववेद में सांस्कृतिक तत्व, इलाहाबाद, १९६८.
मिश्र, शिवनंदन - एनशियेन्ट इंण्डियन रिपब्लिक्स, लखनऊ, १९७६.
मुखर्जी, राधाकुमुद - लोकल गवर्नमेंट इन एनशियेन्ट इण्डिया आक्सफोर्ड, १९२०.
राव, विजय बहादुर - उत्तर वैदिक समाज एवं संस्कृति, एक अध्ययन, वाराणसी, १९६६.
वर्मा रामचंद्र (अनु. हिन्दू पॉलिटी) - हिन्दू राजतंत्र, पहला खण्ड,२१.
शर्मा, जे.पी. - रिपब्लिक्स इन एनशियेन्ट इण्डिया, १५०० ई. पू. - ५०० ई. पू. लीडेन १९६८.
शास्त्री, रामशास्त्री - सम्पादक - कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम्, मैसूर, १९१९.
सेलीटोर बी. ए. - एनशियेन्ट इंडियन पॉलिटिकल थाट एण्ड इन्स्टीट्यूशन
हॉप्किन्स, ई. डब्ल्यू - दी सोशल एण्ड मिलिटरी पोजीशन आफ दी रूलिंग क्लास इन एनशियेन्ट इंडिया, वाराणसी, १९७२.

अनुसंधान पत्रिकाओं के लेख

पाण्डेय आर. बी. - ''वैदिक आरिजन आफ इंडियन रिपब्लिक्स'' प्रोसीडिंग्स आफ दी इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस, (पंद्रहवा शेसन), १९५४.
पाण्डेय आर. वी. पार्ले - ''प्रोटो - इण्डयोरोपियन किंगशिप'' एथनोलाजी, (जनवरी १९६६)
फिडरिक
वैशय, ए. एल. - ''एनशिएन्ट इंडियन किंगशिप'', इंण्डिया (२), १९६४.
मुखर्जी, राधाकुमुद - ''इंडिया दी कैडिल लैण्ड आफ डिमॉक्रेसी'', समरी आफपेपर १९(९)
बाजपेयी, राघवेन्द्र - ''शासन विधान के संदर्भो में अराजक'' नागरी प्राचारिणी पत्रिका, १९६७ (२)
बाजपेयी, राघवेन्द्र- ''प्राचीन भारत में लोक राज्य कल्पना एवं स्वरूप'', विश्वज्योति, १४(१), १९६५
शर्मा, आर. एस. - ''रोल आफ प्रापर्टी, फेमिली एण्ड कास्ट इन दी ओरिजन आफ दी स्टेट इन एनशिएन्ट इण्डिया'', जर्नल दी विहार रिसर्च सोसायटी, ३८(१)
शर्मा, आर. एस. - ''दी विदथ'' दी अर्लिएस्ट फॉक - असेम्बली आफ इण्डोआर्यन्स जर्नल आफ दी विहार रिसर्च सोसायटी, ३९(४).
शर्मा, आर. एस. - ''दी वैदिक गण एण्ड दी ओरिजनआफ पोस्ट वैदिक रिपब्लिक्स'' जर्नल आफ दी विहार रिसर्च सोसायटी, ३९(४).
शर्मा, आर. एस. - ''दी अर्ली परिषद्'' प्रोसडिंग्स आफ इंछियन हिस्ट्री कांग्रेस (सोलहवां सेशन)
शास्त्री उयवीर - ''भारतीय साहित्य में लोकराज्य संबंधी विचार'' विश्व ज्योति, १४(१), १९६५.
शास्त्री नीलकंठ - ''दी प्लेस आफ अर्थशास्त्र इन दी हिस्ट्री आफ इण्डियन पॉलिटी'', एनल्स आफ भण्डारकर ओरियेन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, ३४, १९५१.
श्रीवास्त, शैल - ''प्राचीन भारतीय ग्राम्य शासन का प्रमुख अधिकारी - ग्रामणी'', शोध पत्रिका, २२(१), १९७१.

सातवलेकर, एस. डी. - ''वेदों में लोक राज्य की कल्पना'' विश्व ज्योति, १४(१), १९६५
सिन्हा, बी. पी. - आर्गनाईजेशन आफ सिविल सर्विस इन एनशिएन्ट इंडिया डाऊ न टु सेकेण्ड सुच्युरी, ए.डी., पटना युनिवर्सिटी जनरल २०(१), १९६५
सीतारमैय्या, जी. - ''किंगशिप एण्ड प्रीस्टहुट इन एनशिएन्ट इंडिया'' समरी आफ पेपर, (उन्नीसवां सेशन) आल इंडिया ओरिएण्टल कान्फरेन्स, १९५७
सूर्यकांत - ''वैदिक राज्य व्यवस्था'' गुरूकुल पत्रिका, १८(१-२), १९६५
त्रिपाठी, हरिहरनाथ - ''प्राचीन भारत में राज्य और न्याय पालिका संबंध'' प्रज्ञा, ११(१), १९६५


महर्षि महेश योगी वैदिक विश्वविद्यालय ग्रंथालय
क्र. 22457
करौंदी, कटनी (म.प्र.)


महर्षि महेश योगी वैदिक विश्वविद्यालय ग्रंथालय
क्र. 22447
करौंदी, कटनी (म.प्र.)

